संस्कृत-वाङ्मय में मानवाधिकार

अखिल-भारतीय-संस्कृत-परिषद्

लखनऊ - २२६ ०२४

संस्कृत-वाङ्मय में मानवाधिकार

संस्कृत-वाङ्मय
में
मानवाधिकार



अखिल-भारतीय-संस्कृत-परिषद्
लखनऊ - २२६ ०२४

प्रकाशक
अखिल भारतीय संस्कृत–परिषद
'देववाणी–भवन', देववाणी–मार्ग,
अलीगंज, लखनऊ–२२६ ०२४
फोन नं :–०५२२–४०४५२६५

प्रथम संस्करण – २०१३

मूल्य
रू० ६०० (नौ सौ मात्र)

मुद्रकः
प्नार आफसेट
१७, अशोक मार्ग, लखनऊ – २२६ ००१
दूरभाष– ६५३२६६३१६७, ६५४४७६४

संस्कृत-वाङ्मय में मानवाधिकार

सम्पादक–मण्डल

प्रो० रमाशङ्कर मिश्र

प्रो० बृजेश कुमार शुक्ल

प्रो० प्रीति सिन्हा

डॉ० रेणु पन्त

सम्पादक

प्रो० अशोक कुमार कालिया

प्रकाशकीय

उत्तर–प्रदेश के राज्यपाल श्री बी०एल० जोशी जी का अखिल भारतीय संस्कृत–परिषद् पर सदा अनुग्रह रहा है। राज्यपाल श्री बी०एल० जोशी जी ने परिषद् की प्रकृति और उसके उद्देश्यों के आलोक में सुझाव दिया था कि आज विश्व में जिन समस्याओं या मानवाधिकार की चर्चा हो रही है, उसके सापेक्ष संस्कृत–वाङ्मय में क्या प्रावधान है? और संस्कृत–साहित्य का दृष्टिकोण क्या रहा है? ऐसे विषयों पर अध्ययन और शोध की आवश्यकता है।

परिषद् पूर्व में भी गोष्ठियों और राष्ट्रिय–सङ्गोष्ठियों ('संस्कृत और विज्ञान', 'भारतीय तन्त्रशास्त्र के वैदिक आधार' आदि) का आयोजन समय–समय पर करती रही है। महामहिम जी के सुझाव के आधार पर एक द्विदिवसीय राष्ट्रिय सङ्गोष्ठी का आयोजन परिषद् में दिनांक १६ जून २०१० को श्री राज्यपाल जी के उद्घाटन से आरम्भ हुआ, जिसमें देश की मूर्धन्य संस्कृत संस्थाओं के पदाधिकारियों के साथ नये उभरते विद्वानों को इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर विशेषतः दिया गया। यह द्विदिवसीय सङ्गोष्ठी आठ सत्रों में सम्पन्न हुई। इन सत्रों में विद्वानों द्वारा वेद; इतिहास–पुराण; धर्मशास्त्र; अर्थशास्त्र; संस्कृत–काव्य; संस्कृत–वाङ्मय आदि विषयक पैंतीस शोध–पत्रों का वाचन हुआ। प्रयास यह था कि विषय से सम्बद्ध सभी पक्षों पर निबन्ध प्रस्तुत किये जाँय और उन पर चर्चा हो। अपने इस प्रयास में हम कितने सफल हुए, इस विषय में तो सुधीजन और विद्वज्जन ही प्रमाण हैं। फिर भी भविष्य में विषय से सम्बद्ध कुछ अनछुए पक्ष यदि समक्ष आये तो उन पर भी हम इसी प्रकार चर्चा का प्रयास करेंगे।

परिषद् के अध्यक्ष की सत्प्रेरणा से इन सभी विद्वानों के विचारों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित करने की योजना बनाई गयी। सभी ने इसमें यथायोग्य योगदान किया। परिषद् के उपाध्यक्ष प्रो० अशोक कुमार कालिया जी ने सभी मूल सन्दर्भों और वेद के स्वराङ्कनों को सुधारने के साथ ही प्रूफ–संशोधन का कार्य बड़े धैर्य से किया, इसके लिये हम कृतज्ञ हैं।

कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण इसके प्रकाशन में हुए विलम्ब के लिये हमें खेद है। मुद्रक श्रीमन्त प्नार आफसेट के स्वामी, श्री मनीष मेहता, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में पूरा सहयोग किया, के प्रति अपना धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

जितेन्द्र कुमार त्रिपाठी *(मन्त्री)*
अखिल भारतीय संस्कृत–परिषद्, लखनऊ

दो शब्द

जनमानस में सामान्य धारणा है कि संस्कृत भाषा कर्मकाण्ड और धर्म की भाषा है और सामान्य जीवन में इसका सम्बन्ध त्याग और निवृत्ति के लिये ही है। कारण यह है कि जनमानस में संस्कृत के ग्रन्थों का भलीभाँति न तो प्रचलन है और न उपलब्धि और न ही संस्कृत–वाङ्मय में समाहित विषय–वस्तु की समुचित समीक्षा और समकालीन व्याख्या। पुराने आचार्य ऐसा करते रहे हैं। लेकिन दासता की मनोदशा में भारतीय जनमानस को साम्राज्य की भाषा सभी तरह उपयोगी प्रतीत होती है। विदेशी भाषा सीखने में कोई हानि नहीं है। भारतीय सदा से ऐसा करते रहे हैं। लेकिन अपनी मूल संस्कृति एवं भाषाओं से सौतेला–जैसा व्यवहार न तो उचित है और न उपयोगी। परिषद् ने मानवाधिकार पर इसी मन्तव्य को प्रकाशित करने के लिये दो दिवसीय सङ्गोष्ठी का आयोजन किया है।

बीसवीं सदी की मानवाधिकार की भावना दो विश्व युद्धों से उत्पन्न हुई। उसके पूर्व योरोपीय देशों ने जिस प्रकार से उपनिवेश स्थापित किये, वह मानवाधिकार –हनन की अपनी कहानी है। लेकिन अब मानवाधिकार की चर्चा करते समय यथार्थ में मानवाधिकार की भावना और संस्थापना का प्रश्न सामने है। संस्कृत–वाङ्मय इससे भरपूर है। अनेक रत्न इस सागर से स्थापित किये जा सकते हैं; प्रश्न है, उन्हें प्रकट करने का और प्रचलित करने का। महामहिम राज्यपाल, उत्तर प्रदेश श्री बी०एल० जोशी जी ने यही सन्देश दिया है कि संस्कृत भाषा में उपलब्ध विचार–सामग्री और चिन्तन को जन–मानस तक पहुँचाया जाय।

दो दिन की गोष्ठी में महत्वपूर्ण विचार और निबन्ध आये। उन पर चर्चा हुई। ग्रन्थ रूप में प्रबन्धों को प्रकाशित करके परिषद् इन्हें जनमानस तक पहुँचाने का प्रयास कर रही है। आशा है यह ग्रन्थ अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करेगा और उपयोगी सिद्ध होगा।

रमेश चन्द्र त्रिपाठी
अध्यक्ष
अखिल भारतीय संस्कृत–परिषद्
लखनऊ

सम्पादकीय

संस्कृत–भाषा तथा उसमें निबद्ध वाङ्मय विश्व की समृद्धतम और प्राचीनतम धरोहर है; इस विषय में सभी भारतीय तथा विदेशी विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। विशेषता यह है कि इस भाषा में निबद्ध वाङ्मय की प्रासङ्गिकता किसी देश–विशेष अथवा किसी काल–विशेष तक सीमित और सङ्कुचित नहीं है। वस्तुतः इसका प्रभावक्षेत्र सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'** (ऋग्वेद) यद्यपि यह वैदिक सूक्ति किसी अन्य सन्दर्भ में कही गयी है, किन्तु संस्कृत–भाषा और संस्कृत–वाङ्मय के विषय में पूर्णतया चरितार्थ होती है। यही कारण है कि आज २१वीं शताब्दी में भी जब हम नयी–नयी समस्याओं, नये–नये प्रश्नों और नयी–नयी कालिक अपेक्षाओं का सामना करते हैं तो प्रायः पीछे मुड़ कर संस्कृत–वाङ्मय की ओर बड़ी आशाओं और विश्वास से निहारते हैं कि सम्भवतः इस झरोखे से हमें कोई नई दृष्टि और मार्गदर्शन प्राप्त हो जाय।

मानवाधिकार की प्रवर्तमान अवधारणा का स्रोत नितान्त वैदेशिक और आधुनिक है। **'न हि मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'** (महाभारत, शान्ति०, २९६.२०) इन शब्दों के द्वारा मानव की श्रेष्ठता का उद्घोष करने वाले संस्कृत–वाङ्मय की मानवाधिकार जैसी आधुनिक अवधारणाओं और मान्यताओं के विषय में क्या दृष्टि है– यह एक सहज प्रश्न है। क्योंकि ऐसा माना जाता है कि एतद्विषयक संस्कृत–वाङ्मय की दृष्टि ही वास्तविक और मौलिक भारतीय दृष्टि है।

मानवाधिकार की अवधारणा के विषय में भी हमारी यही विचार–धारा है। वस्तुतः आधुनिक भारत ने अनेक विचार, अनेक सिद्धान्त पश्चिम से यथावत् स्वीकार किये हैं। यथा प्रजातन्त्र का प्रवर्तमान स्वरूप आदि। मानवाधिकार भी इसी प्रकार का एक सिद्धान्त है।

उत्तर–प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री बी०एल०जोशी जी विश्व की घटनाओं तथा गतिविधियों से सम्यक्तया परिचित ही नहीं, उनके गम्भीर अध्येता और विश्लेषक भी हैं। इसके साथ ही प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत–वाङ्मय से सुपरिचित होने के साथ ही उसके अच्छे व्याख्याता भी हैं। उन्हीं की प्रेरणा थी कि अखिल भारतीय संस्कृत–परिषद् इस दिशा में कुछ विचार करे, तथा भारतीय जनमानस को संस्कृत–वाङ्मय की इस क्षमता से अवगत करने का प्रयास करें। इसी क्रम में अखिल भारतीय संस्कृत–परिषद के अध्यक्ष श्री रमेश चन्द्र त्रिपाठी जी के सक्रिय मार्ग–निर्देशन में संस्कृत–वाङ्मय में मानवाधिकार को

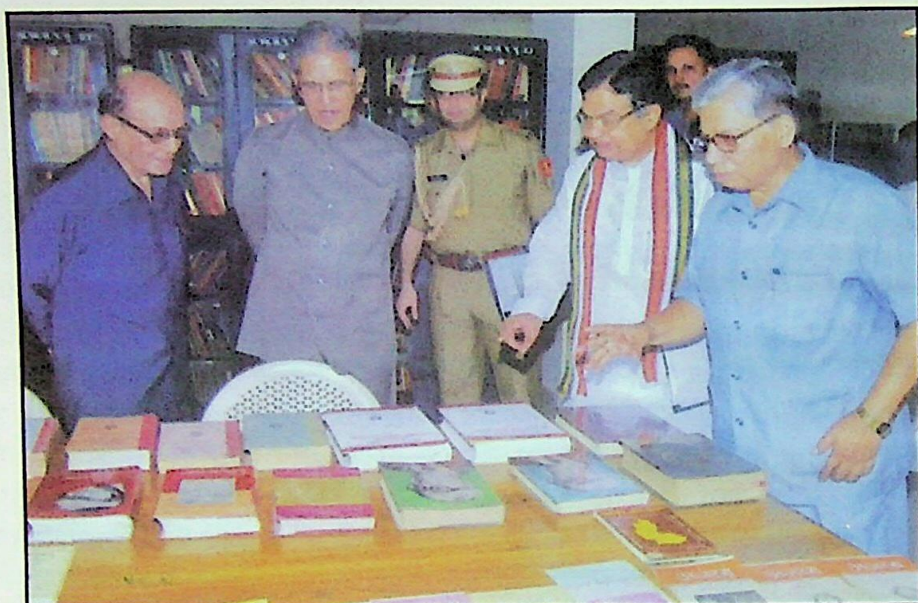
विषय बना कर एक राष्ट्रिय सङ्गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें विषय से सम्बद्ध अनेक निबन्ध प्रस्तुत किये गये। इतने मात्र से अपनी कृतकृत्यता का अनुभव न करते हुए परिषद् ने सङ्गोष्ठी में प्रस्तुत किये गये सभी निबन्धों को प्रकाशित करने की योजना बनाई।

सङ्गोष्ठी में पढ़े गये निबन्धों को प्रकाशित करने का निर्णय महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही साथ दुस्साध्य भी था। परिषद् के पास अनुभव के धनी **ऋतम्** के सम्पादक तथा परिषद् के उपाध्यक्ष प्रो० जगदम्बा प्रसाद सिनहा जैसा व्यक्तित्व था, जिसके बल पर यह कार्य अत्यन्त सरल प्रतीत होता था, किन्तु असमय ही उन्हें कराल काल ने हमसे छीन लिया। ऐसी विषम परिस्थिति में यह कार्य कठिनतर लगने लगा किन्तु हमें प्रसन्नता है कि अखिल भारतीय संस्कृत–परिषद् के अध्यक्ष के निर्देशानुसार एक सम्पादक–मण्डल का गठन किया गया जिसने उस दुस्साध्य और श्रम–साध्य कार्य को अनायास ही पूरा कर दिया। एतदर्थ सम्पादक–मण्डल के सभी सदस्य धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि उनके सक्रिय सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव न हो पाता। प्रूफ–रीडिंग जैसे जटिल कार्य में डॉ० प्रयाग नारायण मिश्र ने प्रभूत योगदान किया है। एतदर्थ उन्हें धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

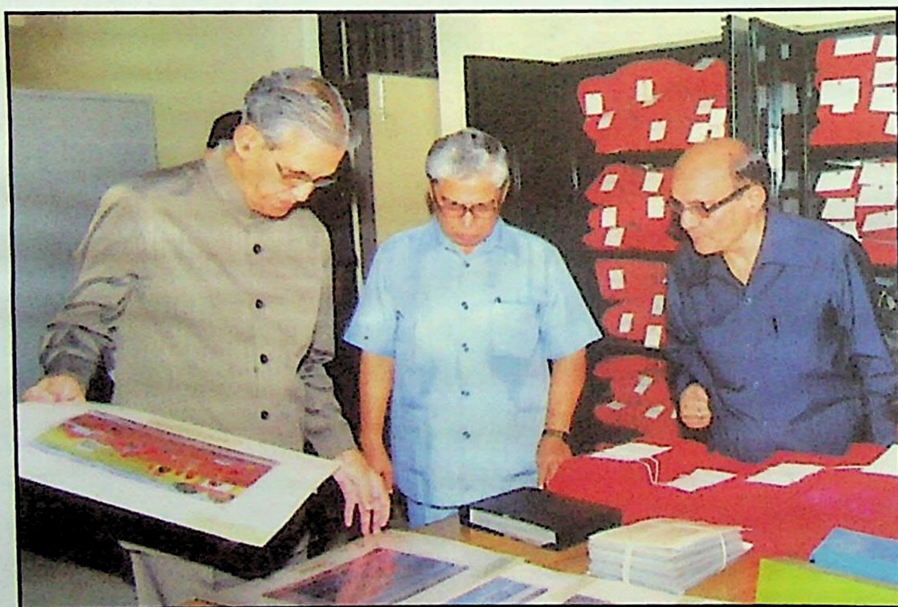
इस ग्रन्थ के निर्दोष मुद्रण में प्नार आफसेट के स्वामी श्री मनीष मेहता ने जो सहयोग प्रदान किया है उसके लिए वह परिषद् की ओर से कृतज्ञता के पात्र हैं।

अशोक कुमार कालिया

गुरुपूर्णिमा
२२ जुलाई २०१३



परिषद् के प्रकाशनों का अवलोकन करते हुए
महामहिम श्री राज्यपाल जी



चित्रित पाण्डुलिपियों का अवलोकन करते हुए
महामहिम श्री राज्यपाल जी



सङ्गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए महामहिम श्री राज्यपाल जी



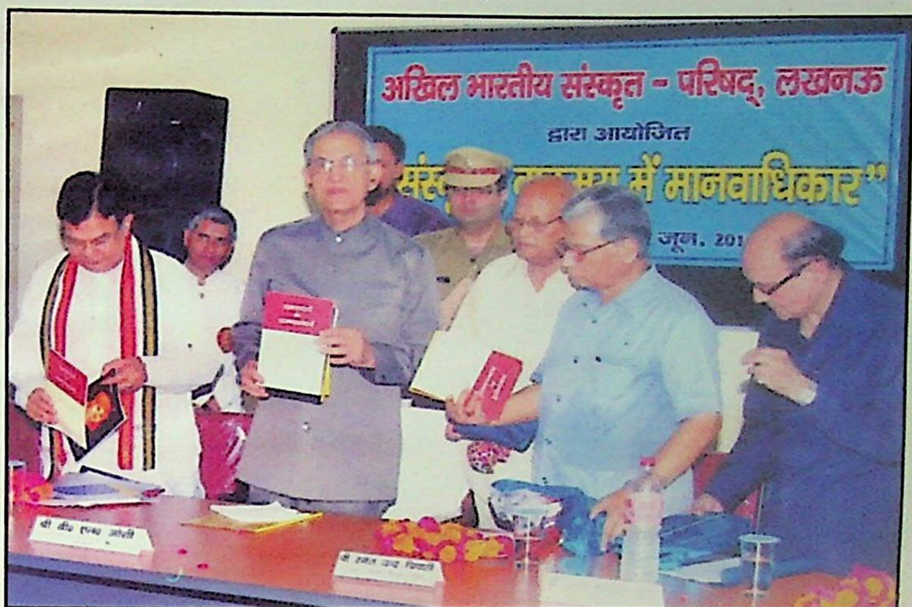
परिषद् के नूतन प्रकाशनों का अवलोकन करते हुए
महामहिम श्री राज्यपाल जी



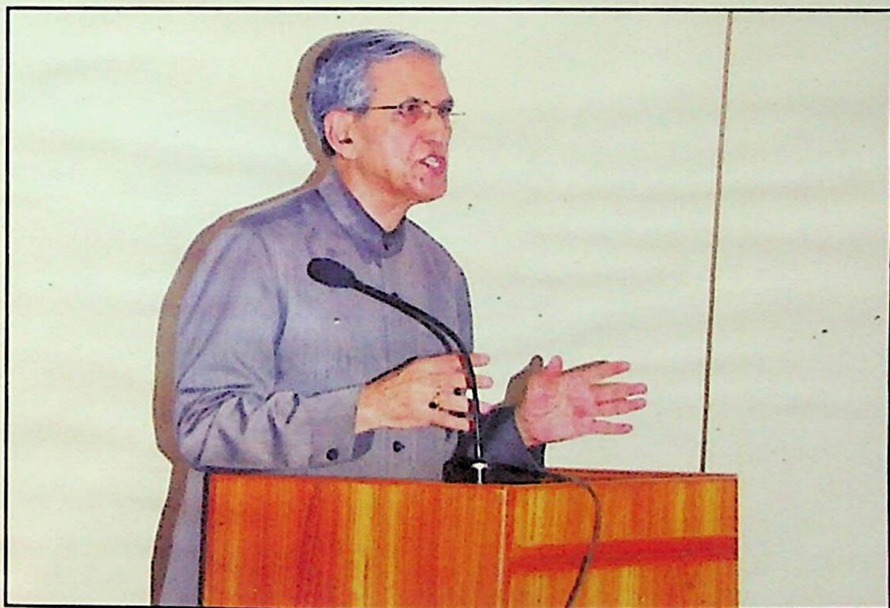
सङ्गोष्ठी में उपस्थित प्रतिभागी विद्वज्जन



स्मृति–चिह्न ग्रहण करते हुए महामहिम श्री राज्यपाल जी



परिषद् द्वारा प्रकाशित नवीनतम ग्रन्थों का विमोचन करते हुए
महामहिम श्री राज्यपाल जी



सङ्गोष्ठी को सम्बोधित करते हुए महामंहिम श्री राज्यपाल जी



प्रो० रमाशंकर मिश्र सत्राध्यक्ष को शाल भेंट करते हुए परिषद् के मन्त्री
श्री जितेन्द्र कुमार त्रिपाठी जी



सत्र को सम्बोधित करते हुए प्रो० किरण कुमार थपल्याल जी



सङ्गोष्ठी के समापन–सत्र में मुख्य–अतिथि प्रो० राधाबल्लभ त्रिपाठी तथा विशिष्ट अतिथि श्री अवनीश कुमार अवस्थी जी



समापन–सत्र को सम्बोधित करते हुए मुख्य–अतिथि प्रो० राधा बल्लभ त्रिपाठी जी

लखनऊ रविवार, 20 जून 2010 लखनऊ हिन्दुस्तान

संस्कृत का ज्ञान जनता में बाँटें :राज्यपाल

'संस्कृत-वाङ्मय में मानव अधिकार' विषय पर गोष्ठी

नि[illegible]ाददाता
लखनऊ



राज्यपाल बीएल जोशी ने शनिवार को किताब का विमोचन किया •हिन्दुस्तान

संस्कृत में जितना शोध होना चाहिए था, नहीं हुआ है। पूरी मानवता के प्रति सद्भाव की उत्कृष्ट भावना हमारे शास्त्रों व संस्कृत ग्रंथों में मिलती है। इसलिए संस्कृत के विद्वानों को आगे आकर अपने ज्ञान को जनता के बीच बाँटना चाहिए। यह बात राज्यपाल बीएल जोशी ने अखिल भारतीय संस्कृत परिषद की ओर से 'संस्कृत-वाङ्मय में मानव अधिकार' विषय पर संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर कही। उन्होंने शनिवार को कहा कि पश्चिम में तमाम ऐसे शोध किए जा रहे हैं, जो सदियों पहले से हमारे ज्ञान कोष में हैं। हम दूसरे विकसित देशों की बात करते हैं, पर अपने ज्ञानकोष पर शोध नहीं करते। भारतीय संस्कृति समादर व सम्भाव पर आधारित है, जो हमें अधिकार के साथ कर्तव्यों का बोध भी कराती है। इस अवसर पर उन्होंने किताब का विमोचन भी किया। गोष्ठी में प्रो. रमेश चन्द्र त्रिपाठी, प्रो. अशोक कुमार कालिया, प्रो. वाचस्पति समेत कई लोग मौजूद थे।

'न हि मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'
(महाभारत, शान्ति०, २६६.२०)

विषयानुक्रमणिका

२. इतिहासपुराण–खण्ड

३. धर्मशास्त्र–खण्ड

४. अर्थशास्त्र–खण्ड

५. संस्कृत–काव्य–खण्ड

६. संस्कृत–वाङ्मय–खण्ड

१. वेद-खण्ड

प्रो० शशि तिवारी
नई दिल्ली

ऋग्वेद में मानवाधिकार की अवधारणा

मानव प्रकृति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। सभी मानवों का समुचित एवं पूर्ण विकास हो, इसके लिए आधुनिक विधिशास्त्र मानवाधिकारों की बात करता है। पिछले लगभग ८०० वर्षों से यदा–कदा ब्रिटेन द्वारा मानव के अधिकारों की प्रारम्भिक चर्चा होती रही। अनन्तर इस विचार का उत्तरोत्तर विकास हुआ और पहली बार विधिवत् विश्वस्तर पर 'मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा' १० दिसम्बर, १९४८ को संयुक्तराष्ट्र की महासभा में की गयी। तब से विश्व के विभिन्न भागों में मानवाधिकार के स्वरूप, महत्त्व और अनिवार्यता पर विस्तृत चिन्तन और विश्लेषण प्रारम्भ हुए। विश्व के प्राचीनतम देश भारतवर्ष की महान् एवं विपुल ज्ञाननिधि 'वेद' की पुरातनता निर्विवाद है। इसमें सन्देह नहीं, कि वेद मानवमात्र के लिए देश, काल और स्थान की अपेक्षा के बिना आदेश और उपदेश करते हैं, जिससे उसका सर्वाधिक उत्कर्ष हो सके। इसीलिए भारतीय परम्परा वेद को परम प्रमाण मानती है। वैदिक मन्त्र की विशुद्धता और तद्रूपता उनके माहात्म्य को बढ़ा देती है। ऋषि–प्रज्ञा को इसका समस्त श्रेय जाता है, जिसने वेद को यथावत् सुरक्षित रखा है। 'सर्वं वेदात्प्रसिध्यति', 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' जैसे प्रसिद्ध वचनों से ध्वनित होता है कि ज्ञानविज्ञान के सभी पक्षों का आदिस्रोत वैदिक मन्त्र हैं। इसी दृष्टिकोण से इस पत्र में यह जानने का प्रयास किया जा रहा है कि आधुनिक विचार मानवाधिकार के विषय में प्राचीनतम वैदिक ग्रन्थ ऋग्वेदसंहिता ने क्या मानक नियम स्थापित किये है? वैदिक मन्त्रों के समालोचनात्मक विश्लेषण द्वारा ही तत्सम्बद्ध सिद्धान्तों को खोजा जा सकता हैं।

मानवाधिकार पर वैदिक दृष्टि

मानवाधिकार पर वैदिक दृष्टिकोण का आकलन करने पर यजुर्वेद का एक मन्त्र **'पञ्चस्वन्तः पुरुषाऽआ विवेश'**[1] अर्थात् 'पाँचों के भीतर पुरुष प्रविष्ट हुआ है'– इस पृष्ठभूमि में व्याख्यात किया जा सकता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व–इन पञ्च आयामों पर व्यक्ति का उत्तरोत्तर विकास और सम्पर्क होता है। मनुष्य इन पाँचों स्तर पर अपना प्रभाव छोड़ता है और इन पाँचों से प्रभावित भी होता

---

१. यजुर्वेद २३.५२

है। मानवाधिकार के सम्बन्ध में वेद का जो एक दूसरा दृष्टिकोण उभर कर सामने आता है, वह है कि 'अधिकार केवल कर्तव्य से उपजते हैं'। ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मन्त्र में वधू को आशीष दिया गया है कि 'पति के घर में सम्राज्ञी की तरह रहो, श्वशुर, सास, ननद और देवर पर शासन करो'।[2] साथ ही वह मन्त्र उल्लेख्य है, जिसमें वधू को पति के घर में श्वशुर और अन्य सम्बन्धियों की निष्ठापूर्वक सेवा करने का आदेश दिया गया है।[3] जीवन में लक्ष्यप्राप्ति के लिए कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण वैदिक ऋषि के नीतिविश्लेषण का प्रधान तत्त्व है। यज्ञानुष्ठान, प्रार्थना, प्रयत्न, परिश्रम पर बल देने वाले निर्देशों को कर्तव्य–विधान का ही प्रतिरूप माना जाना चाहिए। ऋभुगण अपने उत्तम कर्मों के कारण देव बने और इसीलिए इन्द्र ने उन्हें अपना मित्र बनाया।[4] इन्द्र उत्तम कर्तव्यशक्ति से युक्त होकर जन्मे थे। उन्होंने श्रेष्ठ कर्मों को प्रथम किया, इसलिए वे प्रशंसनीय हुए।[5] जिस प्रकार इन्द्र आदि देवता उत्तम कर्मों के कारण श्रेष्ठ हुए, उसी प्रकार उत्तम और शुभ कर्म मनुष्यों के लिए भी कर्तव्य हैं–यही ऋक्संहिता का सन्देश है। जो प्रजा का हित करता है वह 'मानुष' है और जो प्रजा का अहित करता है वह 'अमानुष' है।[6] मनुष्य क्या करे और क्या न करें, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालने वाले वैदिक ऋषियों ने मानवाधिकार की सबल भूमिका के रूप में कर्मों की महत्ता स्थापित की है।

मानवाधिकार–परक वैदिक दृष्टिकोण का एक तीसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है–सांमनस्य, अथर्ववेदीय सांमनस्य सूक्त पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर 'विद्वेष' और 'सम–मनोभाव' की बात करता है। यहाँ तक निर्देश दिया गया है कि भाई भाई से द्वेष न करे, बहन–बहन से द्वेष न करे। समान व्रत और समान गति वाले होकर परस्पर भद्रतापूर्ण वाणी का व्यवहार करें।[7] इसी प्रकार का सांमनस्य दिव्यशक्तियों के साथ भी चाहा गया है। मनुष्य का दूसरे व्यापक स्तरों से सम्बन्ध, कर्तव्य विधान और सांमनस्य जैसे विशद दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में वैदिक ऋषि ने मानव के

---

२. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।। ऋग्वेद १०.८५.४६; अथर्ववेद १४.१.४४

३. स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गुहेभ्यः।
स्योना ऽस्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव।। अथर्ववेद, १४.२.२७

४. ये देवासो अभवता सुकृत्या। ऋग्वेद. ४.३५.८
सखीयाँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या। वही, ४.३५.७

५. साकं जातः क्रतुना। वही, २.२२.३

६ अमानुषं यन्मानुषो निजूर्वात्। वही, २.११.१०

७. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। अथर्ववेद, ३.३०.३

अधिकारों का विधान किया है।

मानवाधिकार की सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार 'ये मानवजीवन की ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनके बिना सामान्य तथा कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता'। परन्तु मानवाधिकार का सामान्य अभिप्राय उन अधिकारों से है, जो मनुष्य मात्र के लिए उनके उत्कर्ष हेतु समान रूप से प्राप्तव्य हैं। वैदिक ऋषि–प्रज्ञा ने दिव्यशक्तियों की इस भावना की बहुशः प्रशंसा की है कि वे 'विश्व मानुष'या 'विश्व जीव' के प्रति बिना भेदभाव के कार्यरत हैं। सूर्य से पहले प्रकाशित होकर युवति उषा 'सब जीवों' को सर्वत्र सञ्चार के लिए प्रेरित करती है।[८] इन्द्र के द्वारा दिए गए उत्तम धन को 'सभी मनुष्य' जानते हैं।[९] विष्णुदेव ने निवास के लिए मनुष्यों को देने की इच्छा से पृथ्वी पर विचक्रमण किया।[१०] पवमान सोम सम्पूर्ण विश्व को श्रेष्ठ (आर्य) बनाना चाहते हैं या सम्पूर्ण विश्व को आर्य करने वाले हैं।[११] स्पष्ट है कि सभी देव मानवमात्र के विकास या सुख–सुविधा के लिए यत्नशील हैं। यही मानवाधिकार का वैदिक तात्पर्य है। ऋग्वेद में साङ्केतिक रूप से अभिव्यक्त हुए मानवाधिकार–परक कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का विश्लेषण ऋग्वेद में मानवाधिकार की अवधारणा के अध्ययन के उद्देश्य से यहाँ अभिप्रेत है।

मानवाधिकार की अवधारणा के प्रेरक तत्त्व

१. वैश्विक एकता

वेद में किसी स्थान–विशेष की विशेष चर्चा न करते हुए सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्ड की बात की गयी है। वैदिक दृष्टिकोण में यह स्पष्ट किया गया है कि संसार में लोग विविध भाषाओं या बोलियों और विविध धर्मों या व्यवसायों वाले होंगे–पृथिवी तो सबको बिना भेदभाव या वर्गभेद के धारण करेगी जैसे कि एक घर में रहने वाले हों।[१२] वह तो सब मानवों के लिए है।[१३] इसी प्रकार यजुर्वेद ने परमात्मा की दृष्टि में विश्व को बिना विभाजन वाला एक 'नीड' कहा है।[१४] जैसे घोंसले में कोई विभाजन रेखा नहीं होती, वैसे ही यह विश्व ब्रह्म की दृष्टि में एक इकाई है, जिसमें देश–प्रदेश के विभागों का कोई औचित्य नहीं है। इन्द्र स्थावर–जङ्गम सभी

---

८. उषो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै। ऋग्वेद ७.७७.१

९. यस्य ते विश्वमानुषो भुरेर्दत्तस्य वेदति। वही, ८.४५.४२

१०. विचक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्। वही, ७.१००.४

११. इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। वही, ९.६३.५

१२ जनं बिभ्रती बहु आ विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्। अथर्ववेद १२.१.४५

१३. असम्बाधं मध्यतो मानवानाम्। वही, १२.१.२

१४. यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। यजुर्वेद ३२.८

का राजा है।[15] वह सभी मनुष्यों के शासक, पालक और प्रकाशक है।[16] जैसे इन्द्रदेव वैसे ही सामान्यतया समस्त देवमण्डली सभी प्राणियों के हितसम्पादन में प्रवृत्त देखी जा सकती है। तात्पर्य है कि प्राकृतिक शक्तियाँ स्वकार्य–नियोजन में समस्त विश्व की एकता को मूलाधार बनाती हैं। वैदिक देवताओं का कार्यक्षेत्र विश्वव्यापी है।

२. मानवीय समानता

द्युलोक को पिता और पृथिवी को माता मानने वाले वैदिक स्तोता ने अपने को विशाल विश्व का अधिवासी माना है। वैदिक समाज समत्व का पोषक था। आर्यजनों के सांस्कृतिक जीवन में एकरूपता थी क्योंकि सभी व्यक्तियों को समानतया समाज का आवश्यक अङ्ग माना जाता था। इसीलिए वेदों में कहीं भी एक धर्म या समुदाय को ध्यान में रखकर उपदेश नहीं दिया गया है अपितु सम्पूर्ण मानवमात्र के हितसाधन के लिए उपदेश है। समाज या समूह की सर्वाङ्गीण उन्नति के मूल–कारण के रूप में मानवीय समानता का प्रतिपादन किया गया है। समत्व भावना से ओतप्रोत चित्त स्वार्थ से शून्य और परार्थ के प्रति निष्ठावान् होता है, इसलिए भावात्मक एकता को आत्मसाक्षात्कार का प्रथम सोपान माना गया है। उपनिषद्–दर्शन में इसी तथ्य का विस्तार हुआ है।

ऋक्संहिता का 'सञ्ज्ञानम्' नामक सूक्त सामाजिक उत्कृष्ट भावना का सुन्दर उपदेश है– 'जैसे दिव्यशक्तियों से युक्त देव परस्पर अविरोध भाव से अपने–अपने कार्यों को करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी समष्टि भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त हो, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भाव में रत रहो'।[17] यह सूक्त वेद के समतापूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें सब जनों की क्रियाओं, गति, विचारों एवं मनबुद्धि के पूर्ण सामञ्जस्य की प्रेरणा दी गयी है। यह सूक्त 'सांमनस्य' नाम से अथर्ववेद–संहिता में भी मिलता है। समता–भावना के माहात्म्य के प्रकाशक वैदिक विचार जहाँ एक ओर समाज की उन्नति के लिए अपेक्षित आधार के अभिव्यञ्जक हैं, वहीं वे मानवाधिकार का स्वरूप भी उपन्यस्त करते हैं।

ऋग्वेदसंहिता के दो मन्त्रों में मरुत् को नर, मर्य, मर्त आदि विशेषणों के आधार पर मनुष्यवाची मानना, स्पष्टतः मानवीय समानता के रूप में ग्राह्य है– 'सब मनुष्य समान हैं, उनमें कोई बड़ा–छोटा नहीं, कोई मध्यम भी नहीं, ये अपनी शक्ति से ऊपर उठते हैं, ये महत्त्वाकांक्षा से बढ़ते हैं, ये जन्म से कुलीन, दिव्य, मर्त्य हैं, इन सब मनुष्यों में कोई न तो जन्म से बड़ा है और न कोई छोटा, सब सम्यक् मातृभाव

---

१५ इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा। ऋग्वेद, १.३२.१५

१६. सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्। वही, १.३२.१५

१७. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते। वही, १०.१९१.२

को धारण करते हुए ऐश्वर्य और उन्नति के लिए मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढ़ते हैं,।[१८] जब सब समान हैं तो भेदभाव कैसा? वेद की दृष्टि में सभी स्त्री–पुरुष अमृत के पुत्र कहे गये हैं।[१९] वेद की संस्तुति है कि बालक, तरुण, बड़े और वृद्ध जो भी पुरुष हैं, वे सब उसी प्रभु के रूप हैं अतः उसको नमन करना चाहिए।[२०] वर्तमान जाति–व्यवस्था जो विश्व के कई भागों में मानवीय भेदभाव का आधार है, वेद में नहीं प्राप्त होती है। गुण और कर्म के अनुसार निर्धारित की गई वर्ण–व्यवस्था के कतिपय सङ्केत वेद में अवश्य उपलब्ध होते हैं। वैदिक परम्परा में बलपूर्वक स्थापित की गई सामाजिक और मानवीय समानता उसे मानवाधिकार की मान्यता प्रदान करती है।

३. विश्वबन्धुत्व–भावना

विश्वबन्धुत्व–भावना की चर्चा जिस रूप में वेद में की गई है, वह विश्ववाङ्मय के लिए एक अनुपम उदाहरण है। विश्वव्यापी आधार पर चिन्तन करने के कारण विश्वबन्धुता की उदात्त भावना से ओतप्रोत वैदिक मन्त्रों में मानवमात्र के लिए सौहार्द, मित्रता, समानता, सङ्गठन और साहाय्य की भावनाओं का पाया जाना नितराम् स्वाभाविक है। ऋग्वेद में ही इस विषय के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त 'सञ्ज्ञानम्' इसका सर्वोच्च प्रतिपादक है। एक अन्य मन्त्र में सभी जनों के परस्पर सङ्गत होकर, सहमतिपूर्वक, बिना किसी द्वेषभाव के, कर्तव्यकर्मों और प्रकृति के नियमों के लिए कहा गया है– 'एक महत्कार्य के निमित्त वे एक होते है, सङ्घटित होते हैं और अपना विचार रखते हैं, वे कभी आपस में कलह नहीं करते, देवों के अनुशासन को भङ्ग नहीं करते और हिंसा न करते हुए धनों के साथ सङ्गत होते हैं।[२१]

वेद में सब प्राणियों को मित्रवत् देखने की कामना की गयी है। प्राणिमात्र के लिए मैत्रीभाव या मित्र–दृष्टि अपेक्षित है। ऋग्वैदिक ऋषि के अनुसार जो मित्र को छोड़ देता है, उसे वाणी का कोई फल नहीं मिलता, वह जो सुनता है व्यर्थ ही सुनता है, वह सत्कार्य का मार्ग नहीं जानता है।[२२] यजुर्वेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र है, जिसमें

---

१८. ये अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जुनषा पृश्निमातरो दिवा मर्या आ नो अच्छा जिगातन।। ऋग्वेद, ५.५६.६,
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय वही, ५.६०.५

१९. विश्वे अमृतस्य पुत्राः। वही, १०.१३.१

२०. नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः। वही, १.२७.१३

२१. समान ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते।
ते देवानां न मिनन्ति व्रता न्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः।। वही, ७.७६.५

२२. यस्तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। वही, १०.७१.६

कहा गया है कि 'सब प्राणिवर्ग मुझे मित्र की दृष्टि से देंखे, मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देंखूँ। हम सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देंखे।[२३] मैत्री या विश्वबन्धुत्व की भावना मानवाधिकार की अवधारणा के प्रेरक तत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं।

सामान्य मानवाधिकार

१. सामाजिक न्याय का अधिकार

जब व्यक्ति के लिए समताभावना और उदात्तगुणों का निर्देश है, तब प्रत्येक मानव को दूसरे से होने वाले अनाचार या अन्याय के प्रतिकार का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता हैं। वेद में 'ऋतम्' को सम्पूर्ण व्यवस्था का मूल तत्त्व निर्धारित किया गया है। इसलिए जो राजा अर्थात् अधिकारी न्यायकर्ता है, उसके प्रति कामना की गयी है कि ''सत्य से असत्य को पृथक् करके मेरे राष्ट्र का आधिपत्य प्राप्त करो।''[२४] राजा को सदा सत्य का साथ देना चाहिए।[२५]

किसी के प्रति भी वाञ्छनीय न्याय को दबाया नहीं जाना चाहिए। इन्द्र से एक प्रार्थना मे कहा गया है कि ''हमें उत्तम कर्म करने वाले! उत्तम रीति से रक्षा करने वाले तुम, प्राणियों की हिंसा करने के लिए नहीं हो।''[२६] उचित न्याय सभी का अधिकार है। किसी भी स्थिति में नियमों को तोड़ने वाले या उनके साथ खिलवाड़ करने वाले दण्ड से वञ्चित नहीं रहने चाहिए। पवमान सोम के एक मन्त्र में प्रतिपादित है कि 'ऋत का संरक्षक, उत्तम कर्म करने वाला यह सोम किसी (दुष्ट) से दबने वाला नहीं है। कर्म करने वालों में जो नियम–रहित रीति से कर्म करते हैं उन अप्रिय करने वालों का वह ताड़न करता है'।[२७] अग्निदेव उसे तीन बार दण्डित करते हुए बाँधते हैं, जो 'अनृत' से 'ऋत' को नष्ट करता है।[२८] ऋत के नियामक देवता वरुण एक नैतिक देव है, जो सदा अपराधियों क़ो दण्डित करने के लिए अपने पाशों से बाँध लेते हैं। अतएव उच्चतम स्तर के नैतिक आदर्शों की स्थापना करते हुए वैदिक ऋषि ने न्याय को समुचित महत्त्व दिया है।

---

२३. मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजुर्वेद ३६.१८

२४. ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि। ऋग्वेद१०.१२४.५

२५. राजानः सत्यं कृण्वानाः। वही, १०.१०६.६

२६. सुगोपा असि न दभाय सुक्रतो। वही, ५.४४.२

२७. ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः................
अवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान्। वही, ६.७३.८

२८. त्रिर् यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति। वही, १०.८७.११

२. सुरक्षित, शान्तिमय और सुखी जीवन का अधिकार

वैदिक ऋषि की दृष्टि में सुरक्षा और सामान्य सुख सभी मानवों का अधिकार है। दूसरों के अपराध और पापों से सदाचारी जनों के जीवन की रक्षा करना शासक का कर्तव्य है।[२९] सब ओर से अभय होना चाहिए।[३०] द्वेष करने वाले, दुष्ट, पापी, अपराधी, राक्षस आदि असामाजिक तत्त्वों के प्रतिकार के लिए देवता सदैव सन्नद्ध दिखाये गये हैं। ऋग्वैदिक आर्यों ने सुख और शान्ति को जीवन का मुख्य ध्येय माना था। शिव, स्वस्ति, भद्र, शम्, सौभग, कल्याण, श्रेयस्, शर्म आदि शब्दों द्वारा सुख, कल्याण, प्रसन्नता और शान्ति की वैदिक मन्त्रों में कामना की गयी है।[३१] सुखमय और शान्तिपूर्ण जीवन जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य का प्रथम अधिकार है। इस अभिप्राय से सभी देवताओं से 'भद्र' की याचना की गयी है।[३२]

शम् अथवा शान्ति केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही काम्य नहीं है। वैदिक ऋषि भली–भाँति जानते हैं कि मानव–जीवन के अन्य व्यापक स्तर परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व भी उसे प्रभावित करते हैं, अतएव उन स्तरों पर भी शान्तिमय वातावरण होना चाहिए। शम् तो प्राणिमात्र का काम्य है– द्विपदों और चतुष्पदों में शान्ति हो।[३३] सुकर्मशील जनों के सुकर्मों का उद्देश्य एकमात्र 'शान्ति' होना चाहिए।[३४] सत्य और अनुशासन शान्ति के आधार हैं, इसीलिए एक मन्त्र में कथन है कि 'हमारा सत्य और सुयम हमें शान्ति प्रदान करें'।[३५] सत्य का पालन करने वाले ही शान्ति को स्थापित कर सकते हैं।[३६] न केवल पृथिवी अपितु अन्तरिक्ष, द्युलोक और सर्वत्र शान्ति की कामना प्रसिद्ध शान्तिमन्त्र का विषय है।[३७] शान्ति–स्थापना के लिए अधिकारी शासक को सदैव अशान्ति फैलाने वाले चोर, कपटी, पापी, दुष्ट को विनष्ट करने की चर्चा अनेकशः मन्त्रों में की गयी है।[३८]

३. शिक्षा और ज्ञानार्जन का अधिकार

जन्म लेने वाले प्रत्येक मानव का अधिकार अपनी बुद्धि का विकास करने के

---

२९. मा व एनो अन्यकृतं भुजेम। ऋग्वेद, ६.५१.७
३०. अथामयं कृणुहि विश्वतो नः। वही, ३.४७.२; तुलनीय–अथर्ववेद १६.१५.५–६
३१. ऋग्वैदिक अध्ययन, वेंकटेश प्रकाशन, दिल्ली, १९९९, पृ. १०२–१०४
३२. भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। ऋग्वेद १.८९.८
३३. शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। यजुर्वेद ३६.८
३४. शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु। ऋग्वेद ७.३५.४
३५. शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः। वही, ७.३५.२
३६. शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु। वही, ७.३५.१२
३७. यजुर्वेद ३६.१७
३८. ऋग्वेद १.४२.२–३; ५.५२.१; १.५६.५

लिए शिक्षा प्राप्ति का है। माता उसकी प्रथम गुरु है, जो उसमें संस्कार डालती है। पिता उसका श्रेष्ठ गुरु है, जो उसको शिक्षित बनाने की आधारशिला रखता है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक बालक को योग्य गुरु से विद्या प्राप्त करने का अधिकार है। जानने वाला कोई भी आचार्य न जानने वाले, किन्तु जिज्ञासु शिष्य को अवश्य ही शिक्षित करे–वेद की निश्चित मान्यता है। पूषन् देवता से कहा गया है कि 'हे पूषन्! जो यह ऐसा ही है ऐसा कहता है और जो योग्य उपदेश देता है, उस विद्वान् के पास हमें ले चलो।'[३९] सृष्टि की समुचित गति के लिए शिक्षा और ज्ञानार्जन की महत्ता सभी के लिए है। इसीलिए वेद का उद्घोष है, 'आगे आगे जाने वाला विद्वान् ही मुझे उत्तम मार्ग से सरलतापूर्वक ले जाएगा'।[४०] आज मानवाधिकार के रूप में 'शिक्षा' को विशेष स्थान दिया जाता है किन्तु अभी भी कितने ही इस अधिकार से वञ्चित रह जाते हैं; जिसके अनेक कारण हैं किन्तु वैदिक दृष्टि में कोई भी कारण मानव को इस अधिकार से दूर नहीं रख सकता है।

शिक्षा विकास का साधन है और विकासोन्मुखता एवं उत्कर्ष–प्राप्ति से किसी भी मानव को सभ्य समाज में रोका नहीं जाना चाहिए क्योंकि विकास एवं उत्कर्ष मानवाधिकार है। महत् सौभग के लिए उठो[४१], जीवन में आगे ही आगे आरोहण करो[४२], रुको नहीं, थको नहीं आगे बढ़ो विचरण करो[४३]–जैसे उत्कर्ष के प्रति प्रेरित करने वाले मन्त्र वेदों में यत्र–तत्र सर्वत्र प्राप्त होते हैं। 'मेरे दाये हाथ में कर्म हैं, तो मेरे बायें हाथ में जय, –वेद का आदर्श है।[४४]

४. स्वराज्य और स्वतन्त्रता का अधिकार

निर्भयता और सुरक्षा से स्वतन्त्रता उपजती है, जो मानव मात्र का एक विशेष अधिकार है। 'अभयम्' वेद का महत्तम सन्देश है। सभी मनुष्य स्वतन्त्र कर्म, स्वतन्त्र वाणी और स्वतन्त्र विचार के अधिकारी हैं, केवल इस स्वतन्त्रता में देव–नियमों का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए।[४५]

'स्वराज्य' की अवधारणा वेद का अप्रतिम विचार है। सभी वैदिक संहिताओं में 'स्वराज्य' पर व्यापक सामग्री उपलब्ध होती है।[४६] 'स्वराज्य' की चाह करना प्रत्येक

---

३९. सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति। य एवेदमिति ब्रवत्।। ऋग्वेद, ६.५४.१
४०. विद्वान् पथः पुरएत ऋजु नेषति। वही, ५.४६.१
४१. उत्क्राम महते सौभगाय। यजु. ११.२१
४२. आरोहणं आक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। अथर्ववेद ५.३०.७
४३. अश्वासो न चङ्क्रमत। ऋग्वेद ८.५५.४
४४. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। अथर्ववेद ७.५०.८
४५. न स देवा अतिक्रमे तं मर्तासो न पश्यथ। ऋग्वेद १.१०५.१६
४६. वैदिक अध्ययन, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, २००४, पृ. १७५–१८४

व्यक्ति का कर्तव्य है और यदि स्वराज्य है तो उसकी सुरक्षा करना भी उसका कर्तव्य है।[४७] लोगों को स्वराज्य से वञ्चित करने का अधिकार किसी का नहीं है।[४८] ऋग्वेद में स्पष्ट आदेश है कि लोग अपना राजा स्वयं चुने।[४९] यजुर्वेद में 'जानराज्य' शब्द का प्रयोग[५०] सङ्केत करता है कि यह स्वराज्य वस्तुतः जनता का राज्य है राजा का वरण हो या कि निर्वाचन–यह तो निर्विवाद है कि वेद ने प्रजा के राज्य में होने वाले सर्वविध अधिकारों की अनिर्वाच्यता का सङ्केत किया है। निश्चय ही प्रजातन्त्र की आधुनिक धारणा का यह प्राचीनतम सन्दर्भ है।

मानवसमुदाय में एक दूसरे के प्रति मित्रता, कल्याणभावना, अविद्वेष और सुरक्षा की भावना राष्ट्र को पुष्ट करती है और ऐसे राष्ट्र विश्व को पुष्ट करते हैं। मानवाधिकारों का समुचित अनुपालन सर्वविध विकास और शान्ति का मार्ग उपन्यस्त करता है। कर्मशीलता, सदाचार और उदात्त चरित्र इसके आधार हैं–यह वैदिक दृष्टिकोण ने स्पष्ट किया है। कर्तव्यों को छोड़कर केवल अधिकारों की बात करना एकाङ्गी है। समग्रता जीवन को परिपक्व करती है। आधुनिक युग में बहुशः चर्चित मानवाधिकारों के समस्त आधारभूत विचार ऋग्वेद में सूत्ररूप में व्याख्यात किये गये हैं। अतः उपुर्यक्त विवेचन से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानवाधिकार की अवधारणा वैदिक ऋषि–प्रज्ञा के गहन बोध की संसूचक है, जिसमें अधिकारों के स्वरूप के साथ उनके आधारभूत सिद्धान्तों का भी अनुचिन्तन किया गया है।

***

---

४७. व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये। ऋग्वेद ५.६६.६

४८. कच्चन प्रियम् न मिनन्ति स्वराज्यम्। वही, ५.८२.२

४६. विशो न राजानं वृणानाः। वही, १०.१२४.८

५०. यजुर्वेद ६.४०

डॉ० प्रयाग नारायण मिश्र
लखनऊ

मानवाधिकार–विषयक श्रौतसन्दर्भ

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् अथवा **सर्वज्ञानमयो हि सः** इत्यादि स्मृति–वचनों[1] से विश्व के अखिल एवं आद्य ज्ञान–कोश के रूप में जिन वेदों को मानवीय सभ्यता का प्राचीनतम अभिलेख स्वीकार किया जाता है उनमें मानवीय अधिकार की धारणा विभिन्न रूपों में अनुस्यूत एवं संरक्षित है। मानवाधिकार के समानता रूपी सामाजिक अधिकारों की मौलिक अभिव्यञ्जना ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चातुर्वर्ण्योत्पत्ति के प्रसङ्ग में निरूपित मानी जा सकती है क्योंकि समाज को एक जीवित शरीर मान कर वर्ण–चतुष्टय को समाजरूपी शरीर के विविध अवयवों के रूप में परिकल्पित करके इनके पारस्परिक सहयोग तथा अन्योऽन्याश्रयत्व से ही मानव–समाज के विकास का मौलिक क्रम प्रतिपादित किया गया है। प्रायः कर्माश्रित यह वैदिक वर्ण–व्यवस्था समाज के विविध वर्णों के मनुष्यों को समस्त आर्थिक–सामाजिक संसाधनों की व्यवस्था की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा प्रत्येक व्यवसाय में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार उन्मुक्त घोषणा है।

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'[2] इत्यादि जिस मन्त्र में चातुर्वर्ण्योत्पत्ति का रहस्य प्रोक्त है उसके आधार पर ऋग्वेद में प्रोक्त वर्ण–व्यवस्था सामाजिक–विभेदीकरण का आधार नहीं प्रत्युत एकीकरण का सूत्रपात है। जैसे शरीर का कोई अङ्ग छोटा या बड़ा नहीं होता वरन् सभी का अपना–अपना महत्त्व एवं अपना–अपना वैशिष्ट्य होता है वैसे ही समस्त वर्ण अपने–अपने में महत्त्वास्पद होकर सामाजिक व्यवथा को पूर्णता प्रदान करते हैं। शरीर के अवयवों की भाँति सभी एक दूसरे से सम्बद्ध तथा एक दूसरे पर आश्रित हैं। शरीर के किसी अङ्ग के पीड़ित होने पर जिस प्रकार उस अङ्ग–विशेष–जन्य वेदना की अनुभूति सम्पूर्ण शरीर को होती है उसी प्रकार एक वर्ण के कष्ट की अनुभूति दूसरे वर्ण को होना स्वाभाविक है। अतः **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'**[3] की मान्यता के आधार पर भला एक वर्ण दूसरे वर्ण का बाधक कैसे हो सकता है। दूसरे को अपने समान मानकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्'

---

१. मनुस्मृति २.६–७
२. ऋग्वेद १०.९०.१२
३. पञ्चतन्त्र ३.१०२

की भावना का सञ्चार करने वाले भारतीय समाज में एक ही परिवार में विविध व्यवसायों में सम्पृक्त परिजनों में जब किसी का अधिकार कम नहीं हो जाता है तो भला समाज में भिन्न–भिन्न कर्म करने वाले विविध वर्णों का अधिकार कैसे कम हो जायेगा।

'का॒रुर॒हं ता॒तो भि॒षगु॑पलप्र॒क्षिणी॑ न॒ना'[४] इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्र में जहाँ एक ओर विभिन्न वर्गगत व्यवसायों में संलग्न विभिन्न लोगों के एक ही परिवार में निवास के उल्लेख प्राप्त होते हैं वहीं दूसरी ओर स्ववर्ण–विहित कर्मों के साथ अन्य वर्णों के कार्यों का सम्पादन भी प्रोक्त है। उदाहरणार्थ अध्ययन–अध्यापन, यजन–याजन तथा दान–प्रतिग्रहण आदि जिन षट्कर्मों का प्रतिपादन ब्राह्मणों के प्रधान कर्मत्वेन किया गया है उनसे अतिरिक्त कृषि, राज्य–सञ्चालन तथा युद्ध आदि में सहभागिता के कार्य भी ब्राह्मण किया करते थे। अतः यह वर्ण–व्यवस्था उनके कर्तव्य–बोधन का आधार बनकर मानों उनके अधिकार का ही उद्घोष करती है, क्योंकि **'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते'**[५] कह कर श्रीमद्भगवद्गीता में कर्तव्य को ही अधिकार शब्द से व्यक्त किया गया है। चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था के अन्तिम वर्ण हेतु जिस सेवा–शुश्रूषा का विधान किया गया है उसमें लेशमात्र भी उनके प्रति घृणा, उपेक्षा अथवा निरादर का भाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। अपने सेवा–बल के कारण उनकी समस्त वर्णों में अभिनिविष्टि हो जाती थी क्योंकि साहित्य–ग्रन्थों में सुवर्णपुष्पा पृथ्वी के चयन के अधिकारी जिन तीन लोगों को बताया गया है उनमें एक सेवा–शुश्रूषा करना जानने वाला व्यक्ति भी है–

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।[६]

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अमानवीय व्यवहारों से सुरक्षा अथवा अस्पृश्यता–उन्मूलन के रूप में आज जिन मानवाधिकारों की बात की जाती है वे वैदिक संस्कृति में पूर्ण परिपक्व अवस्था में अन्वेषित किये जा सकते हैं। वर्ण–विभेद–जन्य मानसिक–विकार अथवा निम्न वर्णों के प्रति उपेक्षा या अनादर का भाव वेदों की परिधि के अन्तर्गत नहीं आता है। समाज की सेवा शुश्रूषा के रूप में प्रतीयमान हीन–कर्म के भागीदार होने पर भी शतपथब्राह्मण में उन्हें स्वर्ग से उत्पन्न बताकर मानों सेवा के फलस्वरूप समस्त फलों का अधिकारी बना दिया गया है। अतः समाज के निम्न वर्ण के प्रति भी समानता तथा आदर का भाव मानवाधिकार के

---

४. ऋग्वेद ६.११२.३
५. श्रीदभगवद्गीता २.४७
६. ध्वन्यालोक १.१४ पृष्ठ–५६

समानतारूपी स्वरूप को व्यक्त करता है। सभी को सुख–सुविधा प्राप्त करने के अधिकार के साथ उक्त भाव अथर्ववेद के इस मन्त्र में द्रष्टव्य है–

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।[७]

सामाजिक व्यवस्था के एक सोपान में स्त्री एवं शूद्रों को वेदाध्ययन के अधिकार से वञ्चित करने का जो प्रसङ्ग प्रकाश में आता है वह तो स्वयं वेद–वचनों से ही निराधार सिद्ध होकर उन्हें वेदाध्ययन करके मानवीय अधिकार को प्रदान करता है–

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यामथं शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।।[८]

धर्मसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'[९] के रूप में अनेक यज्ञों के अनुष्ठान का अधिकार भी उन्हें प्राप्त था। ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महिदास ऐतरेय, ऋषि कवष एलूष, वैदिक ऋषि काक्षीवान् तथा काक्षीवती, सुहस्त्य घौषेय आदि के दृष्टान्त[१०] इस तथ्य के पुष्ट प्रमाण हैं कि वैदिक काल में शूद्रों तथा दासीपुत्रों को भी आत्मविकास के सभी समान अवसर सुलभ थे तथा सभी मिलकर शरीर के अवयवों की भाँति एक दूसरे की सहायता करते हुए समाजरूपी शरीर को सुदृढ बनाते थे।

शतपथब्राह्मण[११] तथा तैत्तिरीयसंहिता[१२] के कतिपय अंश भले ही अर्थवाद रूप हों परन्तु वे शूद्रों को स्वर्ग से उत्पन्न बताकर तथा राज्याभिषेक के प्रसङ्ग में वर्णित नव–सङ्ख्यक रत्नियों में शूद्र का भी वर्णन करके समाज के इस अन्तिम वर्ण के सम्मानोन्मुखी समानता रूपी मानवाधिकार का उन्मुक्त स्थापन अवश्य करते हैं।[१३]

---

७. अथर्ववेद १६.६२.६
८. यजुर्वेदसंहिता २६.२
६. शतपथब्राह्मण १.७.१.५
१०. ऋग्वेद १०.३०.१–१५, १०.३१.१–११, १०.३२.१, ६–१०, १०.३३.१–६, १०.३४.१–१४
दासी से उत्पन्न काक्षीवान् १.१८.१, १.५१.१३, १.११२.११, ४.२६.१, ८.६.१०, १०.२५.१०
काक्षीवान् की पुत्री घोषा काक्षीवती १०.३६.१–१४, १०.४०.१–१४
काक्षीवान् का दैहित्र १०.४१.१–३
११. शतपथब्राह्मण ५.४.४–६
१२. तैत्तिरीयसंहिता १८.६.१–२
१३. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप, पृष्ठ–२८०

भारतीय समाज की स्त्रियों की अस्मिता–सुरक्षा और अधिकारों की वैदिक वाङ्मय में बहुशः चर्चा की गयी है। स्त्रियों के अधिकारों की इससे श्रेष्ठ स्थिति और क्या हो सकती है कि वैदिक ऋषियों ने स्त्री और पुरुष को मानव जीवन रूपी शरीर का चक्र–द्वय मानकर मानों स्त्री को पुरुष के समकक्ष ही स्थान प्रदान किया है। शतपथ–ब्राह्मण के अनुसार पत्नी पुरुष की आत्मा का आधा भाग है–

अर्धो ह वा एष आत्मानो यज्जाया[१४]

अर्धाङ्गिनी, सहधर्मचारिणी, वामाङ्गिनी, सहचरी इत्यादि पत्नी के विशेषण इसी अर्थ के द्योतक हैं। इसीलिए स्त्री के गृहिणी स्वरूप को वेदों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। **जायेदस्तम्**[१५] प्रभृति वेद–वचनों की **'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते'**[१६] इत्यादि रूपों में बहुशः व्याख्या की गयी है। स्त्री के पत्नी रूप इसी वैशिष्ट्य के कारण पुरुष को पत्नी के बिना यज्ञ रूपी श्रेष्ठ कर्म के अयोग्य घोषित कर दिया गया है–

अयज्ञीयो हि योऽपत्नीकः[१७]

इस प्रकार पत्नी के सहयोग से ही पुरुष अपने सर्व–विध दायित्वों को पूर्ण कर अपने घर को स्वर्गास्पद बना सकता है क्योंकि इन्द्र–सम्बन्धी एक मन्त्र में कहा गया है कि कल्याणमयी पत्नी के कारण घर स्वर्ग के सदृश आनन्दमय हो जाता है–

कल्या॒णीर्जा॒या सु॒रणं॑ गृ॒हे ते॑।[१८]

वैदिक काल में नारी एक परवश–पराधीन–दीनहीन महिला न होकर सर्वशक्ति–स्वरूपा है। इसीलिए तो नव–विवाहिता वधू को अपने घर में प्रवेश करने तथा सब पर शासन करने हेतु आमन्त्रित किया गया है–

गृ॒हान् ग॑च्छ गृ॒हप॑त्नी॒ यथासो॑ व॒शिनी॒ त्वं वि॒दथ॒ मा व॑दासि।[१९]

इतना ही नहीं आज समाज में जिस स्त्री को ससुराल में सर्वथा परमुखापेक्षी होकर जीने के लिए विवश किया जाता है उसे वेदों में सास–ससुर, नन्द, देवर सहित सम्पूर्ण परिवार के लिए साम्राज्ञी के महान् पद पर अधिष्ठापित किया गया है–

---

१४. शतपथब्राह्मण ५.२.१.१०

१५. ऋग्वेद ३.५३.४

१६. महाभारत, शान्तिपर्व १४४.६६

१७. तैत्तिरीयब्राह्मण २.२२.६

१८. ऋग्वेद ३.५३.६

१९. तदेव १०.८५.२५

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।।[२०]

स्त्रियों के शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों के प्रति वेदकालीन समाज कृत–सङ्कल्प था। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्योपार्जन का अधिकार था–

पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा।।[२१]

इस प्रकार स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार, स्त्रियों के लिए शिक्षा तथा आत्मोन्नति के समान अधिकार तथा पति के विविध कर्मों में उनकी सहयोगिता के अधिकार के दृष्टान्तों से वैदिक वाङ्मय परिपूर्ण है। घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा, विश्पला, मुद्गलानी आदि के दृष्टान्त इसके पुष्ट प्रमाण हैं। समाज के प्रत्येक कर्म में यहाँ तक कि सेना में भर्ती होने का अधिकार भी स्त्रियों को सर्वमान्य था–

स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मां करन्नबला अस्य सेनाः।[२२]

उदाहरणार्थ–विश्पला का पैर अपने पति के साथ युद्ध में भाग लेते समय ही कटा था जिसका प्रत्यारोपण बाद में अश्वनीकुमारों ने किया। मुद्गल की पत्नी मुद्गलानी अर्थात् इन्द्र सेना ने अपने पति का धनुष बाण लेकर दस्युओं का पीछा किया तथा उन्हें पराजित करके गायें वापस लौटायी थीं।[२३]

वैदिककाल में वर और कन्या के पूर्ण यौवन प्राप्त कर लेने पर ही उनका विवाह होता था, बाल विवाह का सर्वथा अभाव था–

ब्रह्मचर्येण कन्या विन्दते युवानं पतिम्।[२४]

ऋग्वेद में सूर्या और सोम के विवाह–वर्णन से सम्बद्ध मन्त्रों में इसकी सर्वथा पुष्टि होती है।[२५] कन्या को पति–चयन का अधिकार अथवा प्रणय–प्रसङ्ग तथा अन्तर्वर्णीय विवाह आदि प्रसङ्ग महिलाओं के विवाह–सम्बन्धी मानवाधिकारों की

---

२०. ऋग्वेद १०.८५.४६
२१. स्मृति चन्द्रिका भाग–१, संस्कारकाण्ड, पृ. ६२ यमवचनम (नाग प्रकाशक, दिल्ली, १९८८)
२२. ऋग्वेद ५.३०.६
२३. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप पृष्ठ २८२
२४. अथर्ववेद ११.५.१८
२५. ऋग्वेद १०.८५

पुष्टि करते हैं। राजा रथवीति की राजकुमारी के प्रति ऋषि श्यावाश्व का प्रणय–प्रसङ्ग[२६] राजा पुरुमित्र की कन्या शुन्ध्यु या कमद्यु के विमद ऋषि से विवाह का प्रसङ्ग उल्लेखनीय है–

युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्।[२७]

युवा अवस्था मे दुर्भाग्य–वश वैधव्य को प्राप्त स्त्रियों को पुनर्विवाह का पूर्ण अधिकार था। सामान्यतः यह द्वितीय विवाह देवर के साथ करने का विधान प्राप्त होता है। इसीलिए यास्क ने देवर शब्द का निर्वचन द्वितीय वर के रूप में किया है। ऋग्वेद में विधवा का देवर के साथ रहने का उल्लेख प्राप्त होता है।[२८] परन्तु वैधव्य को प्राप्त स्त्री के लिए देवर के साथ विवाह का प्रतिबन्ध नहीं था क्योंकि ऋग्वेद में एक स्थल पर एक स्त्री से कहा गया है कि–

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ।।[२९]

अर्थात् हे नारी! इस मृत पति के प्रति अपने मोह–भाव को त्याग कर पुनः जीवितों के समूह में पदार्पण करो, तुमसे विवाह करने का इच्छुक जो तुम्हारा दूसरा भावी पति है उसे स्वीकार करो।

वैदिक वाङ्मय में अन्यत्र भी विधवा–विवाह के सङ्केत प्राप्त होते है जैसा कि अधोलिखित उद्धरण से स्पष्ट होता है–

या पूर्वं पतिं विच्वाथान्यं विन्दते परम्। पञ्चौदनं तावजं ददतो न वि योषतः। समानलोको भवति पुनर्भुवाऽपरः पतिः।।[३०]

अर्थात् जब कोई स्त्री एक पति के पश्चात् दूसरे पति को प्राप्त होती है और वे दोनों पञ्चौदन अग्नि में डालते हैं तो उनका वियोग नहीं होता है तथा वह पति अपनी पुनर्विवाहिता पत्नी के साथ समान लोक में रहता है।

अतः वैदिक उद्धरणों से विधवा–विवाह या स्त्री के पुनर्विवाह आदि के पुष्ट हो जाने पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आज मानवाधिकार, महिला आयोग

---

२६. ऋग्वेद ६.६७.१०–१२
२७. तदेव १०.३६.७
२८. तदेव १०.४०.२
२६. तदेव १०.१८.८
३०. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप पृष्ठ–२८३–८४

आदि की स्थापना जिन मानवोचित स्त्री–सुलभ अधिकारों की सुरक्षा–संरक्षण–पोषण तथा प्रचार–प्रसार के लिए की जा रही है, स्त्रियों के सम्मान तथा अधिकारों की रक्षा–हेतु नित नूतन जो संशोधन अधिनियम में किये जा रहे हैं उनका आधारत्वेन स्पष्ट वर्णन वैदिक वाङ्मय में सहस्राब्दियों पूर्व कर दिया गया है। विभिन्न वर्णों में वैवाहिक सम्बन्धों की अनुमति, कन्या को पति–चयन का अधिकार, एक पत्नी विवाह को प्रोत्साहन, विधवा–विवाह का प्रचलन, बाल–विवाह का निषेध आदि ऐसे प्रबल प्रमाण है जो वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध मानवधिकारों के विविध स्वरूप का आधारत्वेन चित्रण करते हैं। आर्थिक सामाजिक मानवाधिकारों के विविध विलास–वैभव से भी वैदिकवाङ्मय सर्वथा समुल्लसित है। अपनी अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार अपने–अपने कर्म सम्पादन रूप मानवाधिकार के साथ सभी के जीने के शाश्वत अधिकार की उन्मुक्त घोषणा करते हुए **पश्येम शरदः शतम्**[३१] इत्यादि मन्त्रों के साथ ईशावास्योपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र को प्रस्तुत सन्दर्भ में उद्धृत किया जा सकता है–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।।[३२]

प्रपञ्चापन्न अल्पमति–सम्पन्न यह मनुष्य रूपी सामाजिक प्राणी अपने एक–एक मानवाधिकार के प्रति कहाँ तक सचेत रहेगा इसीलिए वैदिक ऋषियों नें सर्वहित–साधक जगन्नियता परमेश्वर को ही मानवाधिकारों की सम्यक् रक्षा–हेतु प्रार्थित कर रखा है–

यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु।

शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।।[३३]

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैदिकवाङ्मय में मानवाधिकार का विविधरूपों में जो चित्रण किया गया है वह विश्व–संस्कृति का आदर्श प्रतिमान है।

***

---

३१. यजुर्वेद ३६.२४

३२. ईशावास्योपनिषद् मन्त्र–२

३३. यजुर्वेद ३६.२२

डॉ० रीता झिंगरन
लखनऊ

वेदों में मानवाधिकार की अवधारणा

मानवाधिकार की अवधारणा नैसर्गिक अधिकारों की अवधारणा के समान प्राचीन है। मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम की धारा २ (द) के अनुसार भारत के संविधान के अन्तर्गत समानता, स्वतन्त्रता, संरक्षित जीवन, अन्तर्राष्ट्रीय घोषणापत्र एवं सन्धियों में उल्लिखित अधिकार जो भारत में स्थित न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित कराये जा सकते हैं, मानवाधिकार की परिभाषा में आते हैं।

अपरतः मानव–जीवन को सुचारु रूप से सञ्चालित करने तथा सांसारिक विघ्न बाधाओं को पार करके स्थायी सुख एवं शान्ति के क्षेत्र में प्रवेश करने की कुञ्जी वेद हैं, जिसमें मानवाधिकार के बीज रूप ही यत्र–तत्र परिलक्षित होते हैं।

समानता का अधिकार– संविधान के अनुच्छेद १५ में जाति धर्म पर आधारित भेदभाव का निषेध किया गया है–

> प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
> प्रिय सर्वस्य पश्यंत उत शूद्र उतार्ये।।[1]

अथर्ववेद के उक्त मन्त्र में सभी जीवों से बिना किसी भेदभाव से निष्पक्ष होकर सबका प्रिय बनने की प्रार्थना की गई है। अन्यत्र यजुर्वेद का एक मन्त्र है–

> दृते दृँ ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
> सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
> मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
> मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।[2]

अर्थात् हे ईश्वर! आप मुझे दृढ कीजिए। सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें और मैं भी सभी जीवों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब एक दूसरे को मित्र–भाव से देंखे। इस प्रकार अपनी आत्मा के सदृश सम्पूर्ण प्राणियों को मानना, किसी से

---

१. अथर्ववेद १९.६२.१

२. यजुर्वेद ३६.१८

द्वेष न करना और मित्र के सदृश सबका सत्कार करना समानता की व्याख्या कर रहा है।

अमानवीय व्यवहार से सुरक्षा— मानवाधिकार–घोषणापत्र की धारा–५ किसी भी व्यक्ति पर अमानवीय अत्याचार पर प्रतिबन्ध लगाती है। अमानवीयव्यवहारों से सचेत रहने के लिए मनुष्यों को क्या उचित है इसका सन्देश देता हुआ, अथर्ववेद का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

शं तंप मातिं तपो अग्ने तन्वां तपः।

वनेंषु शुष्मों अस्तु ते पृथिव्यामंस्तु यद्वरः।।[३]

अर्थात्— हे विद्वान्! किसी प्राणी को अत्याचार से मत तपा और न ही किसी के शरीर को अत्याचार से तपा। शान्ति के लिए तप कर तुम्हारा (शुष्मः) पराक्रम सेवनीय व्यवहारों में हो।

इसी सन्दर्भ में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है जिसमें अन्याय से किसी प्राणी को मारने की इच्छा नहीं करनी चाहिए यह बताया गया है—

मा नो मर्त्तां अभिद्रुंहन् तनूनां मिन्द्रं गिर्वणः।

ईशानो यवया वधम्।।[४]

अपि च—

मायाभिंरिन्द्रं मायिनं त्वं शुष्णमवांतिरः।

विदुष्टे तस्य मेधिंरास्तेषां श्रवांस्युत्तिंर।।[५]

भाव यह है कि बुद्धिमान् मनुष्यों के इस संसार में कपटी, छली और दुष्ट पुरुष वृद्धि को प्राप्त न हो, वैसा उपाय निरन्तर करना चाहिए।

मा नः शंसो अरंरुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्मयंस्य रक्षां णो ब्रह्मणस्पते।[६]

अर्थात् किसी मनुष्य को धूर्त्त, छल, कपट करने वाले मुनष्य का सङ्ग नहीं करना चाहिए और अन्याय से किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए किन्तु सभी को सभी प्राणियों की न्याय ही से रक्षा करना चाहिए।

---

३. अथर्ववेद १८.२.३६

४. ऋग्वेद १.५.१०

५. वही १.११.७

६. वही १.१८.३

संविधान के अनुच्छेद२१ में जीवन के अधिकार की व्याख्या करते हुए माननीय न्यायमूर्ति श्री पी०एन० भगवती ने बंधुआ मुक्ति मोर्चा प्रति भारत संघ (१९८४) ३ एस०सी० सी १६१ के निर्णय में यह घोषित किया कि अनुच्छेद, २१ में वर्णित जीवन के अधिकार में, जीवन को सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार भी सम्मिलित है, जिसकी पुष्टि संविधान की धारा ३६ के खण्ड 'ई' एवं 'एफ' तथा अनुच्छेद ४१ एवं ४२ से होती है।

वैदिक मन्त्रों में सम्मानपूर्वक जीवन जीने के लिए सर्वप्रथम अधर्म को त्यागने और धर्म को ग्रहण करने की प्रार्थना की गई है। प्रस्तुत मन्त्र दुराचार से सदाचार की ओर चलने के लिए प्रेरित कर रहा है:–

परिं माऽग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।

उदायुंषा स्वायुषोदंस्थाममृताँ श्अनु।।[७]

अर्थर्ववेद का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है– जिसमें मनुष्यों को सत्पुरुषों के सत्सङ्ग से अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को त्यागकर सुधारने के लिए प्रेरित किया गया है :–

उत देंवा अवंहितं देवा उन्नंयथा पुनः।

उतागंश्चक्रुषं देवा देवांजीव यंथा पुनः।।[८]

शिक्षा का अधिकार

संविधान के अनुच्छेद २१ के अन्तर्गत जीवन के अधिकार में शिक्षा का अधिकार सम्मिलित है। उपदेश के बिना किसी मनुष्य में कुछ भी ज्ञान की वृद्वि नहीं हो सकती, इससे सब मनुष्यों को उत्तम विद्या का उपदेश और श्रवण निरन्तर करना चाहिए–

या वां कशा मधुंमत्यश्विंना सुनृतांवती तयां यज्ञं मिंमिक्षतम्।।[९]

शिक्षा प्राप्ति का अधिकार पुत्र और पुत्री दोनों का है माता पिता का कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तानों को विद्या की प्राप्ति करायें। जैसे प्रकाशवान् सूर्य सबको प्रकाशित करके आनन्दित होता है वैसे ही विद्या–युक्त पुत्र और पुत्री सबको सुख देते हैं। शिक्षक के गुणों के माध्यम से उक्त तथ्य का कथन प्रस्तुत मन्त्र कर रहा है–

---

७. यजुर्वेद ४.२८

८. अथर्ववेद ४.१३.१

९. ऋग्वेद १.२२.३

म॒हे यत्पि॒त्र ईं॒ रसं॑ दि॒वे करव॑त्सरत्प्रश॒न्य॑श्चिकि॒त्वान्।

सृ॒जद॑स्ता धृष॒ता दि॒द्युम॑स्मै स्वायां॑ दे॒वो दु॑हि॒तरि॒ त्विषिं धात्।।[१०]

संविधान के अनुच्छेद २१ क में १४ वर्ष तक के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का प्राविधान है। जो संविधान के ४६ वें संशोधन वर्ष २००२ द्वारा लागू किया गया है। माननीय न्यायमूर्ति श्री भगवती ने यह घोषित किया कि अनुच्छेद २१ के अन्तर्गत जीवन के अधिकार में बच्चों के सर्वांगीण विकास–हेतु उन्हें चिकित्सा, शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएं तथा उन्नति के अवसर सम्मानजनक परिवेश में उपलब्ध कराने जैसी सुविधाओं का दिया जाना आवश्यक है।

स्त्री–शिक्षा– स्त्री–शिक्षा के सन्दर्भ में ऋग्वेद का प्रस्तुत मन्त्र इसी तथ्य को निर्दिष्ट कर रहा है:–

दध॑न्नृतं ध॒नय॑न्नस्य धी॒तिमादि॒र्यो दिधिष्व॒ो३॒ विभृ॑त्राः।

अ॑तृष्यन्तीर॒पसो॑ य॒न्त्यच्छा॑ दे॒वाञ्जन्म॒ प्रय॑सा व॒र्धय॑न्ती।।[११]

अर्थात् सबको पढ़ने का अधिकार है जैसे वैश्य धन का सञ्चय धर्म के अनुकूल करते हैं, वैसे ही कन्याएँ विवाह से पूर्व, शिक्षा और वेदादि शास्त्रों में विदुषी होकर सब सुखों को प्राप्त होती है :–

हिर॑ण्यकेशो॒ रज॑सो विसा॒रेऽहि॒र्धुनि॒र्वात॑ इव॒ ध्रजी॑मान्।

शुचि॑भ्राजा उ॒षसो॒ न वेदा॒ यश॑स्वतीरप॒स्युवो॒ न स॒त्याः।।[१२]

अर्थात् जो ब्रह्मचारिणी कन्यायें प्रातः काल के समान पवित्र विद्या, विज्ञान से युक्त, अविद्या का निषेध करने वाली अन्य विद्या आदि को पढ़ती है, वे संसार में मनुष्य जाति को संशोधित करने वाली होती हैं। अन्यत्र उपमालङ्कार के माध्यम से भी इसका उल्लेख है–

प्र शु॒क्रै॑तु दे॒वी म॑नी॒षा अ॒स्मत्सुत॑ष्टो॒ रथो॒ न वाजी।।[१३]

इस मन्त्र में विदुषियों से ब्रह्मचर्य–नियम का पालन करते हुए सब कन्याओं को विद्या पढ़ने के लिए कहा गया है।

---

१०. ऋग्वेद १.७१.५
११. वही १.७१.३
१२. वही १.७६.१
१३. ऋग्वेद ७.३४.१

पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज़ प्रति भारत संघ (२००५) एस०सी.सी ४३६ में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने (क) लिङ्ग–भेद पर आधारित अन्याय (ख) प्रदूषण (ध्वनि, वायु एवं जल प्रदूषण) (ग) पर्यावरण को क्षति पहुँचाने वाले कार्य आदि दुष्कृत्यों को मानवाधिकार का उल्लङ्घन माना है।

वृक्षों को काटने का कार्य पर्यावरण को क्षति पहुँचाता है। अतः किसी भी प्राणी को श्रेष्ठ वृक्ष अथवा वनस्पति को नष्ट नहीं करना चाहिए। ऋग्वेद का प्रस्तुत मन्त्र यही सन्देश देता है–

मा कांक॒म् बीर॒मुद वृंहो॒ वन॒स्पति॒मशंस्ती॒र्वि हि नीनंशः।[१४]

अन्यत्र अथर्ववेद के एक मन्त्र में उचित ही कहा गया है –

'जिस भूमि पर वृक्ष एवं वनस्पतियाँ सदा खड़ी रहती हैं, वह भूमि विश्व के समस्त जनों का भरण–पोषण करने में समर्थ होती है।'[१५]

भारतीय संविधान की धारा–७ में उल्लेख है कि कानून के समक्ष सभी बराबर हैं किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जायेगा। सबको उचित न्याय प्राप्त हो। न्यायासन पर बैठने वाले न्यायाधीश दोनों पक्षों (अर्थी–प्रत्यर्थी) को समझा कर प्रतिदिन यथोचित न्याय करके उन सबको प्रसन्न और सुखी करें। इस मानवाधिकार की पुष्टि ऋग्वेद के अधोलिखित मन्त्र से होती है–

योनिंष्ट इन्द्र नि॒षदें अकारि॒ तमा निषींद स्वा॒नोनार्वा।[१६]

अन्ततः वेदों में मानवाधिकार–विषयक अवधारणा के निरूपण का उपसंहार करते हुए ऋग्वेद का यह सन्देश उद्धृत किया जा सकता है–

सं गंच्छध्वं॒ सं वंदध्वं॒ सं वो॒ मनांसि जानताम्।[१७]

***

---

१४. ऋग्वेद ६.४८.१७

१५. अथर्ववेद १२.१.२७

१६. ऋग्वेद १.१०४.१

१७. वही १०.१९१.२

डॉ० वन्दना वाजपेयी
लखनऊ

वेदों में मानवाधिकार

मानवाधिकार के अन्तर्गत वे सभी अधिकार आ जाते हैं, जो मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए परमावश्यक हैं। इस सन्दर्भ में विधिशास्त्री 'हैराल्ड लास्की' के द्वारा प्रदत्त अधिकार सम्बन्धिनी परिभाषा अवलोकनीय है– "अधिकार मानव जीवन की ऐसी परिस्थितियां हैं जिनके बिना सामान्यतया कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता।" संयुक्त राष्ट्रमहासभा ने १० दिसम्बर १९४८ को मानवाधिकार की सार्वभौमिक घोषणा की। इसके बाद विभिन्न राष्ट्रों ने सदस्यता के रूप में इसका अनुसरण किया, आज अन्ताराष्ट्रिय मानवाधिकार आयोग कार्य कर रहा है और प्रायः प्रत्येक देश में एतत्सम्बद्ध आयोग का गठन किया जा चुका है।

भारत में मानवाधिकार आयोग का पूर्णतया गठन १२ अक्टूबर १९९३ ई० को किया गया । यह राष्ट्र–स्तरीय आयोग है, मानवाधिकारों को प्रायः दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है, १– नागरिक अथवा राजनैतिक अधिकार, २– आर्थिक और सामाजिक अधिकार। इसके अन्तर्गत अनेक प्रकीर्ण अधिकार भी आते हैं, यथा–स्त्रियों के अधिकार, बालकों के अधिकार, आत्मनिर्णय का अधिकार, विकास का अधिकार, प्रत्येक धर्म की असहिष्णुता समाप्त करने का अधिकार, प्रवासी जनसुरक्षाधिकार, अल्पसङ्ख्यक–सुरक्षाधिकार, प्राविधिक विकास–विषयक अधिकार, अमानवीय व्यवहारों से सुरक्षा का अधिकार, अस्पृश्यता–उन्मूलन का अधिकार, सभी को सुख–सुविधा प्राप्त करने का अधिकार आदि।

जैसा कि सभी जानते हैं कि भारतवासियों को छः मूल अधिकार प्राप्त हैं– १. समानता का अधिकार, २. स्वतन्त्रता का अधिकार, ३. शोषण के विरुद्ध अधिकार, ४. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, ५. सांस्कृतिक तथा शिक्षा का अधिकार, ६. संवैधानिक उपचारों का अधिकार। स्वतन्त्र भारत में इन अधिकारों का पूरा पालन होता है। ठीक इसी तरह मानव मात्र के कल्याण के लिए प्रभु–प्रदत्त अधिकारों का भी अनुपालन करना आवश्यक है। यद्यपि प्राचीन संस्कृत–वाङ्मय मानवाधिकार –परक वाक्यों से ओत–प्रोत है परन्तु इस सन्दर्भ में राजकीय स्तर पर बहुत बाद में विचार किया गया है। पवित्र वेदों को ईशवाणी स्वीकार किया गया है। इसलिए स्वतः सिद्ध है कि यह अधिकार – प्रभु–प्रदत्त अधिकार है जो अटल है, अमर है,

जिसका अनुपालन करना मानव मात्र का कर्तव्य है। वेदों में प्रोक्त मानवाधिकार को अधोलिखित रूप में देखा जा सकता है–

१. सबको सुखी रहने का अधिकार–

वेदों की महनीयता इसी बात पर उभर कर संसार भर को आकर्षित करती है कि वह किसी एक जाति, एक समुदाय, एक धर्मानुयायी के सुख की कामना नहीं करता है। उसकी प्रभुतापूर्ण वाणी में हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, नर–नारी यहाँ तक कि प्रत्येक जीव जन्तु आदि में कोई भेदभाव नहीं है।

२. मानव–मात्र में समानता का अधिकार–

संसार की रचना करने वाले परमात्मा ने सबको समानता का अधिकार दिया है कि हे मानव! तुम सब साथ मिलकर चलो, आपस में बातें करो तो मधुर वाणी का प्रयोग करो, आपसी विचार समान रूप से जन कल्याणकारी हों। जिस प्रकार पहले के श्रेष्ठ लोग अपना–अपना हिस्सा समझकर अपनी–अपनी जिम्मेदारियों को स्वीकार करके अपने–अपने कार्य में समान रूप से लग गये, ठीक उसी तरह तुम भी समान रूप से जुट जाओ, इस सन्दर्भ में स्मरणीय एवं अनुकरणीय मन्त्र यह है :–

संगच्छध्वं संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते।।[1]

३. स्वतन्त्रता का अधिकार

सौभाग्य से आज हम स्वतन्त्र भारत में जन्में है इसलिए परतन्त्रता के दुःखदायी सङ्कट से पूर्णरूपेण परिचित नहीं हैं किन्तु हम पढ़े लिखे हैं, इतिहास का दर्पण हमारे सामने हैं, साथ ही इतना तो अनुमान लगाना आसान ही है कि विदेशी शासक सज्जन हो या दुर्जन उसका बस एक ही लक्ष्य रहता है – कि अपने अधीन देशों का सदा शोषण करते रहना। यह भारत देश कभी देवताओं की मदद करने में समर्थ था। किन्तु विदेशी आक्रान्ताओं ने इस तरह से खोखला करके निरीह बना दिया था कि देशवासियों का जीवन दुर्दशापूर्ण हो गया था–

स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है इस सन्दर्भ में निम्न पवित्र वेद मन्त्र अनुपालनीय है।

यस्य ते नू चिदादिशं न मिनन्ति स्वराज्यम्।

न देवो नाध्रिगुर्जनः।।[2]

---

१. ऋग्वेद १०.१९१.२, अथर्ववेद ६.६४.१

२. ऋग्वेद ८.९३.११

अर्थात् हे परमात्मा तेरे आदेश रूप स्वराज्य को कोई कभी भी नहीं रोक सकता है, न कोई देवता और न कोई अजेय शक्ति।

सार यह है कि चाहे कोई देवता हो या कोई असीम शक्तिशाली व्यक्ति, वह मानव की स्वतन्त्रता की भावना को दबा ही नहीं सकता। किन्तु समाज के शोषक वर्ग अपने स्वार्थ में राष्ट्र की स्वतन्त्रता को सफल नहीं होने देते। इसलिए वैदिक ऋषियों ने शोषक जैसे दुष्कर्मियों को राक्षसों से भी हीनतर कहकर उनकी तीक्ष्ण स्वर में भर्त्सना की है।

४. शोषण के विरुद्ध अधिकार–

जिस तरह मजबूत लकड़ी को दीमक अन्दर से ही चाटकर खोखला कर देता है, उसी तरह समाज के स्वार्थी–शोषक वर्ग मजबूत एवं प्रगतिशील राष्ट्र को चाटकर खोखला कर देते हैं। इसलिए ऋषियों ने निम्न वेद मन्त्रों के माध्यम से प्रार्थना की है कि –

ता म॒हान्ता॒ सद॒स्पती॒, इन्द्रा॑ग्नी॒ रक्ष॑ उब्जतम्।

अप्र॑जाः सन्त्व॒त्रिण॑ः।।[3]

अर्थात् हे महान् सभागृह के रक्षक, इन्द्र और अग्नि देव! इन राक्षसों (दुष्टों) को (सभागृह से) बाहर करें ऐसे स्वार्थी एवं शोषक मनुष्य सन्तानहीन होकर नष्ट हो जायें।

शोषक एवं दुराचारी वर्ग को इनकी अनिष्टताओं के कारण समाज से निकालने और नष्ट करने का आदेश दिया गया है, भारतीय संविधान में भी इनके विरुद्ध हमें मूल अधिकार दिया गया है। इसके साथ ही पवित्र वेदों ने स्पष्ट शब्दों में सचेत किया है :–

ई॒शा वा॒स्य॒मि॒दं सर्व॒ यत् किञ्च॒ जग॑त्यां जग॑त्।

तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒, मा गृ॑धः कस्य॑स्वि॒द् धन॑म्।।[4]

अर्थात् इस संसार में (चर–अचर) जो कुछ भी है वह सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है। अर्थात् ईश्वर का ही है इसलिए उस ईश्वर के द्वारा दिये गये जगत् की सम्पूर्ण सम्पत्ति का त्यागपूर्वक उपभोग करें। किसी के भी धन के प्रति किसी भी तरह का कोई लालच न करें।

---

३. ऋग्वेद १.२१.५

४. यजुर्वेद ४०.१

५. जीविकोपार्जन–हेतु धन कमाने का अधिकार–

इस सन्दर्भ में अधोलिखित वेद मन्त्रों पर ध्यान देना आवश्यक है –

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः।।[५]

अर्थात् देवता यज्ञकर्त्ता या कर्मठ (व्यक्ति) को ही चाहते हैं, आलसी को नहीं चाहते है। पुरुषार्थ से युक्त व्यक्ति ही श्रेष्ठ आनन्द प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य यह है कि अपने पौरुष–पराक्रम से ही धनार्जन करना उचित है। संसार भी पुरुषार्थी को ही चाहता है और परमात्मा भी पुरुषार्थी से ही प्रेम करता है। निष्क्रिय, अकर्मण्य और आलसी को न संसार चाहता है और न परमेश्वर ही चाहता है। अतः, पवित्र वेद–मन्त्रों के द्वारा मानव–समाज को यह सुझाव दिया जा रहा है कि –

स रत्नं मर्त्यो वसु, विश्वं तोकमुत त्मना।
अच्छा गच्छत्यस्तृतः।।[६]

अर्थात् अधिक परिश्रमी व्यक्ति ही अपने पुरुषार्थ से रत्नों को, सभी प्रकार के धन और सन्तान को ठीक ढ़ग से प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि मानव को अपने पुरुषार्थ से अतुल धन–सम्पत्ति कमाने का अधिकार है, किन्तु ध्यान रहे कि मन्त्र में 'अस्तृतः' का प्रयोग करके बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है कि वेद आदेश समझकर वह धन कमाने के लिए अनुचित साधन न अपनायें, केवल उचित तरीके से ही धन कमायें और दूसरों का शोषण न करें।

६. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार–

जैसा कि सभी जानते हैं कि विश्व का शायद ही कोई ऐसा धर्म हो जो भारत में न हो, चूँकि भारत शताब्दियों से उदार रहा है, इसलिए हमारा संविधान भी उदारता का परिचायक है, जिसकी दृष्टि में समस्त धर्म बराबर हैं। इस सन्दर्भ में वैदिक ऋषियों ने इस धरती पर धार्मिक एकता को दृढ बनाये रखने की दिशा में यह प्रार्थना की है –

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवि यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहा ध्रुवेव धेनूरनपस्फुरन्ती।।[७]

---

५. ऋग्वेद ८.२.१८

६. वही १.४१.६

७. अथर्ववेद १२.१.४५

अर्थात् अनेक प्रकार से विभिन्न भाषा बोलने वाले और विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोगों को एक परिवार के तुल्य धारण करने वाली पृथिवी निश्चल एवं न बिदकने वाली गाय की तरह हमें ऐश्वर्य की सहस्रों धारायें प्रदान करे।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पृथिवी भाषा–भेद से या धर्म–भेद से किसी के साथ किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं करती है। उसी प्रकार इस पृथिवी पर रहने वाले हर मानव का नैतिक कर्त्तव्य होता है कि वे भाषा और धर्म के आधार पर कोई भेदभाव न करें।

७. सांस्कृतिक तथा शिक्षा का अधिकार–

यथार्थ तो यह है कि हमारा भारत विविध संस्कृतियों, विविध ग्रन्थों, विविध बोलियों, विविध मानव जातियों और विविध प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं का एक बहुत बड़ा सङ्ग्रहालय है। इतनी विभिन्नताओं के साथ यह आश्चर्यजनक बात है कि सबको समान रूप से अपनी–अपनी संस्कृतियों का, अपने–अपने धर्मों का और अपने धर्मानुसार शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार है। इस सन्दर्भ में किसी भी तरह की कोई विवशता नहीं हैं। पवित्र वेदों की महिमा अपरम्पार है, जिनके मन्त्रों से ज्ञात होता है कि वेद पढ़ना किसी के लिए मना नहीं बल्कि आवश्यक रूप से सभी वेद पढ़े और उसी के अनुसार आचरण करें यह आदेश मिलता है हमारे पवित्र वेदों में, जिससे समाज का हर वर्ग एकता के सूत्र में बंधा रहे और परस्पर प्रेम बना रहे। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत मन्त्र अवलोकनीय है –

यथेमां वाचं कल्याणीम्, आवदानि जनेभ्यः

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ।।[८]

अर्थात् इस कल्याणकारी पवित्र वेद वाणी का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आत्मीय (अपने सेवक आदि) और पराये (असम्बद्ध विदेशी) आदि सभी लोगों को उपदेश दें।

तात्पर्य यह है कि परमेश्वर ने मानवमात्र के कल्याण के लिए वेद–ज्ञान दिया है क्योंकि मन्त्रों में **कल्याणीम् वाचम्** अर्थात् कल्याण करने वाली वाणी कहा गया है। जीवन को प्रगतिशील, प्रकाशमय और सुखी बनाने के लिए वेद ही एक सर्वोत्तम साधन है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि समस्त धर्मों का मूल वेद है। वेद से ही ज्ञान की प्रतिष्ठा है –

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ।[९]

---

८. यजुर्वेद २६.२

९. मनुस्मृति २.६

सर्वज्ञानमयो हि सः।।[१०]

८. अपने देश की धरती के प्रति मर मिटने का अधिकार–

जिस देश की धरती से हमारा प्रति–पल पल्लवन हो रहा है, जिस देश की धरती पर हम अपना मानसिक, शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, विकास कर रहे हैं, उस धरती के प्रति हमें अपना तन–मन–धन सब कुछ न्यौछावर कर देने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। हमारे पवित्र वेदों ने अपने देश की धरती पर बलिदान हो जाने का अधिकार सबको दिया है। हमारे मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस सन्दर्भ में प्रार्थना करते हैं कि–

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।

दीर्घं न आयुः प्रति बुध्यमाना, वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।।[११]

अर्थात् हे पृथिवी! तुम्हारी गोद में रहते हुए हम सब नीरोग एवं क्षय आदि रोगों से रहित (स्वस्थ) हों; तुम्हारी सन्तान अर्थात् तुझसे पैदा होने वाली हर वस्तु हमारे लिए हर तरह से हितकर हो, हमारी आयु लम्बी हो, हम हर तरह से जागरूक रहते हुए तेरे लिए बलिदान हों।

किन्तु अकेले ही बलिदान हो जाने से धरती की सुरक्षा तो असम्भव है इसके लिए तो शूर–वीरों के समूहों की आवश्यकता होती है। पर्याप्त धन सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, इसके लिए यह आदेश मिलता है कि–

ये युध्यन्ते प्रधनेषु, शूरासो ये तनूत्यजः।

ये वा सहस्र–दक्षिणाः, तांश्चिदेवापि गच्छतात्।।[१२]

अर्थात् हे वीरों! जो शूरवीर सङ्ग्रामों में युद्ध करते है, जो युद्ध में अपने प्राण तक दे देते हैं और जो यज्ञों में सहस्रों रुपये दान देते है उनके पास तुम जाओ और राष्ट्रहित में उनसे सहयोग माँगो।

६. सबको निर्भय रहने का अधिकार–

जब बुद्धि अपने विवेक से काम नहीं लेती है तो मन उसे भयङ्कर पाप के दलदल में पहुँचा देता है, जहाँ से निकल पाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं होता और हृदय में जहाँ पाप भावना आयी, वहीं भय को स्थान मिल जाता है। ऐसी ही भयावह स्थिति से उबारने के लिए वैदिक ऋषियों ने उपदेश किया है –

---

१०. वही २.७

११. अथर्ववेद १२.१.६२

१२. ऋग्वेद १०.१५४.३, अथर्ववेद १८. २. १७

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।

शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।।[13]

अर्थात् हे परमेश्वर! आप जिधर से चाहते हो, उधर से हमें निर्भय करें (अर्थात् हमें सभी ओर से निर्भय करो) हमारी सन्तानों को सुख प्रदान करो, हमारे पशुओं को निर्भय करो, अर्थात् कोई उनकी हिंसा न कर सकें।

आशय यह है कि भय–निवारण का सुगम उपाय है आस्तिकता की भावना को जागृत करना, इसके पश्चात् मन और बुद्धि अपने पालनहार के अस्तित्त्व को स्वीकार कर लेते है और जहाँ प्रभु के अस्तित्त्व का ध्यान आया वहीं आत्मिक बल जाग उठता है और फिर बुरे कर्मों से अपने आप ही घृणा होने लगती है जिससे मानवता की हत्या अपने आप रुक जाती है।

असामाजिक तत्त्वों से एवं बुरी तथा आक्रान्तकारी स्थितियों में भी सबको निर्भय रहने का अधिकार पवित्र वेदों ने दिया है :–

मा भेर्मा संविक्था ऊर्जं धत्स्व, धिषणे वीड्वी सती वीडयेथाम्

मूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः।।[14]

अर्थात् हे मानव! तुम न डरो, न कांपो और प्रार्थना करो, और अपने अन्दर शक्ति (साहस) धारण करो। हे द्युलोक और पृथिवी, तुम दोनों दृढ़ हो, (और) तुम हमें दृढ़ता प्रदान करो। हमें शक्ति दो। हमारे पाप नष्ट हो सद्गुण नहीं।

१०. सङ्गठन बनाने का अधिकार–

कहा गया है कि "सङ्घे शक्तिः कलौ युगे" इस कलयुग में वास्तविक रूप में सङ्गठन में ही शक्ति है और सङ्गठन से ही राष्ट्र की प्रगति सम्भव है। यदि सङ्गठन बनाना है तो मन की एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि यदि लक्ष्य भी समान हो, समान हृदय भी हों और आपसी मन क्रियाशील न हों तो सङ्गठन सुदृढ़ नहीं हो सकता। इन्ही सब बातों को ध्यान में रखते हुए पवित्र वेदों के माध्यम से यह अधिकार दिया गया है कि –

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति।।[15]

---

१३. यजुर्वेद ३६.२२

१४. यजुर्वेद ६.३५

१५. ऋग्वेद १०.१९१.४, अथर्ववेद ६.६४.३

अर्थात् (हे सङ्गठन चाहने वाले मानव!) तुम्हारे सङ्कल्प समान हों। तुम्हारे हृदय समान हों। तुम्हारे मन समान हों, जिससे तुम्हारा सङ्गठन सुदृढ प्रवाह हो।

किन्तु आजकल देखा जा रहा है कि भावनाओं के प्रवाह में उत्साह में आकर सङ्गठन तो बना लिया जाता है परन्तु इस सङ्गठन का स्थायी बना रहना धीरे–धीरे दुष्कर हो जाता है इसलिए वैदिक ऋषियों ने सुझाव दिया है कि हमारे सङ्गठन सुदृढ रहें इसके लिए ईश्वर से निरन्तर प्रार्थना करते रहना चाहिए, जिसके लिए यह मन्त्र द्रष्टव्य है –

मनों मे तर्पयत्, वाचं मे तर्पयत प्राणं में तर्पयत् चक्षुंर्मे तर्पयत,
श्रोत्रं मे तर्पयतात्मांनं मे तर्पयत, प्रजां में तर्पयत पशून् मे तर्पयत
गणान् मे तर्पयत, गणा मे मा वितृंषन्।[१६]

अर्थात् हे देवो! मेरे मन को, मेरी वाणी को, मेरे प्राणों को, मेरे नेत्रों को, मेरे कानों को, मेरी आत्मा को, मेरी सन्तान को, मेरे पशुओं को और मेरे सङ्गठनों को तृप्त करो। मेरे सङ्गठन कभी विरक्त न हों अर्थात् हमारे सङ्गठन मे आपसी फूट न पड़े।

अतः वेद–प्रदत्त मानवाधिकारों का हनन मानवीय, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सभी दृष्टियों से तथा सभी प्रकार से वर्जनीय है, यह मानवीय गरिमा तथा उसके अस्तित्व के विपरीत है, अतः इस सम्बन्ध में विरोधाभासों को समाप्त करके सभी मानवाधिकारों की प्राप्ति में सम्यक् सहयोग प्रदान करना चाहिए, क्योंकि वेद–प्रदत्त पवित्र मानवाधिकारों का कर्त्तव्यों की भॉति ही अनुपालन मानव–मात्र का परम कर्त्तव्य है और इसी में समस्त विश्व का कल्याण निहित है।

***

---

१६. यजुर्वेद ६.३१

डॉ० नीलम त्रिवेदी
कानपुर

वेदमन्त्रों में निहित मानवाधिकार

मानव अधिकार ऐसे अधिकार होते हैं जो प्रत्येक मानव को जन्मजात प्राप्त होते हैं और उसके जीवन के अभिन्न अङ्ग होते हैं इनकी प्राप्ति में जाति, लिङ्ग, धर्म, भाषा, रङ्ग तथा राष्ट्रीयता बाधक नही होती। ये अधिकार मानव जीवन और विकास के लिए आधारभूत होते हैं। मानव अधिकार को मूलाधिकार, आधार भूत अधिकार, नैसर्गिक अधिकार, अन्तर्निहित अधिकार भी कहा जाता है। मानव अधिकार की कोई सर्वमान्य विश्वव्यापी परिभाषा नहीं है, इसलिए राष्ट्र इसकी परिभाषा अपनी सुविधानुसार देते हैं। "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना कोई भी मनुष्य अपना पूर्ण विकास नहीं कर पाता और ये अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को नस्ल, जाति, धर्म, भाषा, लिङ्ग तथा रङ्ग आदि के आधार पर बिना भेदभाव के मिलने चाहिए।" पर यह भी सत्य है कि ऐसे अधिकारो के उपयोग के लिए उचित शासन व्यवस्था एवं सामाजिक दशाओं का होना अनिवार्य है।

कोई भी देश तभी प्रगति कर सकता है जब उस देश के नागरिक आत्मविकास, समानता एवं बिना किसी भेदभाव के पूर्ण समृद्धि, सुख एवं वैभव से पूर्ण होंगे। नागरिक अधिकार मानव को तभी प्राप्त हो सकेगें जब उस देश की शासन–प्रणाली निरपेक्ष एवं सुव्यवस्थित हो। उत्तम शासन व्यवस्था हो। अतः नागरिक अधिकार एवं व्यवस्थित शासन प्रणाली अन्योन्याश्रित है। देश के निवासियों के अज्ञान एवं असमानता को समाप्त कर मानवीय एवं न्यायिक आधार पर मानवों की मूल आवश्यकताओं के अनुरूप गरिमायुक्त जीवन यापन करने की माँग ही मानवाधिकार है।

संयुक्त राष्ट्र सङ्घ द्वारा १० दिसम्बर १९४८ को सार्वभौमिक मानव अधिकारों का एक घोषणा पत्र स्वीकार किया गया। इस घोषणा पत्र में सभी मनुष्यों और सभी राष्ट्रों के लिए समान स्तर की उपलब्धि तथा सभी राष्ट्रों से मानव अधिकारों तथा स्वतन्त्रता को प्रभावी ढ़ङ्ग से लागू करने का आग्रह किया गया है। घोषणापत्र में कहा गया है कि 'सभी मानव स्वतन्त्र है तथा उनकी गरिमा और अधिकार समान हैं।"

विश्व की ज्वलन्त समस्याओं में मानवाधिकार एक मुख्य समस्या है। विश्व के

सभी देश इस समस्या को अपने स्तर पर निपटाने का प्रयास कर रहे हैं। एक ओर मानवाधिकारों के लिए सङ्घर्ष चल रहा है तो दूसरी ओर मानवता–विरोधी सङ्गठनों ने अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए इसका दुरुपयोग आरम्भ कर दिया है। ये सङ्गठन वर्ग, जाति, धर्म के आधार पर निर्मित हैं। ये लोग खुले रूप से मानवाधिकारों का उलङ्घन कर रहे हैं। इस समस्या से मुक्ति के लिए हम अपनी सरकार और सरकारी प्रशासन की ओर देखते हैं, पर सरकार कभी किसी समस्या का विकल्प नहीं हो सकती।

एक सामान्य नागरिक जिस राज्य में रहता है उसमें मूलभूत आवश्यकताओं के रूप में रोटी, कपड़ा और मकान के साथ वह स्वतन्त्रता, सुरक्षा, जीवन, समानता, शिक्षा एवं आत्म–सम्मान का अधिकार चाहता है। पर सत्य तो यह है कि आज ६० वर्षों के बाद भी भारत में मानवाधिकार उलङ्घन की घटनाओं में कोई अन्तर नहीं आया है।

कुछ विद्वान् मानवाधिकार की अवधारणा को पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की देन मानते हैं, किन्तु लेखिका इससे सहमत नहीं है। भारत प्राचीन काल से ही मानवता एवं मानवाधिकारों का संवाहक रहा है।

भारत की सभ्यता एवं संस्कृति पाँच हजार वर्षों से भी अधिक प्राचीन है। प्राचीन भारत में धर्म की अवधारणा में ही व्यापक मानवीय सामाजिक व्यवस्था के रूप में मानव अधिकारों पर विचार किया गया था। प्राचीन भारत में सनातन धर्म का विधान न केवल धार्मिक एवं नैतिक विधान था, अपितु राजा के व्यवहार, दण्ड–विधान आदि को भी नियन्त्रित करता था। वह भी साधारण नागरिक की भाँति कानून के प्रति उत्तरदायी था। वेद, उपनिषद, गीता, आदि भारतीय ग्रन्थों ने इस बात पर बल दिया कि 'सत्य एक है' तथा परमात्मा सभी आत्माओं में विद्यमान रहता है। श्रीमद् भगवद्गीता मानव को उसके 'कर्त्तव्य पालन' करने का सन्देश देती है। अस्तु, संस्कृत–वाङ्मय में अधिकारों के साथ कर्त्तव्य का भी वर्णन प्राप्त है। एक का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य बन जाता है। जहाँ अधिकार है वहाँ कर्त्तव्य भी है। महाभारत का तो यह सूत्र वाक्य ही है कि "मनुष्य से बड़ा कुछ भी नहीं है।" आज जिन मानवाधिकारों की बात सम्पूर्ण विश्व कर रहा है, विभिन्न स्तरों पर अनेक प्रयास किये जा रहे हैं उसके सिद्धान्त की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा संस्कृत वैदिक वाङ्मय में वर्णित हैं।

समानता का अधिकार–

भारतीय संविधान के अनुच्छेद १४, १५, १६ में समानता के अधिकार का वर्णन किया गया है। विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में इसका वर्णन मिलता है। समानता के अधिकार पर ऋग्वेद में वर्णन है जिसमे प्रत्येक नागरिक में परस्पर

समभाव हो और कोई किसी से अपने को ज्येष्ठ या कनिष्ठ न समझे –

ते अंज्येष्ठा अकंनिष्ठास उद्भिदोऽमंध्यमासो महंसा वि वांवृधुः।
सुजातासों जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छां जिगातान।।[1]

अर्थात् मननशील नागरिकों में न कोई ज्येष्ठ, न कोई छोटा और न कोई मध्य है।

ऋग्वेद के इस मन्त्र में इस कथन की पुष्टि की गयी है कि देश के नागरिकों में परस्पर बड़े या छोटे की भावना नहीं होनी चाहिए। समान रूप से प्रयत्नशील होते हुए राष्ट्र की उन्नति में तत्पर होना चाहिए। ईश्वर से यह प्रार्थना की गयी है कि इस प्रकार की भावना जनमानस में अधिकाधिक रूप में व्याप्त हो। ऐसे ही मनुष्य राष्ट्र के सामूहिक हित की कामना को पूर्ण करने में क्षम हो सकते हैं।

इस प्रकार की उदात्त भावना का कुछ रूप हमें अपने देश के संविधान की प्रस्तावना में भी दृष्टिगोचर होता है–

"हम भारत के लोग भारत के लिए एक सम्पूर्ण, प्रभुता–सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली, बन्धुत्व बढ़ाने वाली अपनी इस संविधान–सभा में इस संविधान को अङ्गीकृत, अधिनियमित और अत्मार्पित करते हैं"

अनुच्छेद १४ के अनुसार भारत के राज्य क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष सानता या संरक्षण से वञ्चित नहीं करेगा। इसके द्वारा राज्य पर बन्धन लगाया गया है कि वह सभी व्यक्तियों के लिए एक सा कानून बनायेगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा।

स्वतन्त्रता का अधिकार

अनुच्छेद १६ के अनुसार भारतीय संविधान का उद्देश्य विचार और अभिव्यक्ति की स्वतत्रन्ता, विश्वास, धर्म, उपासना की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करना है, अतः संविधान द्वारा नागरिकों को विधिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई हैं। शासन में न्याय–व्यवस्था का महत्त्व सर्वोपरि होता है। जब न्याय की उचित व्यवस्था होती है तभी व्यक्ति स्वतत्रन्ता–पूर्वक जीवन निर्वाह कर सकता है। ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में एक मन्त्र आया है–

---

१. ऋग्वेद ५. ५६. ६

अभिष्टने ते अद्रिवो यत्स्था जगंच्च रेजते।

त्वष्टा चित्तवं मन्यव इन्द्रं वेविज्यतें भियार्चन्ननुं स्वराज्यंम्।।[2]

जिस प्रकार सूर्य के संयोग से ब्रह्माण्ड के अनेक पिण्ड अपने–अपने कक्ष में विचरण करते हैं। उनमें किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होती, उसी प्रकार उत्तम शासन में न्यायाधीश अधिकारियों की स्थित हो। उन्हीं के सुप्रबन्ध और उत्तम न्याय व्यवस्था से राज्य में सर्वत्र उत्तम शासन एवं व्यवस्था हो।

सुरक्षा का अधिकार–

सुरक्षा के अधिकार के लिए अनिवार्य है कि दुष्ट शक्तियाँ अर्थात् असामाजिक तत्त्व समाज में प्रभावशाली न हों। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद मे जगन्नियन्ता परमात्मा से प्रार्थना की गयी है–

रक्षामाकिंर्नो अघशंस ईशत मा नों दुःशंसं ईशत।[3]

अर्थात् हे परमेश्वर! हमारी रक्षा करो, कोई भी पापी, दुष्ट हम पर शासन न कर सके। यहाँ पर जहाँ एक ओर चोर एवं अपराधियों से राजकीय अधिकारियों को सावधान रहने का उपदेश है वहीं जनसाधारण की सुरक्षा– हेतु इस सम्भावना से परिचित कराया गया है कि अधिकारी, नेता पदलोलुपता एवं स्वार्थवश देश में अराजकता उत्पन्न कर सकते हैं, अतः ईश्वर से प्रार्थना है कि किसी भी अवस्था में दुष्ट, दुराचारी शक्तियाँ, प्रजा के साथ किसी प्रकार का अन्याय न कर सकें।

शिक्षा का अधिकार–

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ४१ एवं ४५ में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार वर्णित किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार है। शिक्षा कम से कम प्रारम्भिक और मौलिक अवस्थाओं में निःशुल्क होगी। शिक्षा का उददेश्य मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास तथा मानव अधिकारों एवं मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की पुष्टि है। ऋग्वेद में शासक (इन्द्र) से प्रार्थना की गयी है–

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्रगोरंसिदुरो यवंस्य वसुंन इनस्पतिंः।

शिक्षा नरः प्रदिवो अकांमकर्शनः सखा सखिंभ्यस्तमिदं गृणीमसि।।[4]

शासक को राष्ट्र में शिक्षा का प्रचार करना चाहिए शिक्षा राष्ट्र को समृद्ध बनाती है।

---

२. ऋग्वेद १. ८०. १४

३. अथर्ववेद १६. ४७. ६

४. ऋग्वेद १. ५३. २

जीवन का अधिकार–

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २१ मे "किसी भी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतन्त्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वञ्चित किया जायेगा अन्यथा नहीं"। जीवन का अधिकार मानव जाति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार है। जीवन के अधिकार में तीन अधिकार प्रदान किये गये है जीवन, स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वाधीनता और वैयक्तिक सुरक्षा का अधिकार है। वेदों में भ्रूण–हत्या का निषेध है। गर्भ रक्षा के लिए रक्षोहा औषधि का वर्णन प्राप्त होता है–

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भम् दुर्णामा योनिमाशयें।।[५]

समान न्याय का अधिकार

देश के प्रत्येक नागरिक को समान न्याय मिले इसके लिए न्याय–व्यवस्थापक (सारमेय) को सम्बोधित करते हुए कहा गया है–

स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुनः सर।
स्तोतृनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान् दुच्छुनायसें निषु स्वप।।[६]

हे न्याय व्यवस्थापक! तू चोरी और निन्दनीय कार्य करने वाले डाकू के समीप पहुँच और उसको पकड़। दण्ड व्यवथापक अधिकारियो के लिए आवश्यक है कि इस प्रकार की सुव्यवथा करें कि निर्दोष व्यक्ति को तनिक भी कष्ट न हो। प्रजा सुख समृद्धि का उपयोग करे।

ऐसा ही एक मन्त्र अथर्ववेद में भी आया है–

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्यां उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।।[७]

जिस देश में मननशील विद्वानों के मध्य के उच्चता, निम्नता के भाव रहने पर भी अत्यधिक समता और मैत्री भाव है उस देश का नागरिक विभिन्न सम्प्रदायों में सहज भेद भाव होते हुए भी निर्वेद भाव से प्रगति कर सकता है।

---

५. ऋग्वेद १०. १६२. १
६. वही ७. ५५. ३
७. अथर्ववेद १२. १. २

आत्मिक विकास का अधिकार–

जिस प्रकार आकाश में तत्त्वों की गति सामान्य होती है उसी प्रकार जिस राष्ट्र में समस्त जनसमुदाय को सामान्य रूप से गति करने का अवसर प्राप्त होता है उस राष्ट्र में हम तेज व पराक्रम को धारण करें अर्थात् सामूहिक उन्नति एवं विकास को प्राप्त हों–

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायभिरन्वचरन् मनीषिणः।

यस्या हृदयं परमे व्योऽमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।

सा नो भूमिस्त्विषं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।।[८]

समृद्धि का अधिकार

जिस प्रकार दिव्यगुण–युक्त विद्वज्जन धन, बुद्धि, शारीरिक एवं मानसिक पराक्रम को धारण करते हैं उसी प्रकार हम लोग भी सामूहिक वीरता आदि गुणों को प्राप्त करें, जिनका हम व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से सम्यक् उपयोग कर सकें। इस प्रकार के शासन में समस्त नागरिक बिना किसी भेदभाव के पूर्ण समृद्धि, सुख, एवं वैभव का अनुभव कर सकते है –

नहि नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्या परः।

तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि सन्दधुरर्चन्ननु स्वराज्यम्।।[९]

प्राकृतिक सम्पदा के उपयोग का अधिकार

ऋग्वेद के अधोलिखित मन्त्र में "नः अपृणन्तः" शब्द आया है जिसका अर्थ है हमें वास्तविक सम्पदाओं एवं सुख सामग्री से वञ्चित न किया जाय–

विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः।

अपव्रतान्प्रसवे वावृधानान् ब्रह्मद्विषः सूर्याद्यावयस्व।।[१०]

प्रस्तुत मन्त्र का आशय है कि जो व्यक्ति सम्पत्ति का इस प्रकार उपयोग करे जिससे समाज को हानि हो, जो स्वयं ही सम्पत्ति का अतिशय भोग करते है जो सत्य अहिंसा एवं, उन्नति करने वालों से द्वेष करते हैं ऐसे अपराधियो को सूर्य के प्रकाश से वञ्चित कर देना चाहिए। यहाँ अपराधियों के लिए कठोर दण्ड का प्रावधान है। प्राकृतिक सम्पदाओ से समाज को वञ्चित करना भङ्कर अपराध है।

---

८. अथर्ववेद १२.१.८

९. ऋग्वेद १.८०.१५ अथर्ववेद ३.२६.२ का भी यही अभिप्राय है।

१०. ऋग्वेद ५.४२.९

सूर्य संसार की समस्त शक्तियों का प्रेरक एवं उद्‌बोधक देवता है। उसके प्रकाश से प्रत्येक जङ्गम पदार्थ को गति मिलती है। उसके प्रभाव का अभाव हो तो प्राणी क्षणमात्र भी जीवन धारण नहीं कर सकेगा। इस प्रकार वेदों में कठोर दण्ड देने का प्रावधान था। कठोर दण्ड के भय से समाज में अपराध स्वयं समाप्त हो जायेंगे।

अस्तु, वेद सत्य ज्ञान की अप्रतिम राशि है, जिनमें त्रिकाल सत्य–सिद्धान्तों का समावेश है। उनमें जो कुछ भी प्रोक्त है वह भूतकाल में सत्य था, वर्तमान में सत्य है, तथा भविष्य मे सत्य रहेगा। मानव–जीवन का आदर्श रूप में निर्वाह करने के लिए उनमें समस्त सिद्वान्तों का बीज रूप में समावेश है।

गीता मे भगवान् श्री कृष्ण ने मानव को उसके कर्त्तव्य पालन की ओर प्रेरित किया है।[१०] सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय कर्त्तव्य एवं सदाचार से ओत–प्रोत है। संस्कृत वाङ्मय के अथाह महासागर से किसी एक ग्रन्थ पर भी चिन्तन, मनन किया जाय तो मानवाधिकार एवं मानव कर्त्तव्य की समस्या समाप्त नही होगी तो एक दिशा अवश्य प्राप्त कर लेगी।

अधिकारों का कर्त्तव्य से बड़ा धनिष्ठ सम्बन्ध है

यजुर्वेद के मन्त्र[११] में सभी वर्णो को अपने कर्त्तव्य पालन मे पूर्णतः प्रवृत रहने का आदेश है। मानव धर्म की अवहेलना के कारण कर्त्तव्य शब्द का आविर्भाव हुआ जिसमें संविधान मे नागरिकों के १० मूल कर्त्तव्यों को भी जोड़ा गया।

१९५० मे लागू किये गये भारतीय संविधान में नागरिकों के केवल अधिकारों का ही उल्लेख किया गया था, कर्त्तव्यों का नहीं, परन्तु १९७६ में संविधान में व्यापक संशोधन करते समय संविधान के चतुर्थ भाग के बाद 'चतुर्थ अ' जोड़ा गया जिसमें नागरिकों के १० मूल कर्त्तव्यों को भी जोड़ा गया।

- संविधान का पालन तथा उसके आदर्शो, संस्थाओं और राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान
- राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन
- भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा
- देश की रक्षा और राष्ट्र–सेवा
- भारत के लोगों में समरसता और भ्रातृत्व की भावना का विकास
- समन्वित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा की रक्षा

१०. श्रीमदभगवदगीता २. ४७
११. यजुर्वेद २२.२२

- प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और सभी प्राणियों के प्रति दया भाव
- वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन का विकास
- सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा व हिंसा से दूर रहना
- व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्कर्ष का प्रयास

यह सर्वमान्य तथ्य है कि कर्त्तव्यों का पालन किये बिना अधिकारों का उपयोग सम्भव नहीं है। इन कर्त्तव्यों का पालन करना भारत के प्रत्येक नागरिक द्वारा सर्वोच्च धर्म समझा जाना चाहिए। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि—

- भारत में मानवाधिकार इन्श्योरेंस पालिसी बन कर रह गये है
- मानवाधिकार का मुख्य उददेश्य Human Right Violation को रोकना है, प्रत्येक नागरिक को अच्छा जीवन देना है। उसे उसके मूलभूत अधिकार मिलें। पर आज सामान्य नागरिक को कितने अधिकार प्राप्त हैं यह एक यक्ष प्रश्न है।
- भारत जैसे विकास—शील देश में जहाँ का हर तीसरा नागरिक निरक्षर है। वह अपने अधिकार एवं मानवाधिकार आयोग की क्या बात करेगा। नित नयी घटती हुयी घटनायें (बूढ़े व्यक्ति को रस्सी बाँध उल्टा लटकाना, पैरों में रस्सी बाँध सड़क पर घसीटना आदि) इसका प्रमाण है।
- भोपाल गैस काण्ड, जो मुख्य अपराधी है वह शान के साथ अमेरिका में है, पीड़ितों को Right to Justice नहीं मिला।
- कश्मीर Human Right Violation का गढ़ है। वहाँ मानवाधिकार जातिगत आधार पर है, जबकि मानवाधिकार में जाति या धर्म का बंधन नही होना चाहिए।
- यदि भारतदेश में नागरिकों को उनके मूलभूत अधिकार नहीं मिले तो अनेक नक्सली सङ्गठन पैदा हो जायेंगे।
- सरकारी व गैर सरकारी संस्थाओं (NGO) का मुख्य कार्य Human Violation को रोकना है पर ये संस्थाएँ मानवाधिकार को अपने बचाव के लिए प्रयोग कर रही हैं। सरकार की ओर से कुछ सकारात्मक कदम उठाये गये हैं जैसे Right to Information (सूचना का अधिकार) Right to Education (शिक्षा का अधिकार) जो समाज पर एक प्रभावशाली छाप छोड़ रहे है।

वर्तमान भारत में नागरिकों के जीवन–स्तर को ऊँचा उठाने के लिए मानव अधिकारों के विकसित पक्ष की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है जैसे–

- प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यों में पारदर्शिता लाना,
- प्रशासन द्वारा समाज के नागरिकों के प्रति सेवा–भाव रखना,
- गरीबी रेखा से नीचे जीवन–यापन करने वाले व्यक्तियों को विशेष सुविधा देना,
- व्यक्ति की सुरक्षा एवं सम्मान का विशेष ध्यान रखना,
- राज्य द्वारा सम्पूर्ण समाज को शिक्षा, जल, रोजगार, एवं शुद्ध पर्यावरण उपलब्ध कराना,
- सतर्क एवं दायित्व बोध–युक्त पुलिस प्रशासन की सुविधा सर्वजन सुलभ हो ऐसी व्यवस्था करना,
- समान कानून व्यवस्था सुनिश्चित करना,

आज जब सम्पूर्ण विश्व हर समस्या के लिए चाहे वह आतङ्कवाद, सम्प्रदायवाद हो, पर्यावरण या नक्सलवाद हो, सभी समस्याओं का समाधान संस्कृत वाङ्मय में खोज रहा है? सत्य भी है वैदिक वाङ्मय समाज, देश एवं विश्व को एक नवीन दृष्टि, एक नयी दिशा अवश्य प्रदान कर सकता है। हमारे देश में संविधान की प्रस्तावना एवं मानवाधिकार कानून में वेद के विचारों को कुछ सीमा तक स्वीकार भी किया गया है। हम आशा करते हैं यह वैदिक सिद्धान्त शनैः शनैः कानूनी प्रक्रिया के अङ्ग रूप में अपना स्थान बना लेगें। सभी नागरिकों के सुखी जीवन से ही राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता सुदृढ हो पायेगी और भारत राष्ट्र विश्व के विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में प्रथम स्थान पर होगा। आने वाले वर्षो मे जब भारत एशिया मे ग्लोबल सुप्रीम पावर के रूप में समाने आने वाला है तब मानव अधिकार संरक्षण और उसका अनुपालन और भी आवश्यक हो जाता है।

***

डॉ० मीरा रस्तोगी
लखनऊ

वैदिक संहिताओं में व्याप्त लोकमङ्गल की भावना एवं मानवाधिकार–विमर्श

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[1]

अर्थात् स्तोताओं! तुम साथ–साथ चलो, साथ–साथ बोलो, तुम्हारा मन आपस में मिल जाये, जैसे प्राचीन देव एकमत होकर यज्ञ में अपना–अपना भाग ग्रहण करते हैं वैसे ही तुम सब भी एकमत होकर अपना–अपना अंश (धनादि) ग्रहण करो, मन्त्र भी समान हों, समिति भी समान हो, मन तथा चित्त भी समान हो (एकता हो); एक ही मन्त्र से मैं सबको अभिमन्त्रित करता हूँ तथा एक समान हवि से सबका हवन करता हूँ। तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, तुम्हारा हृदय एक हो, तुम्हारा अन्तःकरण एक हो, अच्छी तरह से तुम सब मिलकर कार्य करो, मिलकर सङ्गठित हो।

ऋग्वेद–संहिता के अन्तिम सूक्त के ये मन्त्र जिस एकता, समानता, ऐकमत्य एवं पारस्परिक सौहार्द की कामना व्यक्त करते हैं वे सब एक सङ्गठित समाज की आधारभित्ति हैं और इन्हीं स्तम्भों पर उस समाज की प्रगति और कल्याण टिके हुए हैं। कोई भी समाज तब तक सुखी नहीं कहा जा सकता जब तक उसका प्रत्येक सदस्य प्रसन्न न हो। अब इसी प्रसन्नता में छिपा हुआ है सभी के अधिकारों के पोषण का विचार। प्रसन्न तो सब तभी होंगे जब उन्हें अपना–अपना अधिकार प्राप्त होगा।

वैदिक ऋषि सभी संहिताओं में इस बात के लिए सर्वाधिक प्रयत्नशील हैं कि

---

१. ऋग्वेद १०.१९१.२–४

सब सदाचारी बनें, ऋत का पालन करें, पापाचारियों का विनाश करें। इसी के लिए कहीं वे व्रतपति अग्नि से[2] प्रार्थना करते हैं[3] तो कहीं इन्द्र[4] से, कहीं इन्द्राग्नी[5] से तो कहीं विष्णु से, कहीं ऋत के पालक मित्रावरुण[6] से तो कहीं सूर्य से, कहीं सोम[7] से तो कहीं सवितृदेव[8] से, कहीं विश्वेदेवों से तो कहीं न्याय व आत्मविकास के देवता अर्यमा से। वे मानवकल्याण के लिए अग्नि को प्रतिष्ठित करते हैं[9] क्योंकि अग्नि विश्ववेदस् हैं[10] शत्रुओं तथा द्वेष करने वालों से प्राणिमात्र की रक्षा करते हैं, प्रत्येक मनुष्य के हित के लिए दुष्टों को रुलाने वाला है, सदाचारियों का संरक्षक व संवर्धक है, इसी तरह इन्द्र (इन् शत्रून् दृणाति इति इन्द्रः) शत्रुओं का हन्ता है,[11] मनुष्यों को नियम में रखता है, अव्रती का नाश करता है, बलवान् तथा सज्जनों का पालन करता है। विष्णु भी इसी प्रकार दुष्टों के विनाशक हैं।

---

२. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।। यजुर्वेद १.५

३. पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषतः उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य। ऋग्वेद १.३६.१५

४. त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः।। सामवेद उत्त. १७.२.१

५. उग्रा विघनिना मृध इन्द्राग्नी हवामहे
ता नो मृडात ईदृशे।
हथो वृत्राण्यार्या हथो दासानि सत्पती।
हथो विश्वा अप द्विषः।। वही ४.२.२–३

६. यः कृत्याकृन्मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्रमुग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः।। अथर्ववेद, ४.२८.६

७. एष वसूनि पिब्दना परुषा ययिवां अति।
अव शादेषु गच्छति।।

८. अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधताम्।
सं ह्यूर्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः।। अथर्ववेद ४.२५.४

९. नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः।। ऋग्वेद १.३६.१९

१०. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।। वही २१.१.२

११. वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्मान् अभिदासत्यधरं गमया तमः।। वही २१/१/२

वैदिक ऋषियों की इस अन्तश्चेतना में लोकमङ्गल की धारणा निरन्तर व्याप्त है जिसके कारण वे समाज के लिए जो भी अनिष्टकारी तत्त्व हैं, उनका विनाश करना अनिवार्य मानते हैं।[१२] और इसके लिए एक ओर वे विविध देवताओं से प्रार्थना करते हैं,[१३] दूसरी ओर मनुष्यों को उसके लिए प्रेरित भी करते हैं। इस तरह स्पष्ट रूप से तो मानवाधिकारों की चर्चा इस साहित्य में प्राप्त नहीं होती पर जब ऋषि सबकी उन्नति की मङ्गलकामना करता है, सबमें सामनस्यभाव, सौहार्द तथा एकता स्थापित करना चाहता है, समाज के हर वर्ग को विकास का अवसर देना चाहता है तो यह स्पष्ट हो ही जाता है कि सबके अधिकारों के प्रति कितना संवेदनशील है। यहाँ तक कि यज्ञ के लिए सामग्री एकत्र करते हुए जिन वनस्पतियों को उससे कष्ट पहुँचा है उनके लिए भी वह प्रार्थना करता है कि हे देव! तुम जल बरसा कर उन वृक्षों की जड़ों को भर दो ताकि उनको जो क्षति हुई है वह पूरी हो सके।[१४] वह मनुष्य को श्रेष्ठ कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। श्रेष्ठता का अर्थ है नियमानुकूल कर्म, सत्य के पोषक कर्म। उसके कर्म ऐसे हों जिनसे समाज की भौतिक उन्नति हो, धन–धान्य में वृद्धि हो, जिनका मिलकर सब यथायोग्य ढङ्ग से भोग करते हुए स्वस्थ तथा नीरोग जीवन बितायें, साथ ही समाज में निर्भयता का वातावरण व्याप्त हो, कोई किसी से भयभीत न हो, चोरों, लुटेरों, भ्रष्टाचारियों का आतङ्क कहीं व्याप्त होने न पावे। ऋषि बार–बार मनुष्य को उसकी महानता का स्मरण कराते हुए दैन्यभाव से दूर रहने की प्रेरणा देता है ताकि वह निरन्तर सबल व ऊर्जावान् बना रहे पर वहीं उसे सावधान भी करता है कि उसे कदापि कुटिलता का मार्ग नहीं अपनाना है। उसमें आठों वसुओं को भी पवित्र करने की सामर्थ्य है,[१५] सारे विश्व को धारण करने की सामर्थ्य है पर यह सामर्थ्य तभी सफल हो सकती है जब वह सदाचारी हो। यह सदाचार सामाजिक नियमों का अनुपालन ही है। उसकी उस विश्व को धारण करने की सामर्थ्य में ही सभी के अधिकारों की रक्षा का भाव समाविष्ट है।

राक्षसी वृत्ति वाले लोग समाज के शत्रु हैं (क्षरतीति राक्षसः)। उनसे समाज में

---

१२. इ॒दमा॑प॒ः प्र व॑हत॒ यत् किं च॑ दुरि॒तं मयि॑।
यद् वा॒हमभिदु॒द्रोह॒ यद् वा शे॒प उ॒तानृ॑तम्।। ऋग्वेद १.२३.२२

१३. ऊ॒र्ध्वो नः॑ पा॒ह्यंह॑सो नि के॒तुना॒ विश्वं॒ सम॒त्रिणं॑ दह।
कृ॒धी न॑ ऊ॒र्ध्वाञ्च॒रथा॑य जी॒वसे॑ वि॒दा दे॒वेषु॑ नो॒ दुवः॑।। वही १.३६.१४

१४. पृथि॑वि देवयज॒न्योष॑ध्यास्ते॒ मूलं॒ मा हिं॑सिषं, व्र॒जं ग॑च्छ गो॒ष्ठानं॒ वर्ष॑तु ते॒ द्यौः॑ ब॑धान देव सवितः प॒र॒मस्यां पृथि॒व्यां श॒तेन॒ पाशै॒ः....... ।। यजुर्वेद, १.२५

१५. वसोः॑ प॒वित्र॑मसि श॒तधा॑रं॒ वसोः॑ प॒वित्र॑मसि स॒हस्र॑धारम्। दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता पु॑नातु.... । वही १.३

दुर्बलता आती है। वे केवल अपने लिए साधन एकत्र करते हैं, इसी तरह अराति भी वे लोग हैं जो मात्र सम्पत्ति का सञ्चय अपने लिए करते रहते हैं, उसका उपयोग किसी लोकोपकारी कार्य में नहीं करते, पापी दुराचारी हर कार्य में विघ्न उत्पन्न करते हैं, ये सब समाज की उन्नति में बाधक है अतः सत्यव्रती, सदाचारी मानव के श्रेष्ठ कर्मों से इनका संहार आवश्यक है ताकि सामाजिक व्यवस्था की रक्षा हो सके। इसके लिए उसके पास रुद्र की विध्वंसक सामर्थ्य विद्यमान है जिनसे वह इन असामाजिक तत्त्वों का उच्छेद कर सकता है।[१६]

ऋषि कहता है–**'दैव्या॑य॒ कर्म॑णे शुन्धध्वं देवय॒ज्याये॒ यद्वोऽशु॑द्धाः पराज॒घ्नुरि॒दं व॒स्तच्छु॑न्धामि।**[१७] क्योंकि सब प्रकार (तन, मन, तथा कर्म) से शुद्ध रहकर ही वह श्रेष्ठ कर्मों के सम्पादन में समर्थ हो सकता है[१८] और समाज के स्वस्थ विकास में अपना पूर्ण सहयोग कर सकता है।[१९] ऋषि कहता है– (तू सुख है), रक्षः अवधूतं (तेरे पराक्रम से राक्षसी शक्तियाँ पराभूत हो गयीं), अरातयः अवधूताः (अनुदार भी दूर हो गये), आदित्याः त्वक् असि (तू स्वाधीन है)[२०] इस कथन के पीछे ऋषि का मन्तव्य यही है कि पवित्र आचार–विचार वाला व्यक्ति ही समाज में व्याप्त अनाचार को समाप्त कर सुख और आनन्द का वातावरण स्थापित कर सकता है और ऐसा वातावरण तब तक नहीं बन सकता जब तक सबको प्राप्तव्य न मिले। यही तो है सबके अधिकारों का संरक्षण।

आगे फिर ऋषि उसे **'कुक्कुटोऽसि॒ मधु॑जिह्वः'**[२१] कहकर सम्बोधित करता है जिसका निहितार्थ यही है कि मधुरभाषी तथा सोच–समझ कर बोलने वाला व्यक्ति

---

१६. धूर॑सि॒ धूर्व॒ धुर्व॑न्तं॒ धूर्व॒ तं यो॒ऽस्मान्धूर्व॑ति॒ तं धूर्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः।
देवाना॑मसि॒ वह्नि॑तमं॒ सस्नि॑तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं देव॒हूत॑मम्।। यजुर्वेद १.८

१७. वही १.१३

१८. मनस्त॒ आप्या॑यतां॒ वाक्त॒ आप्यायतां॒ प्रा॒णस्त॒ आप्यायतां चक्षु॑स्त॒ आप्या॑यतां॒ श्रोत्रं॑ त आप्यायताम्। यत्ते॑ क्रू॒रं यदास्थि॑तं॒ तत्त॒ आप्या॑यतां॒ निष्ट्या॑यतां॒ तत्ते॑ शुध्यतु शमहोभ्यः।। वही ६.१५

१९. परि॑ माऽग्ने॒ दुश्च॑रिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायु॑षा स्वा॒युषोद॑स्थाम॒मृताँ॑ अनु॑।।
प्रति॒ पन्था॑मपद्महि स्वस्ति॒गाम॑ने॒हसं॑म्।
येन॒ विश्वाः॒ परि॒ द्विषो॑ वृणक्ति वि॒न्दते॒ वसु॑।। वही ४.२८, २६

२०. वही १.१४

२१. वही १.१६

ही सामाजिक मर्यादाओं का नियामक होकर समाज के शत्रुओं का विनाशक हो सकता है क्योंकि साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति को यथावसर अपनाकर ही उच्छ्रृङ्खल सदस्यों को अनुशासित कर सामाजिक व्यवस्था की रक्षा की जा सकती हे। अथर्ववेद में भी मधुविद्यासूक्त में अपने पूरे व्यक्तित्व मे इस मिठास की कामना की गयी है–वाणी में, मन मे, कर्म में, सर्वत्र मधुरता हो, यहाँ तक कि विपरीत परिस्थितियों में भी किसी प्रकार का कटुभाव कहीं पनपने न पाये।[२२]

ऋषि जानता है कि समाज का कल्याण तभी सम्भव है जब बिना किसी भेदभाव के समस्त विप्लवकारियों का विनाश हो, साथ ही ब्रह्मज्ञानियों का वर्चस्व बढ़े। सभी सन्तुष्ट होकर परस्पर सङ्गठित भाव से अपने–अपने भोगों को भोगें तथा अपने–अपने उत्तरदायित्वों का वहन करें।[२३] इसी भाव को वह इस प्रकार व्यक्त करता है–

सं रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताम्, सं मधुमतीः मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्।[२४]

धनवान् अपना सब कुछ निर्धनों के साथ एकाकार कर दें, कहीं किसी प्रकार का अभाव न रहे और तब चतुर्दिक् आनन्द ही आनन्द का साम्राज्य हो।

ऋषि मनुष्य को प्रेरित करता है कि वह कहीं भी किसी से भयभीत होकर कदम पीछे न रखे[२५]। निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करें, तभी ऋत का पालन सम्भव है। वह उसकी शत्रुसंहारक सामर्थ्य का आवाहन कर उसको आन्तरिक व बाह्य सभी शत्रुओं का विनाश करने के लिए कटिबद्ध होने का आदेश देता है[२६] क्योंकि तभी वह परमात्मा का प्रयोजन सिद्ध कर सकता है अन्यथा नहीं। वह स्पष्ट स्वर से कहता है–जो केवल अपने सुख की चिन्ता करे वह दुर्जन है, जो दूसरों को सुखी बनाकर सुखी हो वही सच्चा मानव है और वही 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की वैदिक परिकल्पना को चरितार्थ कर सकता है। ऋषि ऐसे ही मानव की प्रशस्ति

---

२२. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि।।
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः।। अथर्ववेद १.३४.२–३

२३. अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः।। यजुर्वेद, ६.४३

२४. वही १.२१

२५. वही १.२३

२६. इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः।

गाता है–

स॒वि॒तुर्वः प्रस॒व उत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑।

तेजो॑ऽसि शु॒क्रम॑स्य॒मृत॑मसि॒ धाम॒ नामा॑सि प्रि॒यं दे॒वाना॒मना॑धृष्टं दे॒व॒यज॑नमसि।।[२७]

ऋषि कहता है– **समिद् असि सूर्यस्त्वा**[२८] अर्थात् तू यज्ञ की समिधा है। यह कथन लोककल्याण के लिए पूर्ण समर्पणभाव का आवाहन है। ऋषि बार–बार देवों का आवाहन करता है कि वे आकर देवयजन के स्थलो से, ग्वालों से, ग्वालों की गोशालाओं से तथा अन्य सभी स्थानों से दुराचारियों व द्वेषभाव रखने वालों का समूल नाश करें जिससे जनजीवन यथोचित विधि से चल सके, धर्म और अर्थ दोनों का यथोचित विधि से उपार्जन हो सके।[२९]

अन्यत्र ऋषि पितरों का आवाहन करता है कि वे सबको ऐसा मन दे जिससे एक जाग्रत् समाज की रचना हो सके।[३०] जाग्रत् समाज का अर्थ है संवेदनशील समाज जहाँ सब एक दूसरे की भावनाओं को, आवश्यकताओं को समझें, एक दूसरे को पूरा सम्मान दें। और ऐसा होने पर किसके अधिकारों का हनन कौन करेगा।

ऋषि की कामना है कि समाज में ब्राह्मबल का क्षात्रबल का सन्तुलन बना रहे, दोनों की ही अभिवृद्धि हो, साथ ही वैश्यों की भी निरन्तर उन्नति और प्रतिष्ठा बढ़े क्योंकि तभी समाज और देश धन–धान्य से परिपूर्ण रहेगा।

ऋषि समाज में स्त्रियों के महत्त्व को अनदेखा नहीं करता। यहाँ स्त्रियों को समाज में गरिमामय स्थान प्राप्त है।[३१] स्त्री गृहस्थाश्रम का तो अविभाज्य अङ्ग है ही साथ ही समाज के निर्माण में भी उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है[३२] स्त्रियों को

---

२७. वही १.३१

२८. वही २.५

२९. वही १.२६

३०. पुन॑र्नः पि॒तरो॒ मनो॒ ददा॑तु॒ दैव्यो॒ जनः॑।
जी॒वं व्रातं॑ सचेमहि।
व॒यं सो॑म व्र॒ते तव॒ मन॑स्त॒नूषु॒ बिभ्र॑तः।
प्र॒जाव॑न्तः सचेमहि।। वही ३.५५–५६

३१. उ॒द्भि॒न्द॒ती सं॒जय॑न्तीमप्स॒रां सा॑धुदे॒विनी॑म्।
ग्लहे॑ कृ॒तानि॑ कृण्वा॒नाम॑प्स॒रां ताम॒ह हु॑वे।। अथर्ववेद, ४.३८.१

३२. यजुर्वेद ६.२४

विद्याध्ययन का अधिकार दिया गया है साथ ही यज्ञसम्पादन में भी उनकी सहभागिता को स्वीकार किया गया है।[33] ऋषि चाहता है कि स्त्रियाँ शुद्ध आचरण वाली हों और विदुषी हो। योग्य कन्यायें अपने अनुरूप योग्यवरों के हाथों में ही सौंपी जायें।[34] ऋषि कहता है– हे देवि, तुम किसी से भयभीत न हो, अपने बल तथा पराक्रम से पति के साथ मिलकर समस्त शत्रुओं का संहार करो।[35] आगे ऋषि उसे माता कहकर सम्बोधित करता है और उसके चतुर्दिक् विकास और उत्थान की कामना करता है[36] क्योंकि ऋषि जानता है कि नारी का मातृ–रूप समाज के विकास के लिए सर्वाधिक आवश्यक है क्योंकि किसी भी समाज का भविष्य इन माताओं के द्वारा प्रदत्त संस्कारों से ही परिष्कृत होता है। यजुर्वेद का यह मन्त्र तो वैदिक नारी के महिमामय स्वरूप का चूडान्त निदर्शन है–

हे देवी, तुम शत्रु का नाश करने वाली हो, धन की वृद्धि करने वाली हो, पति की सहायिका हो, देवयजन की सङ्गिनी हो, अतः आओ इस यज्ञ को पूर्ण कराओ और इस स्वादिष्ट सोमरस का पान करो।[37]

इसी प्रकार कई मन्त्रों में शासक के कर्त्तव्यों का भी निर्देश करते हुए यह परोक्ष रूप से निर्दिष्ट किया गया है कि एक कुशल, योग्य शासक समाज के हर वर्ग को संरक्षण देता है, उनके अधिकारों की रक्षा करता है।[38] वह समाज के हर वर्ग को अनुशासित करता है, नियमों में बाँधता है और सबका प्राप्तव्य सबको प्राप्त कराता है।[39] वह ऋत का पालन करता हुआ समाज को देवत्व की ओर ले जाता है। ऋषि कहता है कि राजा प्रजा के सभी वर्गों को अपने शरीर के अङ्गों की तरह अनुभव करे

---

३३. यजुर्वेद ६.२५

३४. देवींरापः शुद्धा वोंढवं सुपंरिविष्टा देवेषु
सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारों भूयास्म।। वही, ६.१३

३५. वही ६.३५

३६. प्रागपागुदंधराक्सर्वतंस्त्वा दिश आ धांवन्तु।
अम्ब निष्पंर समरीर्विदाम्।। वही ६.३६

३७. श्वात्रा रथं वृत्रतुरो राधोंगूर्ता अमृतस्य पत्नींः।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमंस्य पिबत।। वही ६.३४

३८. ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं रायस्पोषवनि पर्यूहामि।
ब्रह्मं दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृह प्रजां दृंह। वही ६.३

३६. अग्रेणीरंसि स्वावेश उंन्नेतृणामेतस्य वित्तादधिं त्वा स्थास्यति' देवस्त्वां सविता मध्वानक्तु
सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषंधीभ्यः द्यामग्रेंणास्पृक्ष आन्तरिंक्षं मध्येंनाप्राः पृथिवीमुपंरेणादृंहीः। वही ६.२

और सबका विकास का पूर्ण प्रयास करें। जहाँ किसी भी वर्ग को कष्ट होगा, वह राज्य सुखी नहीं हो सकता। यही क्षात्र धर्म है कि सम्पूर्ण प्रजा आधि–व्याधि से मुक्त हो, विनाश तथा भय मुक्त हो, सबका सर्वतोन्मुखी विकास हो।[४०] ऋषि घोषणा करता है कि जहाँ ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ग में मैत्रीभाव होता है वह स्थान पुण्य प्रदेश है, वही तेजस्वी व विद्वानों के बसने योग्य स्थान है।[४१]

यहीं 'उपयामगृहीत' शब्द बहुतायत से प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय है नियमों में बँधा हुआ। समाज में प्रतिष्ठा की प्राप्ति उसी को होती है जो उपयामगृहीत है[४२] वही अपने दुःखों का भी निवारण कर सकता है और दूसरों के भी वस्तुतः धर्ममार्ग को अच्छी तरह जानकर उस पर चलने वाले ज्ञानीजन ही सच्चे देवता हैं। ज्ञानी वही है जिसका अपने मन पर पूर्ण अधिकार है।

वैदिक ऋषि का विश्वास है कि नियमों से अनुशासित जीवन से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। नियमित खानपान से स्वास्थलाभ, नियमित वाणी से आशीर्वाद, नियमित आचरण से सुदृढ सामाजिक–पारिवारिक सम्बन्ध तथा नियमित योजनाओं से सुसंगठित सामाजिक व्यवस्था की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार व्रतपालन से दीक्षा प्राप्त होती है।[४३] दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।[४४]

वैदिक ऋषि अथर्ववेद में स्पष्ट कहता है– दूसरे के अधिकारों का हनन अक्षम्य अपराध है।[४५] आगे वहीं कहा गया है कि जहाँ तपस्वी ब्रह्मनिष्ठ सज्जनों को सताया

---

४०. क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। मा त्वां हिंसीन्मा मा हिंसीः।।
नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः।
मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि।। वही २०.१–२

४१. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तँल्लोकं च पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।। वही २०.२५

४२. उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा।
विष्णं उरुगायैष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वां दभन्।। वही ८.१

४३. इडाभिर्भक्षानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिषः।
शंयुना पत्नीसंयाजान्त्संमिष्टयजुषा संस्थाम्।।

४४. व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।। वही १६.३०

४५. यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम्।। अथर्ववेद, ४.३६.२

जाता है वह राष्ट्र विपत्ति से ग्रस्त हो जाता है।[४६]

इसी संहिता के सांमनस्य सूक्त में जातीय स्तर पर,सामाजिक स्तर पर और व्यक्तिगत स्तर पर सर्वत्र एक सौमनस्य–भाव के विकसित होने की मङ्गलकामना की गयी है।[४७] ऋषि आशा करता है कि सबमें सहृदयता हो, प्रेमभाव हो, सब सबके प्रति वैरभाव से रहित हों, सब सबकी मङ्गलकामना करें, सबमें हर स्तर पर एकात्मता का भाव हो। परिवार में माता–पिता, पुत्र, पत्नी, बहन–भाई कहीं किसी के प्रति द्वेषभाव न हो।[४८] किसी के बीच किसी प्रकार कलह न हो, सबमें सभी प्रकार से अनुकूलता बनी रहे।[४९] तभी सुख–समृद्धि का वातावरण सब ओर व्याप्त होगा। यह सांमनस्य का भाव परोक्ष शब्दों में हर वर्ग के अधिकारों की रक्षा की ओर ही इङ्गित कर रहा है।

अथर्ववेद में ऋषि स्पष्ट घोषणा करता है कि यह चराचर जगत् आनन्द का सतत उच्छलित महार्णव है जिसका उसने साक्षात्कार किया है। यहाँ हिंसा, घृणा, पारस्परिक द्वेष, युद्ध आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। ऋषि आदेश देता है कि कोई किसी से द्वेष न करे। सब अपने चारों ओर प्रेम का ऐसा घेरा बनायें जहाँ किसी प्रकार की भेद बुद्धि और कष्ट के लिए कोई स्थान न हो[५०]

---

४६. तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना।। वही ५.१९.८

४७. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। वही ३.३०.१

४८. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। वही ३.३०.२–३

४९. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
सराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि। वही ३.३०.५

५०. यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम्।
आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः।।
परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः।। वही १.३४.५

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं में यद्यपि कहीं भी मानवाधिकार विमर्श सीधे तौर पर किया गया प्राप्त नहीं होता पर वैदिक ऋषि के मानस में यह विमर्श विद्यमान अवश्य था जिसे यह लगातार अप्रत्यक्ष रूप से अपने विचारों में अभिव्यक्त करता रहता है। वह जिस लोकमङ्गल की कामना से नानाविध देवताओं का आवाहन करता है वह लोकमङ्गल तब तक कैसे सम्पन्न हो सकता है जब तक समाज का प्रत्येक वर्ग (निम्न से निम्न तक) प्रसन्न और सानन्द न हो, प्रकृति के संसाधनों का सबमें समान विभाजन न हो, सभी प्रकार के शत्रुओं (आन्तरिक व बाह्य) का समूल उच्छेद न कर दिया गया हो। वह ऐसे समाज की कल्पना करता है जिससे सब तपःपूत होकर ऋत का पालन करते हुए जीवनयज्ञ के सम्पादन में लगे हुए हैं। ऐसी परिकल्पना निस्सन्देह सभी के अधिकारों को संरक्षित किये बिना फलीभूत नहीं हो सकती।

***

डॉ० सरोज कुमार शुक्ल
लखनऊ

वेदों में वर्णित मानवाधिकार–परिशीलन

समाज में प्रत्येक मानव को स्वेच्छा से जीने का अधिकार होता है। सामाजिक विसङ्गतियों के कारण मनुष्य एक–दूसरे से द्वेष या ऊँच–नीच की भावना रखने लगता है। इसी विसङ्गति को दूर करने के लिए भारतीय संविधान में मानवाधिकारों की व्यवस्था की गयी है। इन मानवाधिकारों के अन्तर्गत नागरिकों को अनेक अधिकार प्रदान किये गये हैं। इन अधिकारों की घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ के आम अधिवेशन में भी की गयी–जिसमें यह कहा गया कि –

- सभी मानव स्वतन्त्र पैदा हुए हैं तथा सबकी प्रतिष्ठा तथा अधिकार समान हैं।
- जाति, रङ्ग, लिङ्ग, भाषा, धर्म, समाज, जन्म, सम्पत्ति आदि के आधार पर कोई किसी से भेद–भाव न करे।
- हर मानव को जीने की स्वतन्त्रता का तथा सुरक्षा का अधिकार है।
- कोई भी मानव दास या पराधीन न हो दास–प्रथा समाप्त हो। प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश के अन्दर घूमने–फिरने तथा निवास करने की स्वतन्त्रता है।
- हर मनुष्य को अपने से तथा दूसरों के साथ मिलकर सम्पत्ति रखने का अधिकार है।
- शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है।

प्रत्येक व्यक्ति को विचारों की तथा धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार है। उसे धर्म तथा आस्था परिवर्तन करने का अधिकार है। इन्हीं अधिकारों को संविधान में वर्णित किया गया है। यह कोई नई बात नहीं है मानव सृष्टि–काल से ही सृष्टि के स्रष्टा ने सुचारु मानव–जीवन की आचार संहिता प्रदान की है और उसका ठीक–ठीक अनुपालन हो सके इस उद्देश्य से उच्चकोटि के श्रेष्ठतम मार्गदर्शक एवं उपदेशक भी समय–समय पर भेजे जिनके आचार–विचार और स्वभाव के अनुसरण से ही मानव समाज अपना जीवन वृत्ति का सञ्चालन करता रहे।

इस सन्दर्भ में यदि वैदिक–साहित्य की चर्चा की जाय तो वेद ज्ञान के अनन्त भण्डार हैं–इन वेदों में विभिन्न विषयों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन अधिकारों का उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थों मे बहुत पहले से ही किया जा चुका है। वेदों में सभी को

अपनी रक्षा करने, एक साथ मिलकर रहने की व्यवस्था का प्रतिपादन कई मन्त्रों में दृष्टिगोचर होता है।

इस देश के मूल धर्मग्रन्थ का विचार करते ही परम पवित्र वेदों पर ही ध्यान जाता है क्योंकि वेद ही संसार का प्राचीनतम धर्मग्रन्थ है जिसे जगत् के पालनहार ने मानव–जाति के लिए सही जीवन जीने की आचार–संहिता के रूप में जगत् को दिया।

भारतवासियों को जो छः मूल अधिकार प्राप्त हैं उनका पूरा–पूरा पालन होता है। ठीक इसी तरह मानव–मात्र के कल्याण के लिए प्रभु–प्रदत्त अधिकारों का भी अनुपालन करना आवश्यक है।

वेद–मन्त्रों में जो मानव अधिकार दिये गये हैं उनका वर्णन यहाँ पर अपेक्षित है–

सबको सुखी रहने तथा समानता का अधिकार–

वेदों की महनीयता इसी बात पर उभर कर संसार भर को आकर्षित करती है कि वह किसी एक जाति, एक समुदाय की कामना नहीं करता–उसकी वाणी में कोई भेद–भाव नहीं है।

वेद के अनुसार प्रत्येक मानव को प्रत्येक मानव के सुख की कामना करनी चाहिए। संसार की रचना करने वाले परमात्मा ने सभी को समानता का अधिकार दिया है इस सन्दर्भ में स्मरणीय एवं अनुकरणीय मन्त्र है–

सं॑गच्छध्वं॒ सं व॑दध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम्।

दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे सञ्जाना॒ना उ॒पासते।।[1]

आधुनिक समाज की स्थिति को देखते हुए इस मन्त्र का पालन करना आवश्यक है क्योंकि यह धरती किसी एक की या किसी एक समुदाय की नहीं है।

स्वतन्त्रता का अधिकार–

स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत वेद–मन्त्रों में इसका उल्लेख यत्र–तत्र प्राप्त होता है। स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। इस सन्दर्भ में वेदमन्त्र में कहा गया है–

यस्य॑ ते॒ नू चि॑दा॒दिशं॒ न मि॒नन्ति॑ स्व॒राज्य॑म्।

न दे॒वो नाधि॑गुर्जनः।।[2]

---

१. ऋग्वेद १०.१९१.२

२. वही ८.९३.११

अर्थात् हे परमात्मा! तुम्हारे आदेश रूप स्वराज्य को कोई भी नहीं रोक सकता है,न कोई देवता और न कोई अजेय शक्ति।

मन्त्र का तात्पर्य यह है कि चाहे कोई देवता हो या कोई असीम शक्ति–सम्पन्न व्यक्ति ही क्यों न हो वह मानव की स्वतन्त्रता की भावना को दबा ही नहीं सकता।

शोषण के विरुद्ध अधिकार–

समाज के स्वार्थी शोषक–वर्ग मजबूत एवं प्रगतिशील राष्ट्र को चाटकर खोखला कर देते हैं इसीलिए हमारे ऋषियों ने वेदमन्त्रों के माध्यम से प्रार्थना की है–

ता म॒हान्ता॒ सद॒स्पती॒ इन्द्रा॑ग्नी॒ रक्ष॑ उब्जतम्।

अप्र॑जाः सन्त्व॒त्रिणः।[3]

इस मन्त्र के माध्यम से शोपक तथा दुराचारी वर्ग को हर परिस्थिति में और हर समय निन्दित किया गया है।

यजुर्वेद के मन्त्र में भी यही स्पष्ट किया गया है कि संसार में जो भी चर–अचर है वह सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है–

ई॒शा वा॒स्य॒मि॒दं सर्वं॒ यत्किञ्च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त्।

तेन॑ त्य॒क्तेन भुञ्जीथा॒ मा गृ॑धः॒ कस्य॑स्विद्ध॒नम्।।[4]

इस मन्त्र में यह व्यक्त किया गया है कि धन किसी का भी नहीं है अतः किसी का शोषण नहीं करना चाहिए।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार–

संविधान के अनुसार भारत का प्रत्येक नागरिक अपने ढंग से पूजा–पाठ रोजा–नमाज कर सकता है। वैदिक काल में बस एक सनातन धर्म ही रहा होगा। वेदों में समाज को धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार दिया है– इसी सन्दर्भ में हमारे ऋषियों ने इस धरती पर धार्मिक एकता को दृढ बनाये रखने की दिशा में यह प्रार्थना की–

जनं॒ बिभ्र॑ती बहु॒धा विवा॑चसं॒ नाना॑धर्माणं पृथि॒वी य॑थौक॒सम्।

स॒हस्रं॑ धारा॒ द्रवि॑णस्य मे दुहां ध्रु॒वेव॑ धे॒नुरन॑स्फुरन्ती।।[5]

३. ऋग्वेद १.२१.५

४. यजुर्वेद ४०.१

५. अथर्ववेद १२.१.४५

इस मन्त्र का आशय यह है कि इस पृथ्वी पर विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। ये सभी पृथ्वी के लिए एक परिवार के व्यक्ति हैं। अतः मानव का कर्त्तव्य है कि वह भाषा तथा धर्म के आधार पर भेदभाव न करे।

सांस्कृतिक तथा शिक्षा का अधिकार–

भारतवर्ष विविध संस्कृतियों, विविध ग्रन्थों, विविध बोलियों, विविध मानव जातियों और विविध सामाजिक व्यवस्थाओं का एक बहुत बड़ा सङ्ग्रहालय है। इतनी विभिन्नताओं के होते हुए भी सभी को समान रूप से अपनी संस्कृति और, अपने धर्म के अनुसार शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार है। वेदों में वर्णित किया गया है कि इसे सभी को पढ़ने का अधिकार है। जैसा कि मन्त्र में कहा गया है–

यथे॒मां वाचं॑ कल्या॒णीमा॒वदा॑नि॒ जने॑भ्यः

ब्र॒ह्म॒रा॒ज॒न्या॒भ्यां शू॒द्राय॒ चार्या॑य च॒,

स्वाय॒ चार॑णाय च।[६]

इसका तात्पर्य यह है कि परमेश्वर ने मानव मात्र के कल्याण के लिए वेद ज्ञान दिया है, अतः सबके लिए वेद ज्ञान सुलभ होना चाहिए।

इस प्रकार अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वेद–मन्त्रों में भी नागरिकों के मानवाधिकारों की चर्चा की गयी है। वेदों में प्रतिपादित मानवाधिकार के अन्तर्गत जिन अधिकारों को निरूपित किया गया है–उनके सम्यक् ज्ञान से मानव स्वयं का तथा समाज का कल्याण कर सकता है।

***

---

६. यजुर्वेद २६.२

डॉ० नीलमरानी श्रीवास्तव
लखनऊ

वैदिक वाङ्मय तथा मानवाधिकार

(स्त्री–अधिकार के सन्दर्भ में)

समाज में मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए कतिपय अधिकारों की आवश्यकता होती है, जिनके अभाव में उसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। इन्हीं को मानव–अधिकार कहा जाता है। नैतिक और कानूनी रूप से जब हम मानव–अधिकार की बात करते हैं तो जो मानव–जाति के विकास के लिए मूलभूत मानव गरिमा को सुनिश्चित करता हो वह मानवाधिकार कहलाता है। यद्यपि मानव के अधिकार नैसर्गिक हैं परन्तु सामाजिक जागरूकता और कर्त्तव्यों का ज्ञान न होने के कारण मानव के अधिकारों का हनन हो रहा है। ऐसी स्थिति में मानवाधिकार राज्य से विधिमान्य अपेक्षायें रखता है, साथ ही अपेक्षा करता है कि राज्य मानवाधिकार का निर्माता होने के साथ–साथ सरंक्षक भी रहे। स्वतन्त्र भारत का संविधान अनुच्छेद–२१ के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक के मूलभूत अधिकारों की सुरक्षा तथा मानवीय गरिमा से जीने का अधिकार सुरक्षित करता है। मानवाधिकार की विश्वव्यापी घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ ने १० दिसम्बर १६४८ को की, जिसके अन्तर्गत उसने एक मानवाधिकार चार्टर भी प्रकाशित किया। इसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि सभी मनुष्य (स्त्री–पुरुष) जन्म से समान हैं तथा वे अधिकार और गरिमा में भी समान हैं। भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की स्थापना २८ सितम्बर १६६३ में की गयी। इसका गठन मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम–१६३३ के अधीन किया गया।

हम आज विश्व–मञ्च पर मानवाधिकारों की बात कर रहे हैं, स्त्री–पुरुष की समानता की बात कर रहे हैं किन्तु भारत का गौरवशाली इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि प्राचीनकाल से ही वैदिक–सभ्यता में मानव–अधिकार के संरक्षण तथा स्त्री–पुरुष की समानता की परम्परा रही है। यद्यपि कोई मानव–अधिकार घोषणा–पत्र नहीं था किन्तु एक विकसित न्याय–व्यवस्था का अस्तित्व था, जिससे स्वतः ही मानव–अधिकारों का संरक्षण हो जाता था।

भूमण्डलीकरण के इस युग में आज जब हम वैश्विक परिदृश्य में अतीत से वर्तमान तक भारतीय नारी की दशा का आकलन करते हैं तो पाते हैं कि वैदिक

आर्यों के बीच नारी की स्थिति इतनी ऊँची थी कि आज इक्कीसवीं शती में विश्व का अधिक से अधिक सुसंस्कृत राष्ट्र भी यह दावा नहीं कर सकता कि उसने नारी को उतना ऊँचा स्थान प्रदान किया है।

वैदिक ऋषियों ने स्त्री और पुरुष को मानव–जीवन की गाड़ी के दो चक्र समझकर स्त्री को पुरुष के समकक्ष ही स्थान दिया है। माता के रूप में, पत्नी के रूप में, गृहिणी के रूप में तथा कन्या के रूप में वह वैदिक–समाज में आदृत थी। वैदिक–समाज में माता का स्थान अत्यन्त ऊँचा, गरिमायुक्त और महत्त्वशाली रहा है। सन्तान के जन्म, लालन–पालन, शिक्षा–दीक्षा और भरण–पोषण में उसका अभूतपूर्व योगदान रहा है। वेदों में माता का अभिनन्दन करते हुए भगवान् के पूजन में उसे पिता के साथ–साथ माता भी कहा गया है।[1] उसकी प्रतिष्ठा और गरिमा ऐसी थी कि वह व्यवहार में सर्वदा 'पिता' शब्द से पहले व्यवहृत होती रही।[2] धर्मसूत्रों में माता को श्रेष्ठ गुरु कहा गया है।[3]

पत्नी के रूप में कुटुम्ब के सदस्यों में उसकी अभूतपूर्व महत्ता रही है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में नववधू के लिए कामना की गयी है कि वह अपनी सास, ससुर, ननद आदि पारिवारिक जनों पर साम्राज्ञी के समान शासन करे।[4] इसी प्रकार के भाव अर्थर्ववेद[5] में भी अभिव्यक्त किये गये हैं। परिवार में पति–पत्नी की स्थिति एक समान मानी जाती थी।[6] पति–पत्नी का सम्बन्ध वही था जो शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप में देखा जा सकता है। 'शतपथब्राह्मण' में यह प्रतिपादित किया गया है कि जाया पुरुष की आधी होती है। जब तक पुरुष जाया को न प्राप्त कर ले, वह सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकता। जाया को प्राप्त करके ही पुरुष सन्तान उत्पन्न करता है

---

१. त्वं हि नः पिता वंसो त्वं माता शंतक्रतो बभूविंथ ऋग्वेद, ८.९८.११

२. वही, ४.६.७

३. आचार्यः श्रेष्ठः गुरुणा मातेत्येके। गौतमधर्मसूत्र, २.५०

४. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञीं श्वश्रवां भंव।
ननान्दरि सम्राज्ञीं भव सम्राज्ञी अधिंदेवृषुं।। ऋग्वेद १०.८५.४६

५. यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषां।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्यं।।
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननांन्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः।। अथर्ववेद, १४.१.४३, ४४

६. अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्।
ताविव संभवाव प्रजामजनयावहै।। वही, १४.२.७१

और अर्ध न रहकर पूर्ण बनता है।[7] 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में यह भी कहा गया है कि पत्नी से रहित पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार नहीं होता है।[8] यज्ञ सदृश धार्मिक अनुष्ठानों के लिए पत्नी का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण ही उसे सहधर्मिणी तथा अर्द्धाङ्गिनी कहा जाता था। इस प्रकार पति और पत्नी की समान स्थिति होने के कारण स्त्री धार्मिक कर्मकाण्ड में हाथ बँटाती थी और पति के साथ व स्वतन्त्र रूप से भी उसे यज्ञ के अनुष्ठान का अधिकार प्राप्त था।[9]

पुत्री के रूप में उसे अनेक सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त थे। यह सत्य है कि पुत्रों की तुलना में उसके अधिकार कम थे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह पूर्णरूपेण उपेक्षणीय थी। उसका पिता द्वारा विवाह किया जाता था। यदि विवाह किए बिना ही उसके पिता की मृत्यु हो गयी हो तो उसके विवाह के लिए निश्चित सम्पत्ति सुरक्षित कर दी जाती थी। यही नहीं, उसके आजीवन अविवाहित रहने पर भी उसके भरण–पोषण के लिए व्यवस्था की गयी थी। वैदिक–युग में पति का वरण करने में कन्या की सम्पत्ति महत्त्वपूर्ण थी। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो स्त्री स्वयं ही अपने पति का चुनाव करती है वही भद्रा वधू होती है।[10] कन्या का विवाह युवा होने पर ही किया जाता था।[11] धर्मशास्त्रकारों का यह मत है कि अगर युवा होने पर कन्या का विवाह उसका अभिभावक या पिता समय पर नहीं कर पाता था तो वह स्वयं अपना वर चुन लेने के लिए स्वतन्त्र थी।[12]

वैदिक युग में बालकों के समान कन्याओं का भी यज्ञोपवीत संस्कार होता था और वे भी ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करती हुई शिक्षा प्राप्त करती थी। शिक्षिता कन्या की प्राप्ति के लिए विशेष अुनष्ठान का आयोजन किया जाता था।[13] अथर्ववेद के एक मन्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने के पश्चात् ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती थी।[14] गोभिलगृह्यसूत्र में विवाह के समय जिस कन्या को वर के

---

७. अर्धो ह वाऽएष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायतऽसर्वो हि तावद्भवत्यथ यदैवं जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति। शतपथब्राह्मण, ५.२.१. १०

८. तैत्तिरीयब्राह्मण, २.२.२.६

९. ऋग्वेद ५.२८.१, ८.९१.१, अथर्ववेद २.३६२१, ६.१२६.५

१०. कियंती योषां मर्यतो वंधूयोः परिप्रीता पन्यंसा वार्येण।
भद्राव्धूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वंनुते जने चित्।। ऋग्वेद १०.२७.१२

११. वही, १०.८५.६

१२. बौधायन धर्मसूत्र, ४.१.१४, मनुस्मृति ६.८६– ९०

१३. अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्मश्नीयतामीश्वरौ जनयित वै। वृहदारण्यकोपनिषद्, ६.४.१७

१४. ब्रह्मचर्येण कन्या युवांनं विन्दते पतिंम्। अथर्ववेद, ११.५.८

लिए प्रदान किया जाता था, उसके लिए 'यज्ञोपवीतनीम्' विशेषण का प्रयोग किया गया है। वैदिक युग में छात्राओं के दो वर्ग थे, एक सद्योवधू और दूसरा ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू वे छात्राएँ थीं जो ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होती थीं और ब्रह्मवादिनी वे थीं जो जीवनपर्यन्त अध्ययन में रत रहती थीं और विवाह नहीं करती थीं। उस युग में कितनी ही स्त्रियाँ वेदमन्त्रों की ऋषि भी थीं जिनमें लोमशा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, सिकता, विवस्वान्–पुत्री यमी, पुलोमपुत्री शची, घोषा, अपाला आदि उल्लेखनीय हैं। शतपथब्राह्मण में राजा जनक की सभा में गार्गी द्वारा महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[१५] शतपथब्राह्मण के अनुसार याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्रदान किया था, क्योंकि मैत्रेयी की रुचि सांसारिक भोगों में न होकर अध्यात्मचिन्तन तथा ब्रह्म–विद्या में थी।[१६]

वैदिक काल में सामान्यतया एक पत्नी विवाह ही आदर्श विवाह समझा जाता था, जिसके अन्तर्गत पति–पत्नी अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे।[१७] पुरुष को दूसरे विवाह की अनुमति पुत्रकामना और धर्मपालन के लिए ही दी गई थी।[१८] यद्यपि बहुपत्नी विवाह के उदाहरण भी अपवाद स्वरूप प्राप्त हो जाते हैं। ऋग्वेद के साथ ही अथर्ववेद में भी सपत्नी के प्रभाव को कम रकने के लिए अनेक आभिचारिक प्रयोगों का उल्लेख है।[१९] ब्राह्मणकाल में बहुविवाह की प्रथा का प्रारम्भ हो चुका था, इसमें कोई सन्देह नहीं। शतपथ–ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों का उल्लेख है जिनके नाम मैत्रेयी और कात्यायनी थे।[२०]

विधवा विवाह भी उस युग में प्रचलित था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में एक विधवा स्त्री से कहा गया है कि, "हे नारी! इस मृत पति को छोड़कर पुनः जीवितों के समूह में पर्दापण करो। तुमसे विवाह के लिए इच्छुक जो तुम्हारा दूसरा भावी पति है, उसे स्वीकार करो।"[२१] ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर विधवा के देवर के साथ रहने का उल्लेख है।[२२] यास्क ने अपने निरुक्त में देवर शब्द का निर्वचन 'द्वितीय वर' के रूप

---

१५. शतपथब्राह्मणम्, १४.६.६.१
१६. वही, १४.५.४.२–३
१७. ऋग्वेद १०.८५.४६, अथर्ववेद १४.२.६
१८. धर्मप्रजासम्पन्ने द्वारे नाऽयां कुर्वीत्।
अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्।। आपस्तम्बधर्मसूत्र, २/५११/१२–१३
१९. ऋग्वेद, १०.१४५.१–६
२०. अथ व याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये वभूवतुः मैत्रेयी च कात्यायनी च। शतपथब्राह्मणम् १४/७/३/१
२१. वही, १०.१८.८
२२. वही, १०.४०.२

में ही किया है। इन उल्लेखों से विधवा विवाह की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। स्त्री का पति यदि नष्ट, क्लीब, प्रव्रजित, पतित, राजकिल्विषी, दूरदेशवासी हो तो वह अपने पति का त्याग कर सकती थी।[२३] उस युग में स्त्रियाँ पर्दे के बिना स्वतन्त्रतापूर्वक पुरुषों के साथ विद्वद्‌गोष्ठियों और दार्शनिक वाद–विवादों में सम्मिलित हुआ करती थीं।

वैदिक युग में स्त्री का सम्पत्ति में अधिकार स्वीकार किया जाता था। परिवार में वह पुत्र से किसी प्रकार कम नहीं समझी जाती थी।[२४] यद्यपि भाई होने की दशा में पुत्री का पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं माना जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार औरस पुत्र के होने पर उसकी बहन पैतृक सम्पत्ति में कोई भाग नहीं प्राप्त करती थी।[२५] पर यदि माता–पिता की सन्तान केवल कन्याएँ ही हों, तो वे ही पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी मानी जाती थीं। विवाह हो जाने पर भी कन्या धन प्राप्त करने पितृकुल आया करतीं थीं।[२६] यदि कोई कन्या विवाह न करे और पितृकुल में ही रहे तो भाई होने की दशा में भी पैतृक सम्पत्ति में उसका अधिकार माना जाता था।[२७] दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ पुत्री समझी जाती थी।[२८]

इस प्रकार वैदिक युग में स्त्री सभी दृष्टि से पुरुषों के समान थी। उसके अधिकार किसी भी प्रकार पुरुषों से कम नहीं थे। किन्तु उत्तरवैदिक काल के परवर्ती युग से नारी की दशा अवनति की ओर अग्रसर होने लगी। पूर्व मध्यकाल तक आते–आते धर्म और समाज की रक्षा के नाम पर स्त्रियों के लिए अनेक ऐसी व्यवस्थाओं का नियमन हुआ जिनसे स्त्रियों की दशा निरन्तर दयनीय होती गई। नारी से उसके सभी अधिकार छीन लिए गए। उसे घर की चहारदीवारी में कैद कर दिया गया। नारी को केवल भोग्या समझा जाने लगा। बहुपत्नी–विवाह, बाल–विवाह, सती–प्रथा, पर्दा–प्रथा, दहेज प्रथा आदि कुप्रथाओं ने जन्म ले लिया और उसकी स्थिति निरन्तर ह्रासोन्मुख होती गई।

परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में आरम्भ हुआ स्त्रियों का पुनरुत्थान काल। उनकी दशा को सुधारने–हेतु राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द

---

२३. अथर्ववेद, ६.५.२७.–२८

२४. वशिष्ठधर्मसूत्र, १७.१५

२५. ऋग्वेद, ३.३१.२

२६. अ॒भ्रा॒तेव॑ पुं॒स ए॑ति प्रती॒ची ग॑र्ता॒रुगि॑व स॒नये॒ धना॑नाम्। वही, १.१२४.७

२७. वही, २.१७.७

२८. न॒हि ग्र॒भाया॒रणः॑ सु॒शेवो॒ऽन्योद॑र्यो॒ मन॑सा॒ मन्त॒वा उ॑।
अधा॑ चि॒दोकः॒ पुन॒रित्स ए॒त्याऽऽनो॑ वा॒ज्यभी॒षाळेतु॒ नव्यः॑।। वही, ७.४.८

सरस्वती, महात्मा ज्योतिबा राव फुले आदि समाजसुधारकों ने अनेक प्रकार के सामाजिक आन्दोलन चलाए, जिसके फलस्वरूप बालविवाह निषेध अधिनियम, सतीप्रथा–निषेध अधिनियम, हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम आदि बनाए गये, जिनसे अपेक्षाकृत नारी की स्थिति में सुधार आरम्भ हुआ। स्वतन्त्रता के बाद संविधान के अनुच्छेद १४, १५ तथा १६ में स्त्रियों के लिए समानता, स्वतन्त्रता और न्याय की पर्याप्त व्यवस्था की गयी। उनकी स्थिति को सुधारने के लिए अनेक प्रकार के कानून बनाए गये, जिनके द्वारा उनके अधिकारों को कानूनी सरंक्षण प्रदान किया गया, जिनमें उल्लेखनीय हैं– सम्पत्ति अधिकार अधिनियम १६३७, समान पारिश्रमिक अधिनियम १६७६, ७३वाँ संविधान–संशोधन अधिनियम १६६३, दहेज–निषेध अधिनियम १६६१ (संशोधन) १६८६, घेरलू हिंसा–निवारण अधिनियम २००५ इत्यादि। संविधान निर्माताओं ने शासन के आधारभूत लक्ष्य बताए और उनमें स्त्रियों के लिए अलग से उपबन्ध किये, जिनमें अनुच्छेद ३६ (क), ३६ (घ), ३६ (ङ) उल्लेखनीय हैं। कार्य की कार्यसङ्गत एवं मानवोचित दशा तथा प्रसूति सहायता का उपबन्ध अनुच्छेद–४२ में किया गया। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर भारतीय संविधान के अनुच्छेद ५१ (क) के खण्ड (ङ) में ऐसी प्रथाओं का त्याग करना भारतीय नागरिकों का मूल कर्त्तव्य घोषित किया गया जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हों। मानवाधिकारों की अनेक व्यवस्थाओं में महिलाओं के लिए जब अलग से उपबन्ध दिखाई देते हैं तो सहसा यह प्रश्न उभरकर सामने आता है कि यदि महिलाएँ भी मानव हैं तो फिर उनके अधिकारों की पृथक् व्यवस्था क्यों की जाती है? इससे यह स्पष्ट होता है कि महिलाओं के प्रति सब कुछ सामान्य नहीं है। यद्यपि संविधान ने स्त्रियों को पुरुष के बराबर समानता और अधिकार प्रदान किये हैं किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है, उन्हें कदम–कदम पर गतिरोध का सामना करना पड़ता है। समाज की पुरुष–वर्चस्ववादी व्यवस्था, रूढिवादी परम्पराओं और अशिक्षा के कारण उनकी परिस्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हो सका है। भारतीय समाज में महिलाएँ जिस प्रकार उपेक्षा, शोषण, अन्याय, हिंसा, बलात्कार और उत्पीड़न का शिकार होती रही हैं, उनसे जब तक मुक्ति न होगी, तब तक मानवाधिकार की वास्तविक अर्थों में स्थापना और विकास सम्भव नहीं है।

कोई भी समाज या राष्ट्र स्त्रियों की स्वतन्त्रता और उन्नति के बिना पूर्ण विकास नही कर सकता। अतः हमारा ध्येय होना चाहिए कि हम स्त्रियों के मानवाधिकारों को सुरक्षा और संरक्षण प्रदान करें, उनके सम्मान और गरिमा को बनाए रखें और यह तभी सम्भव होगा जब हम स्त्रियों के प्रति वैदिक ऋषियों जैसी दृष्टि अपनाऍगे।

***

डॉ० पीयूष
फर्रूखाबाद

वैदिकवाङ्मय में नारी–मानवाधिकार के परिप्रेक्ष्य में

वैदिकवाङ्मय में नारी का स्थान अत्यन्त सम्माननीय है। वैदिकवाङ्मय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस काल में नारियाँ बिना किसी प्रतिबन्ध के सभी प्रकार की सामाजिक गतिविधियों में सम्मिलित होती थीं। सभी दृष्टियों से वे पुरुष के समान थीं। उनके सभी अधिकार भी पुरुषों के समान थे। उसे पुरुष की सहयोगिनी माना गया है। नारी को ही गृह की सञ्ज्ञा दी गई है।[1] पतिगृह में उसे सभी की सम्राज्ञी कहा गया है।[2] वैदिक कर्मकाण्डों में सर्वोत्कृष्ट यज्ञकर्म पत्नी के बिना अपूर्ण माना गया है।[3] यज्ञ में साथ बैठने वाली को ही पत्नी कहा जाता है।[4] नारियाँ यज्ञ की अधिकारिणी थीं।[5] नारी पति के साथ सामूहिक यज्ञों और युद्धों में जाती थीं।[6] ऋक्संहिता और यजुःसंहिता में प्राप्त स्त्रियों के विशेषणों से उनके शौर्य तथा महत्ता का प्रकाशन होता है। इन विशेषणों में से कुछ इस प्रकार है– अषाढा–अजेया, सहमाना–विजयिनी, सहस्रवीर्या–अनन्त पराक्रम वाली[7], असपत्ना (अशत्रु), सपत्नघ्नी–शत्रुविनाशका, जयन्ती–विजेता, अभिभूवरी–पराजित करने वाली[8]।

शिक्षा के क्षेत्र में भी नारी उस काल में पुरुषों से किसी भी प्रकार कम नहीं थी। पुत्र के समान पुत्री का भी उपनयन संस्कार सम्पादित किया जाता था[1] तथा वह भी ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित होकर अनेकानेक विषयों का ज्ञान प्राप्त करती थी।

---

१. जायेदपस्त्यम्–ऋक्संहिता ३.५३४

२. सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु वही १०.८५.४६

३. अयज्ञो वा ह्येष योऽपत्नीकः। तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.२.६

४. पत्यूर्नो यज्ञसंयोगे। अष्टाध्यायी ४.१.३३

५. योषितो यज्ञिया इमाः। अथर्ववेद २.३६.१

६. संहोत्रं स्मं पुरा नारी समनं वावं गच्छति। वही २०.१०६.१०

७. अषांढाऽसि सहंमाना सहस्वारांतीः सहंस्व पृतनायतः।
सहस्रंवीर्याऽसि सा मां जिन्वं।। यजुः संहिता १३.२६

८. असपत्ना संपत्नघ्नी जयंन्त्यभिभूवंरी। ऋक् संहिता १०.१५९.५

यज्ञ–सम्पादन, वेदाध्ययन, दर्शनानुशीलन, तर्कपरायणता, काव्यरचना तथा सभाओं में ऋचाओं के गायन इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियों का योगदान कहीं भी न्यूनतर नहीं है। अनेक स्त्रियों ने मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के रूप में भी अपना योगदान दिया है, जिनमें से विशेषतः उल्लेखनीय हैं– इन्द्राणी, शची, अपाला, घोषा, कक्षीवती, लोपामुद्रा, श्रद्धा, कामायनी, वाग्आम्भृण, सूर्या, सावित्री, विश्ववारा, आत्रेयी, उर्वशी, अदिति, रोमशा, सिकता और निवावरी इत्यादि। संहिताओं के चार सौ बाइस मन्त्रों की द्रष्टा ऋषिकाएँ हैं। उस काल में छात्राओं के दो वर्ग थे– सद्योवधू तथा ब्रह्मवादिनी। विवाह के पूर्व तक कुछ वेदमन्त्रों तथा याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाली छात्राओं को सद्योवधू कहा जाता था तथा जो अपनी शिक्षा पूर्ण करने में जीवन लगा देती थीं, उन्हे ब्रह्मवादिनी कहा जाता था। ऋषि कुशध्वज कन्या वेदवती उन स्त्रियों में थी, जो विवाह न करके जीवनपर्य्यन्त अध्ययन में ही लगी रहती थीं। ऋषि याज्ञवल्क्य से तर्क करने वाली गार्गी तथा याज्ञवल्क्य से आत्मज्ञान विषयक प्रश्न करने वाली उनकी पत्नी मैत्रेयी तो उस काल की सुविदित नारियों में प्राख्यात हैं। अनेक स्त्रियाँ अध्यापन कार्य करती थीं, जिन्हें उपाध्याया कहा जाता था। अष्टाध्यायी में महिलाशिक्षणशाला का उल्लेख आया है।[१०] काशकृत्स्नी ने मीमांसादर्शन जैसे गूढ विषय पर पुस्तक की रचना की, जो उन्हीं के नाम पर प्राख्यात हुई। इस वर्ग के अध्येताओं को भी 'काशकृत्स्नी' ही कहा जाता है।

माता के रूप में नारी की महिमा अगाध है। वेदों में माता का अभिनन्दन किया गया है। पुत्र को माता के मनोनुकूल होने का उपदेश दिया गया है।[११] ब्रह्मचारी के द्वारा अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद उसे देवता के समान माता की पूजा करने का निर्देश दिया गया है।[१२] मातृसूचक शब्दों का व्यवहार पितृसूचक शब्दों के पूर्व ही होता रहा है।[१३] माता के रूप में नारी का गौरव और वैभव अतुलनीय है। पत्नी के रूप में नारी की महत्ता कहीं भी पति से कम नहीं है। उसे पुरुष का आधा भाग माना गया है। वह पुरुष की सर्वोत्तम सखी है। वह संसार–सागर को तरने का साधन है। पत्नी–युक्त पुरुष का विश्वास हर युग में किया जाता रहा है। ऋक्संहिता में स्त्री का

---

९. अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्काराथं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्।। मनुस्मृति २.६६

१०. छात्र्यादयः शालायाम्। अष्टाध्यायी ६.२.८६

११. अनुंव्रतः पि॒तुः पुत्रो मा॒त्रा भंवतु संमंनाः। अथर्वसंहिता ३.३०.२

१२. मातृदेवो भव। तैत्तिरीयोनिषद् (शिक्षावल्ली) ११

१३. न यस्य॒ सातुर्जनिंतो॒रवांरि॒ न मा॒तरांपि॒तरा॒ नू चिंदि॒ष्टौ। ऋग्वेद ४.६.७

गौरव बताते हुए उसे ब्रह्मा कहा गया है।[14] 'ब्रह्मा की सञ्ज्ञा से नारी को विभूषित किये जाने का अर्थ यह है कि नारी ज्ञान में उत्कृष्ट है। वह बालकों को शिक्षा देती है, यज्ञ में ब्रह्मा का स्थान ग्रहण कर सकती है तथा संस्कारों का भी सम्पादन कर सकती है। इन्द्राणी का रूप आदर्श माना गया है। इन्द्राणी कहती है कि 'मैं समाज में मूर्द्धन्य हूँ, मैं अग्रगण्य हूँ, मैं प्रखर ववत्री हूँ[15], मुझे अबला न समझे, मैं सबला हूँ तथा वीरपुत्रों की जननी हूँ[16] इन्द्राणी को सेनानी भी कहा गया है और उन्हें अजेय और अधृष्य बताया गया है।[17] ऋक्संहिता में स्त्री–सेना का भी उल्लेख है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक–वाङ्मय में नारी को अत्यन्त समादरणीय स्थान प्राप्त है जहाँ तक मानवाधिकारों का प्रश्न है, यह विचारसरणि तथा यह शब्दावली वैदिक–वाङ्मय की तुलना में अत्यन्त नवीन है, फिर भी यदि इस कसौटी पर भी नारी को वैदिक–वाङ्मय के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो नारी किसी भी क्षेत्र में पुरुष से न्यूनतर न होकर अनेकत्र पुरुष की अपेक्षा बढ़कर ही है। प्रकृति ने नारी को भूषण रूप जो स्वभागवत विशेषताएँ प्रदान की हैं, वे यदि स्वाभाविक रूप में ही विद्यमान रहें तो इस जगत् में नारी से बढ़कर न तो कोई सौन्दर्य है और न कोई अलङ्कार। भूषण रूप विशेषताओं से सम्बन्धित नारी का समादर तो देवता भी करते हैं, मानव और उसके द्वारा कल्पित अधिकारों की तो बात ही क्या है।



---

१४. मा तें कर्शप्लृकौ दृंशन् त्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविंथ। ऋग्वेद ८.३३.१६

१५. अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचंनी। वही १०.१५६.२

१६. अवीरांमिव माम्यं शरारुरभि मंन्यते।
उताहमंस्मि वीरिणीन्द्रंपत्नी मरुत्संरवा विश्वंस्मादिन्द्र उत्तंरः। अथर्वसंहिता, २०.१२६.६

१७. प्रेतं पादौ प्र स्फुंरतं वहंतं पृणतो गृहान्।
इन्द्राण्येऽतु प्रथमाजीतामुंषिता पुरः।। वही १.२७.४

डॉ० मधुरिमा त्रिपाठी
लखनऊ

वेदकालीन मानवाधिकार–वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

मानवीय अधिकारों की अवधारणा भारत में वैदिक काल से ही पल्लवित तथा पुष्पित होती रही है। भारतीय दर्शन में मानवीय अधिकारों को गगनचुम्बी ऊँचाइयाँ प्रदान की गई हैं, सब प्राणियों में स्वयं को देखना और सबके साथ समान व्यवहार करना भारतीय मानवतावादी चिन्तन का मूल तत्त्व है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्' का शाश्वत विचार मानव–मात्र के उद्धार और कल्याण को रूपायित करता है। भारतीय संस्कृति एवं परम्परा में मानव–अधिकारों की अवधारणा के सारे तत्त्व विद्यमान हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में मानव–अधिकारों की विकास–यात्रा की प्रकृति अर्थ, अवधारणाएं एवं विकास को समग्रता से समझने में मानवाधिकारों की भारतीय विरासत को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

वैदिक युग में प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी अर्थात् प्रजा स्वयं अपने मुखिया का चुनाव करती थी।[1] यदि राजा पद के अनुरूप स्वयं को शक्तिशाली योग्य सिद्ध नहीं कर पाता था तो उसे राजपद से हटाकर प्रजा किसी दूसरे व्यक्ति को राजा चुन लेती थी। वैदिक समाज में अनेक सन्दर्भ राजतन्त्रात्मक शासन–प्रणाली की भी पुष्टि करते थे। उस समय राजा का मुख्य कर्तव्य प्रजा तथा राज्य की शत्रुओं से रक्षा करना था, इसलिए वेदों में राजा को 'ऋतस्य गोपः' कहा गया है।

वैदिक युग में जो जिस प्रकार के कार्य को करता था, वह उसी वर्ण का माना जाता था। जैसे–जो शासन करता था, वही क्षत्रिय कहलाने का अधिकारी था। कोई भी जन जो राजपरिवार का नहीं होता था, यदि शासक बनता था तो वह क्षत्रिय कहलाने का अधिकार प्राप्त कर लेता था। इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि ब्राह्मण नामक वर्ण भी किसी विशिष्ट जाति का वाचक नहीं था। वैदिक सभ्यता में यद्यपि

---

१ (क) आ त्वां हार्षम॒न्तरे॑धि ध्रुवस्ति॒ष्ठावि॑चाचलिः।...........

इन्द्र॑ इवे॒ह ध्रुवस्ति॑ष्ठे॒ह रा॒ष्ट्रमु॑ धारय। ऋग्वेद १०.१७३.१,२

(ख) त्वां विशो॑ वृणतां रा॒ज्याऽय॒ त्वामि॒माः प्र॒दिशः॒ पंच॑ दे॒वीः।

वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो विभंजा॒ वसू॑नि।। अथर्ववेद ३.४.२

अत्रि, कश्यप, भृगु आदि ऐसे परिवार थे किन्तु यह कोई जाति नहीं थी। कोई भी व्यक्ति पौरोहित्य कर्म अपना सकता था तथा ब्राह्मण बन सकता था। कभी–कभी राजा भी राज्य छोड़कर ब्राह्मण वृत्ति अपना लेते थे किन्तु धीरे–धीरे यह विभाग वंशानुगत तथा कठोर होता गया।

पूर्व वैदिक काल में जो कृष्ण वर्ण के थे वे दास कहलाए, वे ही उत्तरवैदिक काल में 'शूद्र' कहलाए, किन्तु इन्हें भी उस काल में समाज में ठीक स्थिति प्राप्त थी। शूद्रों को याज्ञिक कर्म में सम्मिलित होने का अधिकार था। अस्पृश्यता का कहीं नाम नहीं था। मैत्रेयी संहिता ४.२.६.६ में इस तथ्य का भी उल्लेख है कि शूद्र उस समय समृद्ध थे। आर्य तथा शूद्र के लिए किये गये प्रायश्चित्त समान थे।[2]

वैदिक युग में राजा या मुखिया के सम्मुख सबको अपनी बात कहने का अधिकार था अर्थात् सभी जन स्वतन्त्रता के अधिकार से युक्त थे।

उस युग में यदि कोई किसी को प्रताडित करता था तो उसकी प्रार्थना तत्स्थानीय राजा या मुखिया सुनता था तथा अपराधी को उचित दण्ड देता था। इस प्रकार वैदिक समाज में प्रजा को शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने का भी अधिकार था।

वैदिक युग में विवाह पूर्ण युवावस्था प्राप्त होने पर ही होता था। बाल–विवाह की प्रथा नहीं थी। विवाह माता–पिता की आज्ञा तथा सहमति से होता था। उस समय कन्या की इच्छा का भी ध्यान रखा जाता था, कन्या को अपने अनुरूप पति चुनने का अधिकार था।[3] मनुस्मृति में भी कहा गया है कि पराई स्त्री को 'भवति' 'सुभगे' तथा 'भगिनी' कह कर सम्बोधित करें।[4] उस युग में यह मान्यता भी थी कि जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है, वह कुल देवताओं द्वारा रक्षित होता है तथा जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती है उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं। जिस कुल में घर की स्त्रियाँ शोक करती हैं वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है तथा जिस कुल में वह शोक नहीं करती हैं वह कुल सर्वदा उन्नति करता है। अतः उन्नति चाहने वाले मुनष्य का यह कर्तव्य है कि वह स्त्रियों का सर्वदा आदर–सत्कार करे।

---

२. यद् ग्रामे यदरंण्ये यत्सभायां यदिंन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनंश्च कृमा व्यम्
यदेकस्याधि धर्मणि तस्योवयजंनमासिं।। यजुर्वेद २०.१७

३. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (वेदखण्ड) पृ० ५६०

४. परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च।। मनुस्मृति २.१२६

वैदिक युग में स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् अन्य पुरुष से विवाह कर सकती थी अर्थात् उस समय विधवा–विवाह का भी प्रावधान था।[५]

उस युग में कन्या के लिए भी वे ही संस्कार थे जो पुत्र के लिए। पुत्र के समान ही कन्या के लिए भी अच्छी शिक्षा व्यवस्था थी। अथर्ववेद में कन्याओं के ब्रह्मचर्य पूर्वक वेदाध्ययन का उल्लेख मिलता है। वहाँ कहा गया है कि 'ब्रह्मचर्य' के द्वारा कन्या युवा पति को प्राप्त करती है।[६] मनुस्मृति में भी उल्लिखित है कि स्त्रियों के भी संस्कार बिना मन्त्र के तथा समय क्रमानुसार करने चाहिए।[७] उस युग में छात्राओं के दो वर्ग थे एक सद्योवधू तथा दूसरे वर्ग में ब्रह्मवादिनी थी। सद्योवधू वो छात्राएं थीं जो विवाह से पूर्व कुछ वेद–मन्त्रों और याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेती थीं तथा ब्रह्मवादिनी वे थीं जो अपनी शिक्षा पूर्व करने में अपना जीवन लगा देती थीं। इस प्रकार कुछ स्त्रियाँ जीवन–पर्यन्त अध्ययन में लीन रहती थीं तथा विवाह नहीं करती थीं। ऋषि कुशध्वज की कन्या वेदवती ऐसी ही ब्रह्मवादिनी स्त्री थी।

उस युग में पर्दा–प्रथा नहीं थी। स्त्रियाँ सामाजिक उत्सवों में स्वेच्छा से घूम फिर सकती थीं। पड़ोसी के घर मृत्यु होने पर भी सौभाग्यवती स्त्रियाँ उस पड़ोसी की शव्यता में श्मशान तक साथ जाती थीं। उन्हें व्यावसायिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त थी। जैसे पुरुषों के साथ कृषि–कर्म, सूत–कातना, टोकरी बनाना, कपड़ो की सिलाई, आटा पीसना, कपड़ा बनाना, अन्न कूटना तथा भोजन बनाना आदि।[८]

उस युग में पुरुष तथा स्त्री दोनों का ही सम्पत्ति में अधिकार था। परिवार में पुत्र तथा पुत्री दोनों समान समझे जाते थे। दत्तक पुत्र से पुत्री श्रेष्ठ समझी जाती थी। अपने भाई के न रहने पर बहन पिता की सम्पत्ति की अधिकारी मानी जाती थी। अतः वैदिक युग में स्त्रियों का सम्पत्ति में अधिकार स्वीकार किया जाता था। जीमूतवाहन तथा विज्ञानेश्वर दोनों शास्त्रकारों ने कन्या को पुत्र के हिस्से का चौथाई भाग पाने की संस्तुति की है। नारद मुनि का अभिमत है कि कन्या उतना ही हिस्सा प्राप्त करे जितना उसके अविवाहित रहने तक व्यय होता है। पिता के दिवंगत हो जाने पर कन्या का विवाह करना पुत्र का परम कर्तव्य था। अपने हिस्से का एक चौथाई वह विवाह–कार्य में व्यय कर सकता था। विधवाओं का भी अपने पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होता था। साथ ही पुत्रों के अयोग्य होने पर भी

---

५. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (वेदखण्ड) पृ० ५६२

६. ब्रह्मचर्येण कन्याइं युवानं विन्दते पतिम्। अथर्ववेद ११.५.१८

७. अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थे शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्।। मनुस्मृति २.६६

८. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (वेदखण्ड) पृ० ५६५

विधवा माता ही उस सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। इसके अतिरिक्त स्त्री के विवाह के समय जो कुछ भी दान दिया जाता था उस पर पूर्ण अधिकार होता था।

वैदिक युग में पारिवारिक सदस्यों का परस्पर एक–दूसरे पर सम्बन्धानुसार अधिकार होता था जैसे–पिता जो परिवार का वरिष्ठ सदस्य होता था वही परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा व्यवस्था का अधिकारी होता था। उसका परिवार पर पूर्ण अधिकार तथा स्वत्व होता था। शास्त्रों में भी पिता के विनय, रक्षण तथा भरण तीन कार्य बताए गये है।

इसी प्रकार सङ्कट या अपत्ति काल में पत्नी का यह अधिकार था कि वह अपने पति के द्वारा रक्षित की जाय।

यह अतर्कनीय तथ्य है कि वैदिक काल का समाज विकसित विचारधारा वाला था। उस समय भी पूर्ण समाज में स्त्री तथा पुरुष को यथोचित अधिकार प्राप्त थे। इसी आधार पर भारतीय संविधान का निर्माण करते समय धर्म, आचार, संस्कृति तथा परम्पराओं का सम्मान करते हुए अनेक नियम बनाये गये थे, जिनका संस्कृत वाङ्मय में वर्णन है। विशेषकर मानव–अधिकार की पृष्ठ भूमि तो वैदिक सामाजिक व्यवस्था पर ही आधारित है। जैसे–

१. समता का अधिकार

२. स्वतन्त्रता का अधिकार

३. शोषण के विरूद्ध अधिकार

४. धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार

५. संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

६. संवैधानिक उपचारों का अधिकार

मानव–अधिकारों के प्रति चेतना एवं जागरूकता बढ़ाने के लिए, तथा उनकी अवहेलना, के प्रकरणों से निपटने के लिए, विशेष कानूनों का निर्माण एवं आयोगों का गठन किया गया।

मौलिक अधिकारों के रूप में समानता के अधिकारों के कारण ऊँच–नीच, छुआ–छूत एवं जाति–व्यवस्था की समाप्ति का सङ्कल्प लिया गया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् मानवीय अधिकारों को संरक्षण प्रदान करने के लिए, भारत सरकार ने २६ सितम्बर, १६६३ में मानवाधिकार संरक्षण अध्यादेश के अन्तर्गत १२ अक्टूबर, १६६३ को एक राष्ट्रिय मानवाधिकार आयोग का गठन किया, इसके सभापति भारत के पूर्व न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय के वर्तमान

या पूर्व न्यायाधीश, अनुसूचित जाति व जनजाति आयोग अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष इत्यादि हैं। इनकी नियुक्ति पाँच वर्षों के लिए की जाती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मानवीय अधिकार मानव–अस्मिता का कवच विश्वशान्ति एवं कल्याण का मन्त्र है। मानवीय अधिकारों को स्वयं जगत् नियन्ता ईश्वर ने सूर्यदेव की प्रखर किरणों को लेकर मानव–प्रकृति की पुस्तक में ऐसे शब्दों में लिखा है जिसको कोई मानवीय शक्ति नही मिटा सकती।

संस्कृत वाङ्मय में वैदिक साहित्य, निरुक्त, पुराण, बौद्ध एवं जैन साहित्य, मीमांसा, स्मृतियाँ तथा समकालीन नाटक–इत्यादि में मानवाधिकारों का विशद उल्लेख आता रहा है जिसे संविधान में मानवाधिकारों का आधार बनाया गया है।

***

डॉ० (श्रीमती) कमलेश शर्मा
मुरादाबाद

वैदिक–चिन्तन में मानवाधिकार विषयक–अवधारणा

सामाजिक जीवन की ऐसी दशाएँ जिनमें मानव को समाज एवं कानून–सम्मत कार्यों को सम्पादित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो, मानवाधिकार कहलाती है और उसके लिए इन दशाओं को सुनिश्चित करना 'मानवाधिकार–संरक्षण के अन्तर्गत आता है। मानवाधिकारों को ही मूल अधिकार, आधारभूत अधिकार, जन्मजात अधिकार अथवा नैसर्गिक अधिकार भी कहा जाता है। प्रत्येक नागरिक को इन्हें सुनिश्चित किया जाना सम्बन्धित सरकार का दायित्व है। मानव, प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ कृति है। वह चाहे किसी भी लिङ्ग, वर्ण या जाति का हो, किसी भी देश, प्रदेश या क्षेत्र में रहता हो अथवा किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या मत का मानने वाला, गरीब या अमीर हो, प्रत्येक को अपने समुचित विकास, संरक्षण और सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार है। विश्व की विभिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों, जीवन–मूल्यों और आदर्शों में मानव के इसी स्वरूप की कल्पना की गई है। परन्तु इसके विपरीत आज के विश्व में मानवीय सभ्यता अपने अपेक्षित मूल स्वरूप को छोड़ चुकी है। आज का मानव–समाज अपने उच्च जीवन–मूल्यों, आदर्शों तथा आधारभूत दायित्वों को भूलता जा रहा है। इसके कारण मानवाधिकारों के उल्लङ्घन की स्थिति भयावह होती जा रही है। इसी कारण आज विश्व भर में मानवाधिकार–संरक्षण की दिशा में विशेष प्रयास करने के लिए मुक्तकण्ठ से चर्चाएँ की जा रही है।

अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर मानवाधिकारों तथा उनके संरक्षण के सम्बन्ध में विचार करने पर विदित होता है कि इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा १० सितम्बर, १९४८ को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से प्रारम्भ हुआ और तभी से प्रत्येक वर्ष १० दिसम्बर को अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार दिवस के रूप में मनाया जाता है। मानवाधिकार–विषयक आधुनिक चिन्तन का उदय अन्तर्राष्ट्रीय–विधि के क्षेत्र में हुआ। इस चिन्तन के विकास के मूल में यह अवधारणा रही कि यह अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य होने के कारण स्वभावतः या नैसर्गिक रूप से प्राप्त हैं। ये अधिकार सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्रदेय होते हैं। इनकी मान्यता और स्वीकृति समाज के नैतिक स्तर पर निर्भर करती है। इन अधिकारों को विश्व–शान्ति, न्याय और स्वतन्त्रता का मूल माना गया है। विश्व के अनेक राष्ट्रों ने प्रतिज्ञा की है कि वे संयुक्त राष्ट्र के सहयोग से मानवाधिकारों

और उनकी मौलिक आवश्यकताओं के प्रति सम्मान का भाव रखेंगे।

मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा में सम्मिलित अधिकारों को व्यापक रूप से चार प्रमुख कोटियों में रखा जा सकता है। यह अधिकार हैं– समानता का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार तथा अन्तःकरण एवं धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार। भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के रूप में इन अधिकारों का प्रावधान किया गया है, परन्तु भारतीय चिन्तन की परम्परा में मानवाधिकार की सार्वभौम अवधारणा का जन्म अत्यन्त प्राचीन काल में हो चुका था। भारतीय परम्परा में मानवाधिकार विषयक चिन्तन निःसन्देह इस विषय पर विश्व का प्राचीनतम–विश्लेषण कहा जा सकता है। वैदिक संस्कृति में न्याय, समानता, बन्धुत्व आदि ऐसे मानवीय मूल्यों का समावेश किया गया है जो मानवाधिकार के प्राण हैं। वैदिक संस्कृति की यह विशेषता है कि इसमें चरित्र निबंध के माध्यम से मानवाधिकार की प्रतिष्ठा की गई है। हमारे देश में प्राचीन काल से ही मानव–मानव की एकता और समानता की अवधारणा रही है। हमारे ऋषियों ने बार–बार 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' की कामना दोहराई है।

अर्थात् सभी सुखी हों, सभी नीरोगी हों। वास्तव में मानवाधिकार की अवधारणा का यह सूत्र वाक्य है। मानवाधिकारों का वर्णन वैदिक साहित्य में प्रबल रूप से विद्यमान है। ऋग्वेद में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि सभी मनुष्य समान हैं और एक–दूसरे के बन्धु हैं। वैदिक चिन्तन में प्रस्तुत की गई जीवन की व्याख्याओं में धर्म को आधार स्तम्भ माना गया है। धर्माचरण द्वारा शान्ति और सुख की कामना की गई है। पञ्चमहाभूत, आश्रम, ऋण, कर्म, अध्यात्म, ऋत और सत्य के विचार देश या समाज–विशेष को ध्यान में रखकर प्रस्तुत नहीं किये गए थे। इन सब विचारों के केन्द्र में 'धर्म' को स्थापित किया गया जो सबको धारण करता है। इस सन्दर्भ में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि धर्म का विचार किसी पंथ या सम्प्रदाय या मत का विचार कदापि नहीं था। इसके विपरीत धर्म समग्र मानव जाति या समाज के अभ्युदय का मार्ग है।

सबकी रक्षा, सबका भरण–पोषण, सबके लिए ऊर्जा, सबके लिए शक्ति, सबके साथ सौहार्द, किसी से भी विद्वेष का अभाव, सर्वत्र शान्ति की कामना का उद्घोष करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली सबका आह्वाहन करती है–

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।[1]

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षावली) १२

आज मानवाधिकारों की चिन्ता ऐसे ही लक्ष्य को पाने के लिए उठ रही है। यजुर्वेद[2] में वेदों का ज्ञान चारों वर्णों के लिए कल्याणकारी बताया गया है। यजुर्वेद में प्रोक्त है कि वेद की कल्याणी वाणी सभी जनों के लिए है, चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय, शूद्र, आर्य अथवा चारण कोई भी क्यों न हो। इसमें समानता की भावना प्रकट होती है। अथर्ववेद[3] सबके कल्याण की कामना करते हुए कहता है कि माता–पिता का कल्याण हो, गायों का कल्याण हो, संसार भर के पुरुषों का कल्याण हो, समस्त विश्व हमारे लिए सुभूत और सुविज्ञान हो। अथर्ववेद[4] में कहा गया है कि यह पृथ्वी भिन्न–भिन्न धर्मों–मतों को मानने वालों को शरण देती है। यह धरती गाय की तरह हमारे कल्याण की हजारों अबाध धाराएँ बहाए। वेदों की इस विश्वव्यापी, समस्त मानव कल्याणवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका विश्वकोष में लिखा है कि वेदों के इसी दृष्टिकोण के कारण यूरोपीय एवं अमेरिकी विद्वानों ने इसके अध्ययन में गहरी रुचि ली।

वेदों में कहा गया है कि सब मनुष्यों के सङ्कल्प, प्रयत्न और व्यवहार समान हों। सबका मन हृदय इस प्रकार हो कि सब में शुभभाव, सहभाव सम्पादित हो।[5] ऋग्वेद[6] में कहा गया है कि हे मनुष्यों! तुम सबके लिए पेयजल की व्यवस्था समान हो, सब परस्पर जुड़कर रहो। वेद समस्त मानवजाति के कल्याण और समस्त मानव समाज के परस्पर मेल, सहयोग, संवाद की बात करते है। सब में मन की एकता हृदय की समानता, विचारों की समानता की बात करते हैं। यजुर्वेद[7] में कहा गया है कि जीवन को सुखी बनाने के लिए त्याग की भावना आवश्यक है। संसार की प्रत्येक वस्तु को निःस्वार्थ भाव से भोगना और आसक्ति को छोड़ना होगा। अपने पुरुषार्थ से प्राप्त धन का ही उपयोग करो। दूसरे के धन की ओर लोलुप दृष्टि से न देखो। जीवन में त्याग की भावना जागृत करो। दूसरों के अधिकारों का हनन न करो, इसी से जीवन

---

२. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यामथं शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। यजुर्वेद २६.२

३. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यों जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूत सुविदत्रं नों अस्तु ज्योगेव हंशेम सूर्यम्। अर्थर्ववेद १.३१.४

४. जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। वही १२.१.४५

५. Encyclopedia Britannica (01, 15) Edu, 15th 1974, P-617.

६. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋग्वेद १०.१९१.४

७. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेनं त्यक्तेनं भुञ्जीथा मा गृधः कस्यं स्विद्धनम्।। यजुर्वेद ४०.१

सुखमय होगा।

ऋग्वेद[८] के एक मन्त्र में कहा गया है कि ईश्वर समाज के सभी व्यक्तियों को ओजस्विता दे। सभी उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त करें। समाज में जीवन–शक्ति हो, सम्पन्नता हो, यशस्विता हो जिससे विश्व के सभी वर्गों को समृद्धि के अधिकार का समान अवसर प्राप्त हो सके। ऋग्वेद के दशम मण्डल में ऋषि उद्घोषित करते हैं, 'प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।' प्रत्येक मानव के प्रति देव बुद्धि का विकास करने के लिए शिक्षा चाहिए अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व को महिमान्वित करना और पूर्णता की ओर ले जाना है। वेद प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा के अधिकार की मान्यता देते हैं। वैदिक संस्कृति में प्रत्येक मानव को प्राण का अन्तर्निहित अधिकार था। इस अधिकार की विधि द्वारा रक्षा की जाती थी। ऋग्वेद में राजा को 'गोपजनस्य' (प्रजा का रक्षक) कहा गया है। राजा प्रजा के प्राणों की रक्षा करता था व देखभाल करता था। प्रत्येक मानव को जीने का अधिकार था। वैदिक संस्कृति समाजवाद 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का ही रूपान्तरण है। समानता और सर्वकल्याण भावना वैदिक समाजवाद के मूलतत्त्व हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वेदों में मानवाधिकार–चिन्तन की मौलिकता, व्यापकता तथा उदारता उसे सार्वभौमिक चिन्तन हेतु अधिक सटीक और प्रासङ्गिक बना देती है। मानव–जीवन के लक्ष्य, देश और काल में मनुष्य की अवस्थिति और समग्र सृष्टि के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार का हो, इस प्रश्न पर वैदिक चिन्तन निश्चित रूप से एक ऐसी परिकल्पना प्रस्तुत करता है जो सबके लिए उपयुक्त है। वैदिक चिन्तन में व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की सम्यक् व्यवस्था हेतु कर्त्तव्यों का भी विश्लेषण किया गया है। विद्यार्थी, शिक्षक, गृहस्थ, राजपुरुष सबके लिए कर्तव्यों का शृङ्खला का विधान किया गया। वर्णाश्रम धर्म जीवन के विभिन्न सोपानों पर मनुष्य के जीवन को नियमित करता है। यह विधान मानवाधिकारों की रक्षा के लिए किया गया है। एक व्यक्ति के कर्त्तव्य से ही दूसरे व्यक्ति के अधिकार को जीवन प्राप्त होता है। भारत देश को कर्मभूमि इसीलिए कहा गया। इसी दृष्टि से 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' के सिद्धान्त का भागवत उद्घोष गीता में किया गया। कर्त्तव्य की चेतना के अभाव में समाज की एकता और सद्भाव तथा जीवन की गरिमा की वैदिक परिकल्पना कभी साकार नहीं हो सकती।

***

---

८. ऋग्वेद – ६.१०.१.६

२. इतिहासपुराण-खण्ड

डॉ० (श्रीमती) नीलिमा चौधरी
कानपुर

वाल्मीकिरामायण में मानवाधिकार

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म पर विशेष बल देते हुए कहा गया है कि 'कर्मण्येवाधिकारते मा फलेषु कदाचन'। इस प्रकार मानवाधिकार से तात्पर्य है—मनुष्य को कर्म करते हुए अधिकार प्राप्त करना। वाल्मीकिरामायण में विशेषकर राजा के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों को दृष्टि में रखकर यहाँ मानवाधिकार—विषयक चिन्तन किया जा रहा है।

सर्वप्रथम राजा का अपने प्रति कर्त्तव्य जैसे—जितेन्द्रिय बनने के लिए काम—क्रोध से उत्पन्न व्यसनों का त्याग करना[1], भोगों में आसक्ति का त्याग[2], चञ्चलता एवं असावधानी का त्याग[3], शम, दम, क्षमा, धर्म, सत्य एवं पराक्रम को धारण करना[4], क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, आलस्य का परित्याग[5], स्वेच्छाचारिता एवं निरङ्कुशता से दूर रहना[6], पापों से दूर रहना[7], शठता, गर्व एवं प्रभुता से दूर रहना[8], आदि राजा के लिए अपेक्षित था।

रामायण के अनुसार राजा का प्रजा के प्रति मुख्य कर्त्तव्य प्रजा की यथाशक्ति सावधानीपूर्वक रक्षा करना[9], सदैव प्रजा के हित की कामना करना[10], चारों वर्णों को उनके हितार्थ कार्य करने के निर्देश देना[11], प्रजा को धर्म के कार्यों में लगाना[12], आदि है। प्रजा के सुख एवं कल्याण के लिए अपनी प्रिय वस्तु का परित्याग करना भी

---

१. वाल्मीकिरामायण –२.३४२
२. वही – २.३३.२.३
३. वही – ३.३३.७
४. वही – ४.१७.१७
५. वही – २.१००.६६
६. वही – ३.३३.२
७. वही – ४.१७.२०
८. वही – ३.३३.१५
९. वही – २.२.७
१०. वही – १.१.२०
११. वही – १.१.६३, १.६.१६, ५.३५.११, ६.१३१.१००
१२. वही – ६.१३१.१०१

राजा का कर्त्तव्य था। राजा राम ने प्रजा में व्याप्त अपवाद के कारण एवं उनके सन्तोष के लिए अपनी प्रिय पत्नी सीता का परित्याग किया था।[१३] राजा सगर ने भी जनकल्याणार्थ अपने पुत्र को देश से निष्कासित कर दिया था।[१४] राजा धर्म की वृद्धि की इच्छा से धर्म के विपरीत आचरण करने वाले को रोकता था।[१५] धर्म से तात्पर्य सत्य आदि नैतिक गुणों से था– **आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।**[१६] प्रजा की आय के छठे भाग को प्राप्त करने के कारण राजा प्रजा की रक्षा–हेतु बाध्य था।[१७] न केवल नागरिकों बल्कि तपस्वियों की रक्षा करना भी राजा का कर्त्तव्य था क्योंकि वह उनकी तपस्या का चौथा भाग प्राप्त करता था।[१८] प्रजा की आय का छठवाँ भाग ग्रहण कर प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ राजा 'अधर्मी' कहा गया है।[१९] रामायण में राजा को प्रजा की रक्षा पुत्रवत् करने के निर्देश हैं।[२०]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रामायण के अनुसार मनसा, वाचा, कर्मणा तथा धर्म के अनुसार प्राणों और पुत्र के समान प्रजा की रक्षा करना एवं उसकी नैतिक एवं भौतिक उन्नति करना राजा का परम कर्त्तव्य था।[२१]

अमात्य एवं अन्य अधिकारियों के प्रति राजा के कर्त्तव्यों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि राज्य की सुरक्षा एवं उसकी व्यवस्था करके ही वह राज्य से बाहर जा सकता था। राजा भगीरथ राज्य का प्रबन्ध मन्त्रियों पर सौंपकर तपस्या हेतु गये थे।[२२] राजा राम शम्बूक की खोज के लिए जाने से पूर्व राज्य के प्रबन्ध की व्यवस्था भरत और लक्ष्मण को सौंप गये थे।[२३] अमात्यों के प्रति राजा के विभिन्न कर्त्तव्य थे। वह श्रेष्ठ मन्त्रियों की नियुक्ति करता था।[२४] राज्य के प्रत्येक कार्य में राजा मन्त्रियों

---

१३. वाल्मीकिरामायण – ७.४५.१८
१४. वही – २.३६.२३
१५. वही – ४.१८.६
१६. वही – २.१४.३
१७. वही – ७.७४.३१
१८. वही – ३.६.१४
१९. वही – ३.६.११
२०. वही – ३.६.१२
२१. वही – ३.६.१२
२२. वही – १.४२.१२
२३. वही – ७.७५.६
२४. वही – २.१००.१६

के साथ परामर्श करता था।[25] राजा शासन का दायित्व पूर्ण रूप से मन्त्रियों पर ही नहीं छोड़ता था अपितु व्यक्तिगत रूप से भी ध्यान देता था।[26]

मन्त्रियों के अतिरिक्त राजा के कर्त्तव्य अन्य अधिकारियों से भी सम्बन्धित थे। स्वामिभक्त सेनापति की नियुक्ति करना,[27] बुद्धिमान् दूतों का चयन करना,[28] शत्रुओं से सचेत करना[29], अधिकारियों के प्रति प्रेमपूर्ण वर्ताव रखना एवं सम्मान देना[30], आदि अधिकारियों से सम्बन्धित राजा के कर्त्तव्य थे।

राजा के अन्य राज्याङ्गों से सम्बन्धित कर्त्तव्यों का भी उल्लेख मिलता है। रामायण में राजा के दण्ड, कोष आदि से सम्बन्धित कर्त्तव्य भी स्पष्ट हैं। अपराधी को दण्ड देने वाला राजा स्वर्गाधिकारी कहा गया है।[31] दुष्टों के प्रति दण्ड का प्रयोग करना, अनपराधी को दण्ड न देना एवं दण्ड देने में स्वेच्छाचारी न होना[32] आदि दण्ड से सम्बन्धित राजा के कर्त्तव्य थे।

न्याय सम्बन्धी राजा के कर्त्तव्य महत्त्वपूर्ण थे। राजा न्यायपालिका का प्रधान था।[33] प्रजा को राजा से दान, दया, सम्मान एवं न्याय की अपेक्षा रहती थी।[34] कोष के सम्बन्ध में अपेक्षित था कि उसे राज्य की आय को व्यय से अधिक रखना,[35] धन, धान्य, आयुध, जल, यन्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं के आगारों को परिपूर्ण रखना[36] अपेक्षित था। राजा किसी व्यक्ति से लालचवश भेंट स्वीकार नहीं करता था।[37] राजा का यह कर्त्तव्य सराहनीय था क्योंकि इससे राज्य में भ्रष्टता नहीं फैलती है।

राजा सैन्यबल को वेतन एवं भोजन से सन्तुष्ट एवं उपहारों से प्रसन्न रखते

---

२५. वाल्मीकि रामायण – २.२.१, २.१००.१६
२६. वही – ४.२६.५
२७. वही – २.१००.३१
२८. वही – २.१००.३६
२९. वही – २.१००.३८
३०. वही – २.१००.२८, ३५
३१. वही – ४.१८.३२
३२. वही – ४.१७.३२, ३३
३३. वही – ३.१.१७
३४. वही – ३.१.१७, ४.१७.१७
३५. वही – २.१००.५५
३६. वही – २.३.४४, २.१००.५४
३७. वही – ७.७६.३५

थे।[३८] मित्रों की वचनबद्ध होकर सहायता करना एवं अपनी विजय तथा राज्य के कल्याणार्थ मित्रों से सहायता लेना आदि राजा के सेना, युद्ध और सुहृद् से सम्बन्धित कर्त्तव्य थे।

उपर्युक्त कर्त्तव्यों के अतिरिक्त राजा के लोककल्याणार्थ सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्य भी थे। राज्य के मार्गों की व्यवस्था करना,[३९] प्रकाश की सुविधा देना,[४०] व्यापार की वृद्धि करना,[४१] कृषि एवं पशुपालन को ध्यान देना,[४२] प्रजा को मनोरञ्जन के साधन उपलब्ध कराना,[४३] तथा नैतिक उत्थान के लिए धार्मिक यज्ञों का अनुष्ठान कराना आदि भी राजा के महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य थे।

अतः चरित्र की रक्षा के साथ–साथ स्वजनों एवं प्रजाजनों की रक्षा करना तथा धर्म की रक्षा करते हुए प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना राजा का परम कर्त्तव्य था।

रामायण में राजा के कर्त्तव्यों के साथ उसके अधिकारों का उल्लेख भी है। उसे युवराज का चुनाव करने,[४५] मन्त्रियों की नियुक्ति करने,[४६] राजाज्ञा का उल्लङ्घन करने पर मन्त्रियों को दण्डित करने,[४७] सेनापति को नियुक्त करने,[४८] न्याय और दण्ड के विषय में प्रधान बनने,[४९] युद्ध की घोषणा करने और राजसुख का यथोचित उपभोग करने[५०] आदि का अधिकार प्राप्त था।

उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त राज्य के द्वारा उसे उन कर्तव्यों की पूर्ति के उपलक्ष्य में सुख–सुविधाएँ भी प्राप्त थीं। राजा के बैठने के लिए राजभवन में

---

३८. वाल्मीकि रामायण – २.१२५.६, ६
३९. वही – १.५.७, २.५.१७
४०. वही – २.६.१८
४१. वही – १.५.१४
४२. वही – २.१००.८४
४३. वही – १.५.१२
४४. वही – १.६.२, २.१००.६
४५. वही – २.१.४१
४६. वही – २.१००.१६
४७. वही – ३.४०.६
४८. वही – २.१००.३१
४९. वही – ३.१.२७
५०. वही – ७.७४.३२

स्वर्णजटित सिंहासन भी उपलब्ध था।[51] राजा को अपने वैभव एवं पद के अनुरूप वस्त्राभूषण उपलब्ध थे। उसे सुविधा के लिए हाथी, अश्व, रथ आदि प्राप्त थे।[52] द्वारपाल, प्रतिहारी एवं अनेक सेवक उपलब्ध थे। राजा की सुरक्षार्थ राजभवन में पहरा भी रहता था।[53] राजा के मनोरञ्जनार्थ मृगया, जलक्रीडा, सङ्गीत, नृत्य, वाद्य आदि का उल्लेख है।[54]

राजा को सुखोपभोग के लिए प्रजा की आय का छठवाँ भाग वेतन के रूप में प्राप्त होता था।[55] जिसे वह अपने सुख एवं प्रजारञ्जनार्थ उपयोग करता था। इस प्रकार राज्य के प्रति कर्त्तव्यपालन एवं प्रजा के हित और रक्षा हेतु राजा को उपर्युक्त अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त थे।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि राजा राज्य के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी था एवं राज्य के प्रति उसके व्यापक कर्त्तव्य थे। अतः राज्य के द्वारा उसे उन कर्त्तव्यों की पूर्ति के उपलक्ष्य में सुख–सुविधाएँ एवं अनेक अधिकार भी प्राप्त थे।

***

---

५१. वाल्मीकि रामायण – ४.३४.३

५२. वही – ५.४.२६, ५.६.६

५३. वही – ४.३३.२४

५५. वही – ३.१६.११, ७.७४.३१

डॉ० मधु श्रीवास्तव
गाजियाबाद

स्त्रीसम्बद्ध मानवाधिकार–महाभारत के परिप्रेक्ष्य में

किसी समाज के निर्माण में स्त्री और पुरुष दोनों का सहयोग आवश्यक होता है। स्त्री–पुरुष के सह–अस्तित्व से ही समाज का अस्तित्व होता है। अतः समाज में किसी एक की प्रधानता और अन्य की गौणता से समाज का सन्तुलन डगमगाने लगता है। प्राचीन संस्कृत–साहित्य में भारतीय समाज का जो चित्र हमारे समक्ष उपस्थित होता है उससे समाज में स्त्रियों की स्थिति या दशा में विविधता दृष्टिगत होती है। सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से प्राचीन समय में नारी को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त थी। बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक वह परिवार के पुरुष सदस्यों के संरक्षण में रहती थी। धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों एवं यज्ञादि में वह उपस्थित होती थी। कन्याओं को ललितकला, काव्य, नृत्य, सङ्गीत तथा आचरण–सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त होती थी। वैदिककाल में उच्च शिक्षा–प्राप्त अनेक ऋषिकाओं के नाम मिलते हैं जैसे अपाला, लोपामुद्रा, विश्ववारा, रोमशा, सिक्ता, घोषा आदि जिन्होंने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं का दर्शन किया। समाज में स्त्री के कन्या, पत्नी और माता ये तीन मुख्य रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

महाभारतकाल मे लोग कन्या के जन्म के इच्छुक हुआ करते थे। पुत्री की कामना करने वालों को द्वितीया का श्राद्ध करने को कहा गया है[1] तथा कन्याश्रम तीर्थ करने को भी कहा गया है।[2] सौ पुत्रों की प्राप्ति का साभौग्य प्राप्त हुआ जानकर भी गान्धारी को एक कन्या की तीव्र इच्छा हो उठती है। वह सोचती है कि 'यदि सौ पुत्रों के अतिरिक्त एक छोटी कन्या हो जायेगी तो मेरे पति दौहित्र के पुण्य से प्राप्त होने वाले उत्तम लोकों से वञ्चित नहीं रहेंगे।[3] महाभारतकाल में केवल पुत्रों की प्राप्ति से व्यक्ति पितृऋण से मुक्त नहीं माना जाता था तथा कन्या होने पर ही घर पूर्ण होता था। आदिपर्व के 'वकवध' नामक उपपर्व में एक कथा के अनुसार किसी ब्राह्मण–परिवार में एक पुत्र और एक कन्या थे। एक दिन परिवार के किसी एक सदस्य को 'बक' नामक राक्षस के भोजन के रूप में स्वयं को समर्पित करने जाना था। ब्राह्मणी ने विचार किया कि कन्या तथा पुत्र दोनों को जन्म देकर वह ऋणमुक्त

---

१. महाभारत, अनुशासनपर्व १८.१०
२. वही, वनपर्व ८३.१८६
३. वही, आदिपर्व ११५.११

हो गई है, अतः स्वयं ही राक्षस का आहार बनने को तैयार होकर जाने का विचार करके पति से बोली–

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि।

कन्या चैका कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया।।[४]

कन्याओं के संस्कार भी होते थे जिनमें नामकरण, कर्णवेध आदि का अधिक महत्त्व था। महर्षि भरद्वाज की 'घृताची' नामक अप्सरा से उत्पन्न एक पुत्री थी जिसके लिए उन्होंने जातकर्म आदि समस्त संस्कार कराये और देवर्षियों की सभा में उसका नाम 'श्रुतावती' रख दिया।[५] कन्याएं घर में माता–पिता की सहायता किया करती थीं। पिता की सेवा के लिए सत्यवती यमुना जी के जल में नाव चलाया करती थीं।[६] कन्याओं को नृत्य, सङ्गीत आदि की शिक्षा का पता इससे होता है कि अर्जुन ने नपुंसक वेष से राजा विराट की कन्या उत्तरा तथा अन्य स्त्रियों को नृत्य, गीत, वाद्य आदि की शिक्षा दी थी।[७] कन्या को अत्यन्त शुभ माना जाता था। अतिथिसत्कार का कार्य प्रायः कन्याएँ किया करती थीं। किसी की अगवानी आदि विशिष्ट कार्यों में कन्याओं का रहना अत्यन्त शुभ होता था। सन्धि कराने के उद्देश्य से हस्तिनापुर को पहुँचे श्रीकृष्ण की अगवानी के लिए पर्दा न रखने वाली कल्याणमयी कन्याओं के जाने की बात कही गई है–

नगरादपि याः काश्चित् गमिष्यन्ति जनार्दनम्।

द्रष्टुं कन्याश्च कल्याण्यस्ताश्च यास्यन्त्यनावृताः।।[८]

मत्स्यनरेश विराट् ने पाण्डवों की सहायता से सुशर्मा पर विजय प्राप्त करके दूतों को आदेश दिया कि 'तुम लोग नगर में जाकर सूचना दो कि युद्ध में हमारी विजय हुई है। कुमारी कन्याएं शृङ्गार करके स्वागत के लिए बाहर आ जायें'–

आचक्षध्वं पुरं गत्वा सङ्ग्रामविजयं मम।

कुमार्यः समलङ्कृत्य पर्यागच्छन्तु मे पुराद्।।[९]

महाभारत में कन्याओं के कौमार्य का बहुत महत्त्व था। दैवयोग से सत्यवती

---

४. महाभारत, आदिपर्व १५७.७

५. वही, शल्यपर्व ५८.६६, ६७

६. वही, आदिपर्व ६३.६६

७. वही, विराटपर्व १२.१२–१४

८. वही, उद्योगपर्व ८६.१६

९. वही, विराटपर्व ३४.१७

और कुन्ती के कन्यावस्था में पुत्र उत्पन्न हुए जो कि सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप नहीं था। अतः इस बात से डरी हुई सत्यवती को उसके साथ समागम करने वाले पराशर ऋषि ने कन्याभाव लौटा दिया–**'त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममानघ'** तथा **'उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि'**।[१०] सूर्यदेव ने कुन्ती के कन्याभाव को बिना दूषित किये योगशक्ति के द्वारा उसमें अपने तेज को स्थापित किया।[११]

महाभारतकाल में वयस्क होने पर ही कन्या का विवाह होता था। बालविवाह के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते हैं। राजपरिवारों में स्वयंवर–प्रथा का अत्यधिक प्रचलन था। कुन्ती ने स्वयंवर द्वारा राजा पाण्डु का वरण किया था।[१२] द्रौपदी का स्वयंवर मत्स्यवेध की प्रतिज्ञा के अनुसार हुआ था जिसमें अर्जुन ने मत्स्य–वेध करके द्रौपदी को प्राप्त किया।[१३] देवयानी ने स्वयं ही नहुषनन्दन ययाति का वरण किया और फिर पिता शुक्राचार्य के अनुमोदन से उसका ययाति के साथ विवाह हुआ।[१४] क्षत्रिय–समाज में युद्ध करके बलपूर्वक कन्या का हरण करके विवाह करने का प्रचलन भी था। अर्जुन ने सुभद्रा पर आसक्त हो कर इसी प्रकार उसका हरण करके विवाह किया था और श्रीकृष्ण ने इस कार्य को क्षत्रियधर्म के अनुकूल बताया था।[१५] विचित्रवीर्य के विवाह के लिए भीष्म ने स्वयंवर–सभा से काशिराज की कन्याओं का हरण किया था।[१६] नागराज की कन्या उलूपी ने अर्जुन पर मोहित होकर उनसे विवाह किया[१७] तथा हिडिम्बा ने भीमसेन पर आसक्त होकर उनसे 'घटोत्कच' नामक बलवान् पुत्र को प्राप्त किया।[१८] विवाह के अवसर पर कन्या को दहेज देने की प्रथा भी थी। कन्या को पैतृक अधिकार प्राप्त नहीं था अतः दहेज द्वारा ही उसे माता–पिता से धन की प्राप्ति होती थी। राजा विराट् ने अपनी पुत्री उत्तरा के विवाह में दहेज के रूप में सात हजार वेगवान् घोड़े, दो सौ विशालकाय हाथी, सेना और कोष आदि दिया था।[१९] विवाह अपने वर्ण में ही होते थे, किन्तु फिर भी अनुलोम तथा

---

१०. महाभारत, आदिपर्व ६३.७३ एवं ७८
११. वही, वनपर्व ३०७.२८
१२. वही, आदिपर्व १११, ८
१३. वही, आदिपर्व १८७, २०–२८
१४. वही, वनपर्व ८१, १७, २१, २७, ३१
१५. वही, आदिपर्व २१६, ७ तथा आदिपर्व २२०, ५
१६. वही, आदिपर्व १०२, १--१६
१७. वही, आदिपर्व २१३, १६
१८. वही, आदिपर्व १५४, ५ एवं ३१

प्रतिलोम विवाह के उदाहरण भी दिखाई पड़ते हैं। महर्षि पराशर और सत्यवती का विवाह अनुलोम विवाह था तथा ययाति और देवयानी का प्रतिलोम विवाह था।

पत्नी के रूप में स्त्री का अत्यधिक महत्त्व था। धर्मानुष्ठानों में पत्नी का साथ में रहना अत्यन्त आवश्यक था, उसके बिना अनुष्ठान पूर्ण नही होता था–

'भार्यावन्तः प्रमोदन्ते या सभार्या गृहमेधिनः।

भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः।।'[20]

भार्या को मनुष्य की अर्द्धाङ्गिनी, श्रेष्ठ सखा और त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति का साधन माना गया है–

'अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।

भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मित्रं मरिष्यतः।।'[21]

स्त्रियों के सम्मान का बहुत महत्त्व था। अनुशासनपर्व में आया है कि स्त्रियाँ माता की भाँति पूज्या एवं परिपाल्या हैं, स्त्रियों का जहाँ आदर होता है वहाँ देवता निवास करते हैं–

'पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप।

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।।'[22]

पति का कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी पत्नी का भरण–पोषण एवं सब प्रकार से उसकी रक्षा करे। पालन करने के कारण ही वह पति कहलाता है– **'पालनाच्च पतिः स्मृतः।'**[23] द्यूतसभा में बलपूर्वक लाई गयी द्रौपदी को अपने पतियों से यही शिकायत थी। वह कहती है कि स्वयंवर के समय जब वह सभा में आई थी तभी वहाँ उपस्थित राजाओं ने उसे देखा था, इसके अतिरिक्त कभी किसी ने उसे नही देखा, वही आज सभा में अपमानित हो रही है। तथा जो पाण्डव महल में वायु के द्वारा भी उसके स्पर्श को नहीं सहन करते थे वही आज दुःशासन के द्वारा उसके स्पर्श को सह रहे हैं।[24] वनपर्व में वह श्रीकृष्ण से अपने दुःख के विषय में कहती है कि 'सत्पुरुषों द्वारा सदा आचरण में लाया हुआ यह धर्म का सनातन मार्ग है कि निर्बल पति भी अपनी पत्नी की रक्षा करते हैं।'[25] किसी के द्वारा किये गये अपमान को

---

१९. महाभारत, विराटपर्व ७२, ३६, ३७

२०. वही, आदिपर्व ७४, ४२

२१. वही, आदिपर्व ६८, ४

२२. वही, अनुशासनपर्व ४६, ५

२३. वही, आदिपर्व १०४, ३०

२४. वही, सभापर्व ६६, ४, ६

स्त्रियाँ सहन नहीं कर पाती थीं। भीष्म द्वारा अपहृत की गई काशिराज की कन्या अम्बा जो कि अपहरण से पूर्व राजा शाल्व को मन ही मन वरण कर चुकी थी, भीष्म से अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए कठोर तपस्या करती है और तीन जन्मों तक प्रतीक्षा करती है।[२६] अन्ततः वह पुरुषभाव को प्राप्त कर शिखण्डी रूप से भीष्म की मृत्यु का कारण बनती है। द्रौपदी द्यूतसभा में कौरवों द्वारा किये गये अपने अपमान को कभी नहीं भूली। वह वनवास और अज्ञातवास के तेरह वर्ष की अवधि में निरन्तर उस अपमान से उद्भूत क्रोधाग्नि में जलती रही और युधिष्ठिर आदि को अपमान का बदला लेने की याद दिलाती रही। उद्योग–पर्व में जब श्रीकृष्ण सन्धिदूत बनकर हस्तिनापुर जाने लगे तो द्रौपदी ने स्पष्ट कह दिया कि यदि दुर्योधन राज्य दिये बिना ही सन्धि करना चाहे तो आप इसे कभी स्वीकार न कीजियेगा और शत्रुओं के साथ सन्धि का प्रयास करते समय दुःशासन के हाथों से खींचे गये मेरे इन केशों को याद रखियेगा।[२७] राजा दुष्यन्त ने जब शकुन्तला को पहचानने से अस्वीकार कर दिया तो शकुन्तला ने उसे कड़ी फटकार लगाई।[२८] महाभारत काल में सती–साध्वी एवं पतिव्रता स्त्रियाँ थीं जो सदैव अपने पति का अनुगमन एवं सेवा करने में तत्पर रहती थीं। द्रौपदी भी अत्यन्त पतिपरायणा थी। उसने श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा को पातिव्रत्य धर्म तथा स्त्री के कर्त्तव्य की शिक्षा दी।[२९]

महाभारतकाल में माता के रूप में स्त्री का बहुत आदर था। माता को गुरुओं का भी गुरु कहा गया है– **'नास्ति मातृसमो गुरुः।'**[३०] माता–पिता दोनों ही पुत्र की जो कामना करते हैं, वास्तव में वह अभिलाषा माता में ही प्रतिष्ठित होती है।[३१] माता मनुष्य के शरीररूपी अग्नि को प्रकट करने वाली अरणि है। माता के जीवित रहने तक मनुष्य स्वयं को सनाथ और उसके न रहने पर अनाथ समझता है।[३२] माता अपनी सन्तानों के प्रति अत्यधिक वात्सल्य से युक्त रहती है। पुत्रों का अपनी माता के प्रति महाभारत में बहुत अधिक सम्मान दृष्टिगत होता है। भीष्म पितामह अपनी सौतेली माता सत्यवती का बहुत सम्मान करते थे और उनकी आज्ञा के अनुसार ही

---

२५. महाभारत, वनपर्व १२.६८
२६. वही, उद्योगपर्व, १८६, १८७ एवं १८८
२७. वही, उद्योगपर्व ८२.१०, ३६
२८. वही, आदिपर्व ७२.१७–७२
२९. वही, वनपर्व, अध्याय २३३ एवं २३४
३०. अनुशासनपर्व १०६.६५
३१. वही, शान्तिपर्व २६६.३४
३२. वही, शान्तिपर्व २६६.२६

परिवार और शासन का समस्त कार्य करते थे। लाक्षागृह से बच निकलने के पश्चात् पाण्डव अपनी माता कुन्ती के साथ वनों में भटक रहे थे और भूमि पर शयन करते थे। उस समय कुन्ती सर्वदा अपने पुत्रों के सिरहाने सोती थीं। वन में माँ को प्यास से व्याकुल देखकर भीमसेन का हृदय करुणा से भर आया और वे मन ही मन सन्तप्त होकर स्वयं जल लाने गये।[३३] कुन्ती ने भूलवश द्रौपदी को भिक्षा में लाई भोजनसामग्री समझकर पुत्रों को आपस में बाँट लेने की आज्ञा दे दी। मातृभक्त पाण्डवों ने माता की उस आज्ञा का भी सम्मान किया। बाद में महर्षि व्यास का पाँचों पाण्डवों एवं द्रौपदी के पूर्व जन्म के वृत्तान्त को सुना कर द्रौपदी का पाँचों पाण्डवों से विवाह होने में किसी प्रकार का दोष न होने का अनुमोदन किया। इस प्रकार माता का गौरव और मान–सम्मान बहुत अधिक था।[३४]

महाभारत के वर्णनों से विधवा स्त्रियों की स्थिति पर जो प्रकाश पड़ता है उससे उनकी स्थिति अच्छी नहीं प्रतीत होती है। आदिपर्व में आया है कि 'जिस प्रकार पृथिवी पर पड़े हुए माँस के टुकड़े पर पक्षीगण टूट पड़ते हैं उसी प्रकार पतिविहीन स्त्री को सब लोग वश में करना चाहते हैं।[३५] शान्तिपर्व के अनुसार अनेक पुत्रों से युक्त होने पर भी सारी विधवाएं शोक में है।[३६] कुन्ती यदि विधवा न होतीं तो वह न तो राज्यभ्रष्ट होती और न ही उसे इधर–उधर भटकना और अपमान सहना पड़ता। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार पति की मृत्यु होने पर विधवा या तो ब्रह्मचर्य का पालन करती थी या पति की चिता में जल जाती थी।[३७] महाभारत में विधवा के सती होने के कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं। पाण्डु की छोटी रानी माद्री अपने पति के साथ चिता में जल गई।[३८] वसुदेवजी की चार पत्नियाँ देवकी, भद्रा, रोहिणी और मंदिरा अपने पति की चिता में सती हो गईं।[३९] श्रीकृष्ण की रुक्मिणी, गान्धारी, शैव्या, हैमवती तथा जाम्बवती ने पतिलोक की प्राप्ति के लिए अग्नि में प्रवेश किया तथा सत्यभामा एवं अन्य रानियों ने तप के लिए वन को प्रस्थान किया।[४०] महाभारत में विधवा को अशुभ नहीं माना गया है। वे शुभ अवसरों पर अन्य स्त्रियों की भाँति भाग ले सकती थीं। अपने पुत्रों के विवाह के समय कुन्ती उपस्थित थीं। उस समय कुल की अन्य स्त्रियों

---

३३. महाभारत, आदिपर्व १५०.१४
३४. वही, वनपर्व ३१३.६०
३५. वही, आदिपर्व १५७.१२
३६. वही, शान्तिपर्व १४८.२
३७. वही, विष्णुधर्मसूत्र २५.१४
३८. वही, आदिपर्व १२४.३१
३९. वही, मौसलपर्व ७.१८
४०. वही, मौसलपर्व ७.७३, ७४

तथा श्रीकृष्ण ने आकर उन्हें प्रणाम किया।[४१] पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री के भरण–पोषण का भार उसके पुत्रों पर होता था। महाभारत के अनुसार विधवा माता की रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय होता है।[४२] पुत्रहीन विधवा का पालन करना राजा का कर्त्तव्य होता था।[४३]

इस प्रकार महाभारत में स्त्रियों की महिमा का अनेकशः वर्णन प्राप्त होता है। शान्तिपर्व में वर्णित है कि स्त्री यदि कुमार्ग पर जाये तो यह उसके पति को दोष है न कि पत्नी का।[४४] माता का महत्त्व दस पिताओं से बढ़कर यहाँ तक कि समस्त पृथ्वी से भी अधिक है, माता से बड़ा कोई गुरु नहीं।[४५] सभी प्रकार के शापों से मुक्ति मिल सकती है किन्तु माता के शाप से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती।[४६] अनुशासनपर्व में कहीं–कहीं स्त्री की निन्दा भी प्राप्त होती है।

***

---

४१. महाभारत, आदिपर्व ११८.२
४२. वही, वनपर्व २६३.३५
४३. वही, शान्तिपर्व ८६.२४
४४. वही, शान्तिपर्व ८६.२४
४५. वही, अनुशासनपर्व १०५.१४–१६
४६. वही, आदिपर्व ३७.४

३. धर्मशास्त्र-खण्ड

डॉ० सुधा वाजपेयी
लखनऊ

मानवाधिकार के सन्दर्भ में कन्याधन–एक विचार

आज विश्व में मानवाधिकर पर अनेक प्रकार से विचार हो रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद U.N.O. ने मानवाधिकार के विषय को उठाया था जो १६४८ में यूनिवर्सल डेक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स के रूप में प्रतिष्ठित हुआ जिसमें मानव के मूल्य और सम्मान की बात की गई जो व्यक्ति के जाति, धर्म, लिङ्ग, जन्म, रङ्ग से ऊपर उठकर हो।

'मानवाधिकार' को संस्कृत वाङ्मय के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करते समय भारतीय संस्कृति का भी अवलोकन आवश्यक है। भारतीय संस्कृति 'सं गच्छध्वं, सं वदध्वं, सिद्धान्त को मानती है जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना पल्लवित होती है। हमारी सोच व्यष्टि पर अवलम्बित न होकर समष्टिपरक है। आज का युग वैज्ञानिक युग है। हम सभ्यता के विष को पान कर खड़े हैं। वहाँ स्त्री और पुरुष को समान अधिकार प्राप्त है, पर एक प्रश्नचिन्ह भी है। क्या वास्तव में ऐसा है? कन्याभ्रूण–हत्या के कारण स्त्री–पुरुष के अनुपात में बड़ा अन्तर आ गया है। न केवल भारतवर्ष में अपितु विश्व के अनेक देशों में तथा समाज के भिन्न–भिन्न वर्गों में नारी की ताडना एवं कन्याभ्रूण की हत्या हो रही है, इनका अनुपात प्रतिवर्ष बढ़ता ही जा रहा है। समाज में व्याप्त इस कुरीति को रोकने का एक मार्ग मनु एवं याज्ञवल्क्य की परम्परा में भी देखा जा सकता है। आज के वैज्ञानिक परिवेष में अनके लोग पुत्री की इच्छा नहीं करते, इस कारण भी भ्रूण–हत्या का अनुपात बढ़ रहा है, यद्यपि भारत के संविधान में इसे अवैध माना गया है तथापि सरकारी नियमों का पालन किस स्तर तक किया जा रहा है? यह विचारणीय प्रश्न है।

वेदों में जो कहा गया है उसे प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया जाता है क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है।[1] वेदों में 'मातृदेवो भव' का उद्घोष नारी शक्ति का प्रमाण है। वेद वस्तुतः हमारे जीवनाधायक तथा सभ्यता एवं संस्कृति के आधार है।

सर्वप्रथम विचारणीय है कि वेदों में 'दुहिता' 'दायाद' की पात्र है या नहीं? सन्तान पितृसकाशात् होती है, अतः वह 'अपत्य' कहलाती है फिर चाहे वह पुत्र हो या पुत्री। दुहिता भी पितृसकाशात् ही है इस कारण दुहिता का पुत्र भी दाय का

---

१. शतपथब्राह्मणे उपोद्घाते पृ.५

अधिकारी हो जाता है।

एक ऋचा में उल्लेख है–

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यंगाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।

पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्संशग्मयेन मनसा दधन्वे।।[2]

यह ऋचा प्रजनन से सम्बन्धित यज्ञ विशेष के सम्बन्ध में कही गयी है। सन्तानोत्पादन यज्ञ ही है, ऐसा नैगम मानते हैं। जिस प्रकार के मन्त्रों के विधान से पुत्र गर्भ का आधान होता है उसी प्रकार के विधान से कन्या का भी होता है –

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।

आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्।। इति

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।

मिथुनानां विसर्गादौ मनुःस्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।[3]

पिता की सम्पत्ति में केवल पुत्र का अधिकार है पुत्री का नहीं इस सम्बन्ध में धर्मविद् दो पक्ष वाले हो जाते है। एक वे आचार्य हैं[4] जो कहते हैं–'दुहितुरपि दायाद्यम्भवति', दूसरे वे हैं जो मानते हैं कि पुत्र ही दायाद का पात्र है न कि दुहिता। पुत्र एवं पुत्री के भेदभाव से सम्बन्धित एक मन्त्र प्राप्त होता है। दर्शपौर्णमास नामक श्रौतयाग में पुत्री के प्रति हीन भावना का निदर्शन करने वाले वचन प्राप्त होते है–

'एको ममैका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इत्येवं द्वौ मम द्वे तस्य, त्रयो मम तिस्र तस्यस्येति चतुर्थे इदं बर्हिषे न मम चत्वारो मम चतस्त्रस्तस्येति। पञ्च मम न तस्य किञ्चन्।[5]

यहाँ पर यजमान अपने लिए पुत्र की कामना करता है और जिसे द्वेष करता है उसके लिए पुत्री की कामना करता है। वस्तुतः पुत्र एवं पुत्री में भेदभाव बहुत बाद में वेदोत्तर काल में जाकर हुआ और आज इसकी भावना की परिणति कन्याभ्रूणहत्या के रूप में दिखायी पड़ रही है।

कन्या का पैतृक धन में उसी प्रकार अधिकार है जिस प्रकार पुत्र का, क्योंकि दोनों ही माता के गर्भ में दसमास–पर्यन्त रहते हैं। उनका लालन–पालन समान

---

२. ऋग्वेद ३.३१.१

३. निरुक्त ३.१.४

४. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. ६४३.४४

५. कात्यायनश्रौतसूत्र, ३.३.२–४

वातावरण में पिता के घर होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है यदि कोई अपुत्र पुरुष दिवङ्गत हो जाये तो सबसे पहले उसकी पत्नी ही उसके धन की अधिकारिणी होती है। यहाँ पत्नी शब्द से विवाह–संस्कार से युक्ता नारी ही विवक्षित हैं क्योंकि पत्नी शब्द **'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'**[६] इस पाणिनि–सूत्र के द्वारा पति शब्द से यज्ञ सम्बन्ध विशिष्ट स्त्री अर्थ में नकारादेश से निष्पन्न हैं 'पत्नी दुहितरश्चैव' यहाँ पत्नी शब्द में एकवचन का प्रयोग जात्यभिप्रायक है। अर्थात् पत्नीत्व विशिष्ट जितनी पुरुष की स्त्रियाँ है उन सबों को धन की अधिकारिणी समझना चाहिए, किसी एक को नहीं।

वृद्धविष्णु ने भी पत्नी का समग्र धन सम्बन्ध बताया है–

'अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता।
पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च।।

पुनः वे कहते हैं–

'अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि इति।।[७]

कात्यायन ने 'पत्नी पत्युर्धनहरी............भवेत्तदा' इत्यादि रूप में कहते हैं कि यदि पत्नी व्यभिचार–दोष से रहिता हो तो वही पति के धन की (पुत्र के न रहने पर) अधिकारिणी है, पत्नी के न रहने पर पुत्री अपने पिता के धन की अधिकारिणी है, यदि वह 'अनूढा' अर्थात् अविवाहिता है।[८] बृहस्पति का भी इस प्रसङ्ग में वचन है–

'कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिषु।
असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी।[९]

ये सभी वचन अपुत्र पुरुष के धन का पत्नी के अधिकार के पार्थक्य के साधन हैं, इनके विरुद्ध कुछ अन्य वाक्य भी मिलते हैं– जैसे कि नारदस्मृति में– **भ्रातृणामप्रजाः प्रेयात् कश्चिच्चेत् प्रव्रजेत् वा।**

विभजेरन्धनं तस्य शेषास्ते स्त्रीधनं विना।
भरणं चास्य कुर्वीरन् स्त्रीणामाजीवनक्षयात्।[१०]

---

६. अष्टाध्यायी ४.१.८३
७. याज्ञवल्क्यस्मृति, (प्रथम संस्करण, २००२ ई०, भारतीय विद्या प्रकाशन) व्यवहाराध्याय पृ० ३२६
८. तत्रैव पृ. ३२६
९. तत्रैव पृ० ३२६
१०. तत्रैव पृ० ३१६

इसी प्रकार नारद ने पत्नी के रहते हुए भी जीवित भाईयों को मृत भाई के धन का ग्रहण और उनकी पत्नियों का जीवन पर्यन्त भरण–पोषण करने का विधान किया है। इसी प्रकार मनु ने भी–'पिता हरेदपुत्रस्य.........भ्रातर एव वा' इत्यादि से अपुत्र पुरुष के दिवङ्गत हो जाने पर उसके धन को पिता और भ्राताओं के ग्रहण में विकल्प कहा है।[11]

इस प्रकार पुत्रों के न रहने से पुरुष की मृत्यु के बाद सर्वप्रथम पत्नी के अधिकार विरोधी (१) नारद (२) मनु (३) शङ्ख और (४) कात्यायन के वचन लिखे गए हैं। इन सभी विरोधी वचनों का सम्पादन रूप व्यवस्था धारेश्वर भोजदेव ने इस प्रकार दिखलाया है– स्त्री के धनाधिकार के समर्थ जितने वचन हैं उन सभी को 'पत्नी गृह्णीयात्' इस वाक्य से व्यक्त किया गया है। इस विधिवाक्य से यह फलितार्थ होता है कि जो भ्रातृगण परस्पर में विभाग कर लिए हों, उसके बाद यदि कोई भाई अपुत्र दिवङ्गत हो जाये तो उस दिवङ्गत पुरुष का धन प्रथमतः उसकी पत्नी ही ग्रहण करे। यहाँ अपुत्रक स्वामी का धन प्रथमतः वही पत्नी ग्रहण कर सकती है जो **'नियोगार्थिनी'** हो। अर्थात् देवरादि से नियोग के द्वारा पुत्रोत्पादन की इच्छा रखती हो।

मनुस्मृति में एकवचन है–माता ने जिस सम्पत्ति का सङ्ग्रह किया है, उस पर पुत्री का अधिकार है, जो व्यक्ति पुत्र विहीन है, उसकी सम्पत्ति पुत्री के पुत्र (दौहित्र) को दी जानी चाहिए।[12]

मनु ने **'अध्यग्न्यावाहनिकं....................स्त्रीधनं स्मृतम्।'**[13] इत्यादि से छः प्रकार के स्त्रीधनों का परिगणन किया है जिनमें पतिद्वारकत्व नहीं है। ये छः प्रकारके है– (१) अध्यग्नि (२) आवाहनिक (३) माता (४) पिता (५) भाई (६) स्वामी और अन्य।

अध्यग्नि

विवाह के समय अग्नि की सन्निधि में पिता–माता जो धन कन्या को प्रदान करते हैं उस धन को अध्यग्नि कहते हैं।

कात्यायन का वचन है–पिता, माता, पति, भ्राता इन सबों ने जो भी धन दिया हो एवं विवाह के समय अग्नि के समीप मातुलादि ने जो भी धन दिया हो, अधिवेदन

---

११. मनुस्मृति अ० १८५

१२. मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुममारी भाग एव सः।
दौहित्र एव च हरेदेवपुत्रस्याखिलं धनम्। वही, ९.१३०

१३. वही ६.१६३

निमित्तक जो धन दिया गया हो एवं आद्य शब्द से रिक्थ, क्रय, संविभा एवं परिग्रह के द्वारा जो भी प्राप्त हुआ हो, स्त्री को प्राप्त होने वाले इन धनों को मन्वादि ने **'स्त्रीधन'** की सञ्ज्ञा दी है। **'स्त्रीधन'**, 'स्त्रियाः धनम्' इस योग से निष्पन्न है।[१४]

बृहस्पति के अनुसार–

'भर्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता। अङ्गादङ्गासम्भवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम्। तस्मात्पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः। तत्र चोढानूढासमवायेऽनूढैव गृह्णाति। तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा।'[१५]

गौतम का वचन है–

'स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च'............. पितृधनेऽपि समानत्वात्। न चैतत्पुत्रिकाविषयमिति मत्सव्यम्। तत्समः पुत्रिकासुत इति पुत्रिकायास्तत्सुतस्य चौरससमत्वेन पुत्रप्रकरणेऽभिधानात्।'[१६]

इसी प्रकार मनु कहते हैं–

'अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम्

पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम्।'[१७]

यदि कन्या समजाति के पति से पुत्र को जन्म देती है तो पुत्रिका का पिता पुत्रवान् कहलाता है। वही नाना का पिण्डदान करके उसकी सम्पत्ति का अधिकारी होगा।[१७]

मनुस्मृति के अनुसार व्यक्ति ही पुत्र के रूप में पुनः उत्पन्न होता है और पुत्र–पुत्री में कोई अन्तर नहीं है, अतः कन्या के होते हुए पुत्र का धन पराये लोग नहीं ले सकते।[१८]

---

१४. कात्यायनेनाभिहितम्– 'विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ। तदध्यग्निकृत सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम्। यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात्ध्यावहनिकं नाम स्त्रीधनं तदुदाहृतम्। प्रीत्या दत्तं तु यत्किञ्चित्त्छुत्वा वा श्वशुरेण वा। पाद वन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते। सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्।। इति। याज्ञवल्क्य स्मृति (भारतीय विद्या प्रकाशन) मिताक्षरा व्यवहाराध्याय श्लोक १५३ पृ० ३५७

१५. वही, पृ० ३२३

१६. वही, पृ० ३२३

१७. मनुस्मृति ६. १३५

१८. वही, ६. १२६

अपुत्र पुरुष की मृत्यु के बाद पत्नी के अधिकार विरोधी वचन नारद, मनु, शङ्ख और कात्यायन के मिलते हैं। किन्तु म०म० जीमूतवाहन ने अपने दायभाग के ग्रन्थ के ११वें अध्याय में पत्नी के कथित प्रथमाधिकार का समर्थन किया और मिताक्षराकार के मत का खण्डन किया। उनका कहना है कि अपुत्र पुरुष के धन की अधिकारिणी सर्वप्रथम पत्नी ही है इसके लिए उन्होंने याज्ञवल्क्य वचन के शब्दशः अर्थ के समर्थन में बृहस्पति के सात वचनों का उल्लखे कर उनके अकाट्य तर्क उपस्थित किये हैं–

'आम्नाये श्रुतितन्त्रे च लोकाचारेऽपि सूरिभिः।
शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा।
यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति,
जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्।[१९]

तदेतैः सप्तवचनैरपुत्रस्य मृतस्य यद् यावद्धनं स्थावरजङ्गमहेमादिकं भर्तुस्तत्सर्वं सोदरभ्रातृपितृव्यदौहित्रादिषु सत्स्वपि पत्न्या एवेति.............. पत्नीसद्भावे पितृभ्रातृप्रभृतीनां धनाधिकारं सुदूरं निरस्यति।[२०]

शङ्ख ने 'स्वर्यातस्यापुत्रस्य' इत्यादि से अपुत्र के धनाधिकार की चर्चा की है। शङ्ख ने यह कहा है कि 'स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यम्' इत्यादि वचन में दिवङ्गत अपुत्र के धन के अधिकारियों के क्रम में प्रथमतः भ्रातृ पद का उल्लेख है। यदि भ्रातागण विभक्त हों, संसृष्ट न हों तो वे अपुत्र दिवङ्गत भ्राता के धन के अधिकारी नहीं है। संसृष्ट भ्रातागण ही प्रथम अधिकारी हैं उनके न रहने पर ही पत्नी प्रथम अधिकारिणी है।[२१] मनुस्मृति में आचार्य मनु का एकवचन है–

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत् पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्।।
अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिका।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः।।[२२]

अपुत्रवान् व्यक्ति कन्या को पुत्री का स्थान दे, फिर कहे कि उसके विवाह के

---

१९. याज्ञवलक्यस्मृति मिताक्षरा व्याख्या पृ० ३३६
२०. जीमूतवाहनकृतदायभाग पृ० ६० अ० ११ सु० शास्त्री संशोधितसंस्करण।
२१. तत्रैव पृ० ३३८
२२. मनुस्मृति ६., १२७–१२८

पश्चात् जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही श्राद्ध–कर्म करने का अधिकारी होगा। अतीत में स्वयं दक्ष प्रजापति ने पुत्रहीन होने के कारण पुत्रिकाओं के गर्भ से उत्पन्न पुत्रों से ही अपने वंश का प्रसार किया था।

दक्ष प्रजापति ने प्रसन्न होकर दस कन्याएँ धर्मराज को, १३ कश्यप को और २७ कन्याएँ द्विजराज चन्द्रमा को दी थीं। जैसे आत्मा और पुत्र समान हैं, उसी प्रकार पुत्र–पुत्री समान हैं। इसलिए आत्मा के सदृश कन्या के रहते दूसरा धन कैसे ले जा सकता हैं?

"यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्।।"[२३]

याज्ञवल्क्य स्मृति में 'स्त्रीधनविभाग प्रकरण में' स्त्रीधन विभाग की रीति की चर्चा हुई है–स्त्रीधनमप्रजसि अनपत्यायां दुहितृदौहित्रीदौहित्रपुत्रपौत्ररहितायां स्त्रियामतीतायां बान्धवा भर्त्रादयो वक्ष्यमाणा गृह्णन्ति।

अर्थात् स्त्रीधन स्वामिनी स्त्री यदि अप्रजावती हो अर्थात् दुहिता, दौहित्र, दौहित्री एवं पुत्र पौत्रादि अपत्यों से रहित हो ऐसी स्त्री यदि दिवङ्गत हो जाये तो उसके भर्ता प्रभृति **'बान्धवगण'** उस स्त्रीधन के अधिकारी होते हैं। सन्तानविहीना, स्त्री यदि ब्राह्मादि विवाहों के द्वारा अर्थात् ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य एवं आर्ष इन चार प्रकार के विवाहों में से किसी प्रकार के विवाह के द्वारा पत्नीत्व को प्राप्त किया हो तो उसके दिवङ्गत हो जाने पर उसका स्वामी ही उस स्त्री के धन का अधिकारी है। स्वामी के न रहने पर ही स्वामी के निकट सपिण्डों का उस स्त्रीधन में अधिकार होता है।[२४]

गौतम ने 'स्त्रीधनं दुहितृणां प्रजानाम्.................. अप्रतिष्ठितानां च' इस वाक्य से कहा है कि 'स्त्रीधन' 'अप्रत्ता' और अप्रतिष्ठिता कन्याओं का है। गौतम वाक्य में 'च' शब्द से प्रतिष्ठित दुहिता को भी माता के स्त्रीधन की अधिकारिणी कहा गया है। 'अप्रतिष्ठिता' शब्द से सन्तानरहिता धनरहिता दुहिता भी अभिप्रेत है। माता का धन दुहिता को मिले। इस निर्देश में 'धन' शब्द को 'शुल्क' नामक स्त्रीधन से भिन्न स्त्रीधनों को समझना चाहिए। क्योंकि शुल्क स्वरूप स्त्रीधन सभी सहोदरों का है। जैसा कि गौतम ने 'भगिनीशुल्कं ऊर्ध्वं मातुः' इस वाक्य से कहा है कि भगिनी के विवाह से प्राप्त शुल्क स्वरूप माता के स्त्रीधन पर माता के बाद सभी सहोदरों का

---

२३. मनुस्मृति ६. १२६

२४. याज्ञवल्क्यस्मृति, पृ० ३६०

अधिकार है।[२५]

किसी भी दुहिता के न रहने पर दुहिता की दुहिताएँ मातामही के स्त्रीधन को ग्रहण करतीं हैं–'दुहितृणा प्रसूता चेत्' इस प्रकार का निर्देश है कि इस प्रकार भिन्न जातीय माताओं से उत्पन्न होने के कारण विषम अर्थात् भिन्न जातीय कन्याएँ यदि विद्यमान हों तो माता के अनुसार उनके अंश की कल्पना करनी चाहिए।[२६]

'प्रतिमातृतो वा स्ववर्गेण भागविशेषः' इस वचन के द्वारा कहा गया है कि प्रत्येक माता का जो वर्ग है तदनुसार ही उनकी दुहिताओं के भी अंशों की कल्पना करनी चाहिए। दुहिता के न रहने पर दौहित्र और दौहित्री दोनों विद्यमान रहें तो दौहित्री को थोड़ा ही देना चाहिए।[२७]

नारद के अनुसार–'मातुर्दुहितरोऽभावे ....तदन्वयः' अर्थात् दुहिताओं के न रहने पर उनके 'अन्वय' पुत्रगण ही मातामही के धन के अधिकारी हैं।[२८] बोधायन ने **'रिक्थं मृतायाः कन्यायाः गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे मातुस्तदभावे पितुः इति बौधायन स्मरणात्'।**[२९]

इस वाक्य के द्वारा कहा है कि मृत्यु प्राप्त कन्या का 'रिक्थ' उसके सोदर लोग ले लें। एवं सोदरों के न रहने पर उक्त कन्या का 'रिक्थ' पहले माता का उसके बाद पिता का होता है।[३०]

पुनः **'अधिविन्ना'** स्त्री की चर्चा है ऐसी स्त्री जिसके विवाह के बाद स्वामी ने दूसरा विवाह किया हो इस प्रकार की सपत्नीयुता प्रथमा स्त्री को 'आधिवेदनिक सम' धन स्वामी को देना चाहिए।[३१]

मनु वचन है–

'पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत्।

न तं भजेरन्यदायादा भजमानाः पतन्ति ते'।[३२]

---

२५. अप्रजनस्त्रीधनं ....तत्। वही, श्लो० १०५, पृ० ३५६
२६. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३५६
२७. तत्रैव पृ० ३६१
२८. तत्रैव पृ० ३६१
२९. तत्रैव पृ० ३६४
३०. तत्रैव पृ० ३६४
३१. तत्रैव श्लो० १४८
३२. मनुस्मृति ९. २००

जीवित स्त्री के धन को ग्रहण करने वाले दायादों के लिए चौखदण्ड विधान और पातित्य का निर्देश किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकाल से ही स्त्रीधन के विषय में चर्चाएँ होती रहीं है। वास्तविकता उनका पालन करने में है क्रमशः स्त्रीधन के सम्बन्ध में इतनी चर्चा होने के बाद भी कहीं ऐसा दिखाई नहीं पड़ता है जहाँ स्त्री पूर्णरूप से धन की स्वामिनी हो सके, चाहे वह धन उसे पिता से प्राप्त हो रहा हो या पति से। कहीं भी स्वधन की पूर्ण स्वामिनी होती हुई नहीं दिखाई देती। यह एक विडम्बना ही है कि **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'**[33] का उद्घोष होने के बाद भी वह पराधीन है। कन्या पति गृह जाते समय रुदन करती है पर पुत्र जो आत्मज कहलाता है माता–पिता से अपनी बात लड़कर पूरा करवा लेता है। पुत्र आजीवन पिता के घर रह कर सम्पूर्ण भोग प्राप्त करता है पर कन्या आज भी इस सुख से वञ्चित है। इसलिए भारतीय संविधान में 'कन्या दायभाग' नियम का पालन करने के लिए कुछ नियमों की अनिवार्यता होनी चाहिए, इस विषय में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।

***

३३. मनुस्मृति ३.५६

डॉ० शेषमणि शुक्ल
लखनऊ

चाणक्यनीतिशास्त्र में मानवाधिकार के सन्दर्भ

प्रारम्भिक युग के मुनष्यों ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त सङ्ग्रहीत किये थे, उनमें भी कुछ कर्त्तव्य विशेष इसलिए समाविष्ट थे कि वे मनुष्य के लिए परमावश्यक हैं। कालान्तर में मनुष्य ने अपने अहङ्कार और अज्ञान के कारण कुछ ऐसे नियम बना डाले जो उन ईश्वरीय नियमों का खण्डन थे और जो मानवता पर एक कलङ्क सिद्ध हुए। यद्यपि सृष्टि–रचना के बाद लाखों वर्षों तक मनुष्य के द्वारा कर्त्तव्य रूप में उन ईश्वरीय नियमों का पालन किया जाता रहा, जिसका साक्षात्कार प्राचीन वाङ्मय में सर्वत्र उपलब्ध होता है। जब उन कर्त्तव्यों से मनुष्य पराङ्मुख होने लगा तो वे नियम यदा–कदा शासकों–प्रशासकों द्वारा अनिवार्य भी किये गये क्योंकि वे नियम–कानून इतने लाभदायक थे कि आज तक उनकी प्रासङ्गिकता को नकारा नहीं जा सका।

जिस कार्य को मनुष्य कर्त्तव्यरूप में होने पर स्वीकार नहीं कर सका उसी कर्त्तव्य को अधिकार नाम दे देने से मनुष्य उसको पाने के लिए लालायित होने लगा, यह मनुष्य का विलक्षण स्वभाव है। यहाँ एक लघुकथा अप्रासङ्गिक न होगी, "एक बार एक कृपण व्यक्ति गढ्ढे में गिर गया, एक राहगीर ने देखा और कहा, लाओ अपना हाथ मुझे दो मैं तुम्हें निकाल दूँगा। कृपण ने मना कर दिया, फिर राहगीर ने कहा–'अच्छा मेरा हाथ पकड़ लो'। कृपण ने पकड़ लिया। राहगीर ने उसे बाहर खींच लिया"।

आज विश्व के सभी देशों ने अपने–अपने संविधान में मानवाधिकारों को बड़े आदर के साथ समाहित किया है।

प्रख्यात विधिशास्त्री 'ब्राइरली' के अनुसार[1] "जब से मनुष्य ने अपने सामान्य जीवन को राजनीतिक समुदायों में सङ्गठित किया, उसे कुछ ऐसे नियमों की आवश्यकता हुई, जो उनके आपसी के सम्बन्धों को नियन्त्रित कर सकें"। एल०

---

१. ब्राइरली–'दि लॉ ऑफ नेशन्स', छठा संस्करण, पृ. १

'ओपेनहाइम'[2] और 'पी०ई० कार्बेट'[3] के अनुसार विधि को जन्म देने का श्रेय यूरोपीय देशों को जाता है। 'डॉ० नगेन्द्र'[4] ने इस दावे का खण्डन किया है। 'डॉ० एस०एस० धवन'[5] ने लिखा है ''पश्चिमी विधिशास्त्रियों का यह दावा है कि विधि का उद्भव यूरोप में हुआ, रामायण और महाभारत के मौलिक ग्रन्थों को पढ़ने से गलत सिद्ध हो जाता है। रामायण को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि शासकों के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त थे, जिनको सभी प्रभुसत्ता वाले शासकों ने मान्यता दी थी''। यही सिद्धान्त आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की आधारशिला है– "These principles are foundation of modern International law."[6] और फिर इसकी लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है कि भारत जैसा विचारवान् देश विधि में पीछे रह जाये।

परन्तु ऐसा होते हुए भी 'यह मानना पड़ेगा कि भारत में विविधशास्त्र का प्रारम्भ १७वीं और १८वीं शताब्दी में हुआ, जिसकी एक प्रणाली यूरोपीय प्रणाली से प्रभावित है। उस समय भारत की शासन–व्यवस्था उन लोगों के हाथ में थी, जिनको भारतीय न होने के कारण भारत की संस्कृति, सभ्यता और साहित्य से वैसा लगाव नहीं था, जैसा कि चाहिए। फलस्वरूप यूरोप ने भारत पर मनमाना और भारत के लिए प्रायः अहितकर प्रभाव डाला, विशेषकर मानवाधिकारों के विषय में। मानवाधिकार का अर्थ उन अधिकारों से है जो मानव को इसलिए मिलने चाहिए कि वह मानव है।

परन्तु कुछ ऐसे अधिकार भी मानव की कुक्षि में डाल दिये गये हैं, जो बड़े घातक और विनाशकारी हैं। उनकी ओर आगे सङ्केत किया गया है। यहाँ पर नीतिग्रन्थों में मानवाधिकार की चर्चा की गयी है। इन कर्त्तव्य–अधिकारों पर विचार होने से यह सिद्ध होता है कि वे कर्त्तव्य और अधिकार इतने स्वस्थ, सरल, व्यापक, पवित्र, सुष्ठु, महान्, उच्च, और गरिमामय हैं कि वे और मानव–जीवन के लिए अत्यधिक प्रासङ्गिक होने के कारण मानों सम्पूर्ण सृष्टि के उन्नायक हैं। प्रस्तुत लेख में कुछ नीतिशास्त्रीय सन्दर्भों को प्रस्तुत किया जा रहा है जो मानवाधिकारों पर प्रकाश डालते हैं।

सुरक्षा का अधिकार

सुरक्षा के अधिकारों में आत्मरक्षा सर्वोपरि है। इसी लिए चाणक्यनीतिशास्त्र में

---

२. एल. ओपेनहाइम–'इण्टरनेशलन लॉ, आठवाँ संस्करण, पृ. ६

३. पी.ई. कार्बेट–'दि ग्रोथ ऑफ वर्ल्ड लॉ', १९७१, पृ. ३३

४. डॉ० नगेन्द्र–'इण्डिया एण्ड इण्टरनेशलन लॉ, १९७२, पृ. २५

५. डॉ० एस. एस. धवन–'दि रामायण २, 'इण्टरनेशनल लॉ इन दि एज ऑफ दि रामायण', १९७१, पृ. १

६. डॉ. एस. एस. धवन–'वही' १९७१, पृ. १

प्रोक्त है–

पुनर्वित्तं पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही?
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः।।[७]

अर्थात् धन, मित्र, भार्या, पृथ्वी ये सब बार–बार मिलते हैं परन्तु यह शरीर बार–बार नही मिलता।

सर्वमेव परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्।
शरीरस्य प्रणष्टस्य सर्वमेव विनश्यति।।[८]

अर्थात् सब कुछ छोड़कर शरीर का पालन करना चाहिए, शरीर के नष्ट होने पर सब कुछ ही नष्ट हो जाता है।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।[९]

अर्थात् कुल के लिए एक का त्याग, ग्राम के लिए कुल का त्याग, जनपद के लिए ग्राम का त्याग कर देना चाहिए। परन्तु अपने कल्याण के लिए पृथ्वी का भी त्याग कर देना चाहिए।

शकटं पञ्चहस्तेन दशहस्तेन वाजिनम्।
हस्तीहस्तसहस्रेण देशत्यागेन दुर्जनः।।[१०]

अर्थात् गाड़ी से ५ हाथ, घोड़े से १० हाथ, हाथी से १००० हाथ दूर रहना चाहिए, लेकिन जहाँ दुष्ट व्यक्ति रहता हो वह देश ही छोड़ देना चाहिए।

शिक्षा का अधिकार

शिक्षा के अधिकार को दृष्टि में रखकर ही चाणक्य का कथन है–

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा।।[११]

अर्थात् यह माता शत्रु और पिता बैरी है जो अपने पुत्र को नही पढ़ाते क्योंकि वह सभा में उसी प्रकार शोभा नहीं पाता, जिस प्रकार हंसो के बीच में बगुला।

---

७. नीतिशतक–४१–१६४७
८. चाणक्य राजनीतिशास्त्र– ४.२१,
९. चाणक्य नीति – १४.३
१०. चाणक्य राजनीतिशास्त्र – २.३
११. वही, २.१०

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।

ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।[१२]

अर्थात् जिनके पास न विद्या है, न तप है, न दान है, न ज्ञान है, न शील है, न गुण है और न धर्म है, वे इस संसार में भारस्वरूप पशुओं की तरह मनुष्यरूप में विचरण करते हैं।

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।

विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः।।[१३]

अर्थात् सुन्दर रूप और यौवन से सम्पन्न और अच्छे कुल में उत्पन्न होने पर भी विद्या से हीन मनुष्य किंशुक के निर्गन्ध फूल की तरह शोभा नहीं देता।

एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन साधुना।

आह्लादितं कुलं सर्वं यथा चन्द्रेण शर्वरी।।[१४]

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा से अँधेरी रात सुशोभित होती है उसी प्रकार विद्या से युक्त और सज्जन एक ही पुत्र से सारा कुल सुशोभित होता है।

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।

प्रवासे मातृसदृशी विद्यागुप्तं धनं स्मृतम्।।[१५]

अर्थात् विद्या कामधेनु की तरह तत्काल फल देने वाली है, विदेश में माता के सदृश है। यह एक गुप्त धन है।

अनभ्यासे विषं शास्त्रं अजीर्णे भोजनं विषम्।

द्ररिद्रस्य विषं गोष्ठी वृद्धस्य तरुणी विषम्।।[१६]

अर्थात् बिना अभ्यास के विद्या जहर है, न पचने पर भोजन जहर है, दरिद्र के लिए सज्जनों की सभा जहर है और वृद्धपुरुष के लिए जवान स्त्री जहर है।

विद्वान् प्रशंस्यते लोके विद्वान् सर्वत्र गौरवम्।

विद्यया लभते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते।।[१७]

---

१२. चाणक्य नीति २.७

१३. वही, २.११

१४. वही, १०.७

१५. वही, २.८

१६. वही, २.१६

१७. चाणक्यनीति, ४.५

अर्थात् संसार में विद्वान् की प्रशंसा होती है, वह सब जगह गौरव पाता है, विद्या से सब कुछ लभ्य है, विद्या की सर्वत्र पूजा होती है।

धनहीनो न हीनश्च धनिकः यः सुनिश्चयः।

विद्यारत्नेन यो हीनः स हीनः सर्ववस्तुषु।।[१८]

अर्थात् धन से जो हीन है वह हीन नहीं है, परन्तु विद्यारूपी रत्न से जो हीन है व सभी वस्तुओं से हीन है।

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।

स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च।।[१९]

अर्थात् जल की बूँद गिरते रहने से घड़ा भर जाता है। सभी विद्याओं का, धर्म का और धन का यही हेतु है।

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।

यत् सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।।[२०]

अर्थात् शास्त्र अनन्त है, विद्या बहुत है, समय थोड़ा है, विघ्न बहुत हैं। इसलिए जो सारभूत है उसे ग्रहण कर लेना चाहिए, जिस प्रकार हंस पानी के बीच से दूध को ग्रहण कर लेता है।

धनधान्यप्रयोगेषु विद्या सङ्ग्रहणे तथा।

आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्।।[२१]

अर्थात् धन–धान्य के प्रयोग में विद्या के सङ्ग्रह में, आहार में और व्यवहार में लज्जा को त्यागकर सुखी होना चाहिए।

विवाह का अधिकार

पितृ ऋण से मुक्ति– हेतु विवाह करना भी व्यक्ति का कर्त्तव्य अथवा अधिकार है–

वरयेत् कुलजां प्राज्ञो विरूपामपि कन्यकाम्।

रूपशीलां न नीचस्य विवाहः सदृशे कुले।।[२२]

---

१८. वही, ४.१५

१९. वही, ८.२०

२०. वही, ६.१

२१. वही, १२.२१

२२. चाणक्यनीति, १५.१०

अर्थात् अच्छे कुल में उत्पन्न और बुद्धिमती कुरूप कन्या से भी विवाह कर लेना चाहिए। नीचकुल की रूपवती कन्या से भी विवाह नहीं करना चाहिए। विवाह समान कुल में ही संयोज्य है।

विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादप्युत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।।[२३]

अर्थात् विष से अमृत ग्रहण कर लेना चाहिए, मिट्टी से सोना ग्रहण कर लेना चाहिए, नीच से भी उत्तम विद्या सीख लेनी चाहिए और दुष्टकुल से भी स्त्रीरूपी रत्न को ग्रहण कर लेना चाहिए।

सत्कुले योजयेत् कन्यां पुत्रं विद्यासु योजयेत्।
व्यसने योजयेच्छत्रुं मित्रं धर्मेण योजयेत्।।[२४]

अर्थात् कन्या को अच्छे कुल में भेजना चाहिए, पुत्र को विद्या में लगाना चाहिए, शत्रु को बुरे कर्मों में लगाना चाहिए, मित्र को धर्म में लगाना चाहिए।

मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते धान्यं यत्र सुसञ्चितम्।
दाम्पत्ये कलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागता।।[२५]

अर्थात् जहाँ मूर्खों की पूजा नहीं होती, जहाँ अन्न सञ्चित रहता है, जहाँ पति–पत्नी में कलह नहीं होती, वहाँ लक्ष्मी रहने के लिए स्वयं आती है।

सा भार्या या शुचिर्दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या सत्यवादिनी।।[२६]

अर्थात् पत्नी वही है जो पवित्र है, पत्नी वही है जो कार्य में दक्ष है, पत्नी वही है जो पतिव्रता है, पत्नी वही है जो पति को प्यारी है और पत्नी वही है जो सत्यवादिनी है।

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च।।[२६]

अर्थात् विदेश में विद्या मित्र है, घर में पत्नी मित्र है, रोगी की मित्र औषधि है और मरने वाले का मित्र धर्म है।

---

२३. वही, १२.३१
२४. वही, १.१४
२५. वही, १.१६
२६. वही, ३.३

वरं न राज्यं न कुराजराज्यं वरं न मित्रं न कुमित्रमित्रं।

वरं न शिष्यो न कुशिष्यशिष्या वरं न दारा न कुदारदारा।।[२८]

अर्थात् राज्य का होना अच्छा है, कुत्सित राज्य होना अच्छा नहीं है, मित्र का न होना अच्छा है, कुत्सित मित्र होना अच्छा नहीं है, शिष्य का न होना अच्छा है, कुत्सित शिष्य होना अच्छा नहीं है, पत्नी का न होना अच्छा है परन्तु कुशीला पत्नी का होना अच्छा नहीं है।

वृद्धकाले मृता भार्या बन्धुहस्तगतं धनम्।

भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बना।।[२८]

अर्थात् वृद्धावस्था में पत्नी का मर जाना, बन्धु के हाथ में धन का चला जाना, भोजन का पराधीन हो जाना ये तीन पुरुषों के लिए विडम्बनाएँ हैं।

व्यापार का अधिकार

जीविकोपार्जन हेतु व्यापार आदि के अधिकार की चर्चा चाणक्यनीति में अधोलिखित रूप में द्रष्टव्य है–

यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवः।

न च विद्यागमोऽप्यस्ति वासं तत्र न कारयेत्।।[३०]

अर्थात् जिस देश में न सम्मान हो, न व्यापार हो, न बन्धु हों, न विद्या का लाभ हो वहाँ नहीं रहना चाहिए।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिसेवते।

ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि।।[३१]

अर्थात् जो निश्चित को छोड़कर अनिश्चित की इच्छा करता है उसका निश्चित भी नष्ट हो जाता है और अनिश्चित तो नष्ट होता ही है।

उद्योगे नास्ति द्रारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम्।

मौने च कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम्।।[३२]

---

२७. चाणक्यनीति, २.२१

२८. वही, ४.१३

२६. वही, ५.१५

३०. वही, ६.१३

३१. वही, ८.६

३२. चाणक्यनीति, १.८

अर्थात् उद्यमी के पास दरिद्रता नहीं होती, जपने वाले के पास पाप नहीं होता, मौन रहने से कलह नहीं होती और जागने वाले के पास भय नहीं आता।

धर्मार्थकाममोक्षेषु यस्यैकोऽपि न विद्यते।

जन्मजन्मनि मर्त्येषु मरणं तस्य केवलम्।।[33]

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से जिसके पास एक भी नहीं है, इस संसार में उसका जन्म लेना भी निरर्थक ही है।

यावत् स्वस्थो ह्ययं देहो यावन् मृत्युश्च दूरतः।

तावदात्महितं कुर्यात् प्राणान्ते किं करिष्यति।।[34]

अर्थात् जब तक शरीर स्वस्थ है और मृत्यु नहीं आती तब तक अपने हित के कार्य कर लेने चाहिए। प्राणान्त होने पर क्या किया जाएगा?

अध्वा जरा मनुष्याणां वाजिनां बन्धनं जरा।

अमैथुनं जरा स्त्रीणां वस्त्राणामातपो जरा।।[35]

अर्थात् मनुष्यों के लिए पैदल चलना बुढ़ापे का कारण है, घोड़े को बाँधकर रखना उसके लिए बुढ़ापे का कारण है, स्त्री के साथ मैथुन न होना उसके लिए बुढ़ापे का कारण है और वस्त्रों को धूप में रखना उनके लिए बुढ़ापे का कारण है।

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।

कस्याहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः।।[36]

अर्थात् समय कैसा है? कौन मित्र है? कैसा देश है? हमारी आमदनी और खर्च क्या है? मैं कैसा हूँ? मेरी शक्ति कितनी है? यह बार–बार सोच–विचार करना चाहिए।

वित्तेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।

मृजया रक्ष्यते रूपं सत्स्त्रिया रक्ष्यते गृहम्।।[37]

अर्थात् धन से धर्म की रक्षा होती है, योग से विद्या की रक्षा होती है, स्नान से रूप की रक्षा होती है और सुन्दर स्त्री से घर की रक्षा होती है।

---

३३. वही, १.१३

३४. वही, २.११

३५. वही, ३.२०

३६. वही, ४.४

३७. चाणक्यनीति, ४.१७

वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तेषु भोजनम्।
वृथा दानं धनाढ्येषु वृथा दीपो दिवापि च।।[३८]

अर्थात् समुद्र में वर्षा होना व्यर्थ है, भोजन से तृप्त को भोजन देना व्यर्थ है, धनी को दान देना व्यर्थ है और दिन में दीपक जलाना व्यर्थ है।

इन्द्रियाणि च संयम्य वकवत् पण्डितो नरः।
देशकालबलं ज्ञात्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।।[३९]

अर्थात् विद्वान् पुरुष को चाहिए कि इन्द्रियों को संयमित करके बगुले की तरह देश–काल–बल को समझकर सभी कार्यों को साधे।

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति।।[४०]

अर्थात् अन्याय से कमाया गया धन दस वर्ष तक ठहरता है, ग्यारहवाँ वर्ष प्रारम्भ होते ही समूल नष्ट हो जाता है।

अर्थनाशं मनस्तापं गृहिणीचरितानि च।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत्।।[४१]

अर्थात् धन के नाश को, मन के ताप को, पत्नी के चरित्र को, ठगे जाने को और अपमान को बुद्धिमान् प्रकाशित न करें।

यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थः स पुमांल्लोके यस्यार्थः स च जीवति।।[४२]

अर्थात् संसार में जिसके पास धन है उसी के मित्र हैं, जिसके पास धन है उसी के बन्धु–बान्धव हैं, जिसके पास धन है वही पुरुष है और जिसके पास धन है वही जीवित है।

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयं पक्वफलाम्बुसेवनम्।
तृणेषु शय्या शतजीर्ण–वल्कलं न बन्धुमध्ये धनहीन–जीवनम्।।[४३]

---

३८. वही, ४.१८
३९. वही, ५.६
४०. वही, ५.१६
४१. वही, ६.१७
४२. वही, १५.६
४३. चाणक्यनीति, ७.१

अर्थात् बाघ और हाथियों से युक्त जङ्गल में पेड़ों के घर में रहना, फलाम्बु का सेवन करना, घास की शय्या पर सोना और फटे–पुराने वस्त्र पहनना ठीक है, परन्तु बन्धु–बान्धवों के बीच में धनहीन होकर जीना ठीक नहीं है।

धर्मं धनं च धान्यं च गुरोर्वचनमौषधम्।

सुगृहीतं च कर्त्तव्यं अन्यथा तु न जीवति।।[४४]

अर्थात् धर्म, धन, धान्य, गुरु का वचन और औषधि इनको अच्छी तरह ग्रहण करना चाहिए अन्यथा व्यक्ति का जीना व्यर्थ है।

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।

सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिः।।[४५]

अर्थात् गन्दे वस्त्र पहनने वाले को, दातों को न साफ करने वाले को, बहुत खाने वाले को, कठोर बोलने वाले को और सूर्योदय के समय सोने वाले को लक्ष्मी छोड़ देती है, चाहे वह विष्णु ही क्यों न हों। धन की महिमा वर्णन करते हुए है चाणक्य नीति में प्रोक्त है–

"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति"।।[४६]

अर्थात् जिसके पास धन है वही मनुष्य कुलीन है, वही विद्वान् है, वही सुनने योग्य है, वही गुणज्ञ है, वही वक्ता है, वही दर्शनीय है। सभी गुण सोने में ही निवास करते हैं। आचार्य चाणक्य के अनुसार–

"धनादि–धर्मः क्रियते धनेन धनेन धन्या धनिनो भवन्ति।

धनं विना कामकथैव नास्ति त्रिवर्गमूलं धनमेव नान्यत्।।"[४७]

अर्थात् धन से धर्मादि कार्य किये जाते हैं, धन से ही धनी धन्य होते हैं, धन के बिना काम की प्राप्ति नहीं होती; अतएव धन ही सबका मूल है।

धर्म का अधिकार

पुरुषार्थ–चतुष्टय में अर्थ–सञ्चयन की दृष्टि से व्यापार आदि के द्वारा धनोपार्जन का वर्णन करने के साथ ही चाणक्य–नीति में धर्म–विषयक पर्याप्त

---

४४. वही, ७.१५

४५. वही, १०.१२

४६. नीतिशतक, ४१

४७. वही, २७.२७

उपदेश दिये गये हैं –

चला लक्ष्मीश्चलः प्राणश्चले जीवितमन्दिरे।

चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः।।[४८]

अर्थात् लक्ष्मी चलायमान है, इस शरीर से प्राण भी चलायमान है, इस चलाचल संसार में धर्म ही एक निश्चल है।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।

नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्म–सङ्ग्रहः।।[४९]

अर्थात् शरीर अनित्य है, विभव भी शाश्वत नहीं है, मृत्यु नित्य ही सन्निकट है इसलिए धर्म का सङ्ग्रह करना चाहिए।

स जीवति गुणा यस्य यस्य धर्मः स जीवति।

गुणधर्मविहीनस्य जीवितं निष्प्रयोजनम्।।[५०]

अर्थात् वास्तव में वही जीवित है जिसके गुण और धर्म जीवित हैं। गुण और धर्म से रहित का जीना निष्प्रयोजन है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।।[५१]

अर्थात् भोजन करना, सोना, डरना, मैथुन करना ये सभी पशुओं में और मनुष्यों में समान होते हैं। धर्म ही मनुष्यों में विशेष होता है। धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान होता है।

जब तक बात आत्मरक्षा, शिक्षा, जीविका और सम्मान तक है, तब तक तो मानवाधिकारों को उत्तम माना जा सकता है। परन्तु विचारवान् लोग जरा विचार करें कि–

- मानवाधिकारों का सहारा लेकर समलैङ्गिकता को मान्यता दे देना क्या निन्दनीय नहीं है?
- मानवाधिकारों का सहारा लेकर विवाह जैसे पवित्र सम्बन्ध को तलाक

---

४८. चाणक्यनीति, १४.१६

४९. वही, १५.४

५०. वही, ५.२०

५१. वही १२.१२

के माध्यम से तोड़ देना क्या घृणित नहीं है?

- मानवाधिकारों का सहारा लेकर चोर, डकैत, कातिल, व्यभिचारी और भ्रष्टाचारी को किञ्चिन्मात्र भी शारीरिक दण्ड न दिया जाना, बल्कि उसकी उम्र भर उस पर मुकदमा चलाना और उसकी सुरक्षा करना और अन्त में छोड़ देना क्या मूर्खतःपूर्ण कार्य नहीं है? ये समाज के लिए, देश के लिए, मानवता के लिए बड़े विनाशकारी हैं। ये सारी व्यवस्था को अव्यवस्थित करने वाले हैं।

ध्यातव्य है कि जब से मानवाधिकारों का संवैधानिकीकरण और प्रचार–प्रसार हुआ है, तब से अपराधों की सङ्ख्या में न कमी आयी और उनके मानकों में वृद्धि हुई है। यह कभी आवश्यक नहीं हो सकता कि जो नियम यूरोप या अमेरिका के हित में हैं, वे भारत के हित में भी हों। यहाँ का इतिहास, भूगोल, संस्कृति तथा सभ्यता अलग है। इन सभी बातों पर बड़ी सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि डालकर उनके भयावह परिणामों को दृष्टिगत कर उन्हें बदलने की प्रबल आवश्यकता है, जिससे मानवाधिकार का पोषण हो सके।

***

डॉ० सुधा गुप्ता
कानपुर

मानवाधिकार और मनुस्मृति

मानवाधिकारों की भूमिका निश्चित रूप से प्राचीन भारतीय पैतृक सम्पदा को निरन्तर प्रवहणशील बनाये रखने की दिशा में उठाया गया एक सशक्त एवं ठोस कदम है। मानवाधिकार मानव मात्र को प्रकृति द्वारा प्रदत्त वे अधिकार हैं, जिनका प्रयोग वह सृष्टि–रचना के साथ ही करने लगा था और जो मानव–सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ निरन्तर गतिशील तथा विकसित होते रहे हैं। प्रारम्भिक चरण में जीवन, स्वतन्त्रता एवं रोटी, कपड़ा और मकान तक सीमित मानवाधिकार आज शिक्षा, स्वास्थ्य, सम्मान, गरिमा और जीवनोपयोगी आवश्यक दशाओं के साथ विधि–शासन तक विस्तारित होकर विश्व के प्रायः सभी देशों की विधि–संहिता का आवश्यक अङ्ग बन चुका है।

१६४५ में संयुक्त–राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद मानवाधिकारों को न केवल इसके चार्टर में ही सम्मिलित किया गया अपितु पृथक् रूप से १० दिसम्बर १६४८ को कुल ३० अनुच्छेदों के साथ मानवाधिकार–घोषणा पत्र भी जारी किया गया इसमें उन सभी मानवाधिकारों को सम्मिलित किया गया जो प्रत्येक मानव–जीवन के लिए न केवल आवश्यक हैं, अपितु अपरिहार्य भी हैं। तत्कालीन संयुक्त–राष्ट्रसंघ के ४८ देशों ने इस घोषणा–पत्र पर हस्ताक्षर किये, जिसमें भारत भी शामिल था। आज विश्व के १३७ देश इस घोषणा–पत्र के उपबन्धों को अपनी राष्ट्रीय विधि या संविधान में सम्मिलित कर चुके हैं।

मूल मानवाधिकारों के स्रोत माने जाने वाले इन अधिकारों में भारतीय संविधान के भाग ३ में समानता (अनुच्छेद–१४, १५, १६), अस्पृश्यता का अन्त (अनुच्छेद–१७), स्वतन्त्रता (अनुच्छेद–१६) प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता (अनुच्छेद–२१) अवैध गिरफ्तारी के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद–२२), शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद–२३, २४), धार्मिक स्वतन्त्रता (अनुच्छेद–२५–२८), अल्पसङ्ख्यकों के हितों का संरक्षण (अनुच्छेद–२६, ३०), तथा मूल अधिकारों के प्रवर्तन का अधिकार (अनुच्छेद–३२ एवं २२६), इत्यादि सम्मिलित हैं; जबकि अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार घोषणा पत्र के ३० अनुच्छेदों में प्राकृतिक अधिकार (अनुच्छेद–१), जीवन, स्वतन्त्रता और समानता (अनुच्छेद३–१५), वयस्क विवाह (अनुच्छेद–१६), धार्मिक स्वतन्त्रता (अनुच्छेद–१८, १६), आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार, व्यवसाय और समान कार्य

के लिए समान वेतन (अनुच्छेद–२२–२६), सामाजिक कर्त्तव्य (अनुच्छेद–२६), इत्यादि को सम्मिलित किया गया है।

ध्यातव्य है कि अधिकार का कर्त्तव्य से मूलतः घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। अतः कर्त्तव्यों की चर्चा किए बिना अधिकारों को हृदयङ्गम करना सम्भव ही नहीं होगा। वस्तुतः अधिकार और कर्त्तव्य – ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं और इनका सम्बन्ध अन्योऽन्याश्रित है। जो एक दृष्टि से अधिकार हैं, वही दूसरे सम्बन्ध में कर्त्तव्य बन जाता है। जहाँ अधिकार है वहाँ कर्त्तव्य भी है। प्रस्तुत शोध–पत्र की विषय–स्वरूप दोनो स्मृतियाँ (मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति) मानव–जीवन को धर्ममय कर्त्तव्यनिष्ठता की शिक्षा देकर उन समस्त मानवाधिकारों को सहज उपलब्ध करा देती हैं; जिनके लिए आज विश्व में संविधान–संशोधन किया जा रहा है। संविधान (सम्यक् विधि) संरचना यद्यपि मानव–जीवन एवं समाज को स्थिरता प्रदान कराने हेतु ही होती है, किन्तु इस व्यवस्था के लिए प्राचीन भारतीय सम्पदा की अमूल्य निधि–स्वरूप हमारी स्मृतियाँ जिन्हें **'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'**[1]– कहकर धर्मशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, ऐसी शाश्वत, चिरन्तन एवं अकाट्य नीतियाँ निर्धारित करती हैं, जिस पर चलकर मानव समाज अक्षुण्णता प्राप्त कर सकता है। स्मृतियाँ कर्त्तव्य की शिक्षा देती हैं जिसकी पूर्णता अधिकार के रूप में ही फलीभूत होती है। अधिकार यदि फल है तो उसका बीज कर्त्तव्य है। जो बीज का संरक्षण भली भाँति नहीं करता, फल उसके हाथ नहीं लगता। कर्त्तव्य के प्रति सच्ची निष्ठा रखने वालों को अधिकार के प्रति दृष्टि एवं कामना न होने पर भी उन्हें प्राप्त हो जाता है। देवदत्त के द्वारा तीर मारकर घायल हुए हंस की 'प्राण–रक्षा करना कर्त्तव्य है' ऐसा विचार कर गौतम द्वारा की गयी प्राण–रक्षा से उस हंस पर अधिकार भी प्राप्त हुआ, जबकि हंस की उसने कामना नहीं की थी।

एक ही कृत्य अधिकार की दृष्टि से जहाँ संविधान–सर्जना करता है वहीं कर्त्तव्य की दृष्टि से वह धर्म होता है। ऐसा धर्म जो धारण करने वाले को धारण (स्थिर) करता है 'धरति विश्वमिति धर्मः' –जीवन जीने की कला सिखाता है। अर्जुन के लिए युद्ध करना जहाँ एक दृष्टि से क्षत्रियोचित धर्म के रूप में कर्त्तव्य की पूर्ति करता है, वहीं दूसरी ओर उसे राज्याधिकार प्राप्त कराने का मार्ग प्रशस्त करता है। ध्यातव्य है कि जिस कर्म को अर्जुन अधिकार की दृष्टि से गर्हित समझकर युद्ध से विरत होकर भिक्षान्न पर जीवित रहकर भी सन्तुष्ट हो जाना चाहता है, वही कर्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निःसृत श्रीमद्भगवद्गीता नामक प्रमुख स्मृति में कर्त्तव्य की दृष्टि से अर्जुन के द्वारा देखे जाने पर धर्म बन गया, जिसे न केवल अर्जुन ने धारण किया अपितु उस धर्म ने अर्जुन को उस स्थिति पर पहुँचाया,

---

१. मनुस्मृति २.१०

जहाँ सभी अपने–अपने धर्म का पालन करने की शिक्षा अर्जुन से लेते हैं।

संस्कृत में धर्म का अर्थ जगत् के नैतिक विधान से लिया गया है। यही कारण है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'– के अनुसार इस जगत् को गतिशील बनाये रखने के हेतु– भूत इस शरीर को ही धर्म का प्रमुख साधन माना गया है, क्योंकि, धर्म का पालन शरीरधारी ही कर सकता है। मनु एवं याज्ञवल्क्य दोनों ही ऋषियों ने इसी धर्म का अपनी–अपनी स्मृतियों में श्रुति, युक्ति और अनुभव; इन तीनों की निकष पर परीक्षण कराकर मानव–मात्र को स्थिर करने की ऐसी नीति का निर्धारण किया है, जिस पर चलकर मनुष्य त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की पूर्ति करते हुए अन्तिम मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ की भी सिद्धि कर सकता है। जबकि इसी का दूसरा पक्ष, जो कि अधिकार से सम्बद्ध है, मानव–मस्तिष्क को मात्र अधिकार–चिन्तन से जोड़ता हुआ उसे कर्त्तव्य–विमुख अधिक करता सा प्रतीत होता है। आज जितने ही अधिक संविधान बनते जा रहे हैं, अधिकारों की जितनी अधिक चर्चा हो रही है उतना ही जीवन असुरक्षित होता चला जा रहा है, क्योंकि, आज का मनुष्य अधिकारों के लिए संघर्ष करने को ही अपना कर्त्तव्य मानने लगा है। मनु अथवा याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित कर्त्तव्यों का पालन करना ही चाहिए, ऐसा वह नहीं मानता। आइये, उस व्यवस्था पर दृष्टिपात करें जो संविधान और मानवाधिकारों की जटिल परिधि से दूर किन्तु प्रत्येक मानव को उसका अधिकार दिलाने में सहज ही समर्थ है, क्योंकि इस व्यवस्था में मनुष्य का अन्तःकरण निगृहीत होता है न कि उसका पार्थिव शरीर। स्मृति–प्रतिपादित मानव–धर्म उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार को सूक्ष्म रूप से निगृहीत व परिमार्जित कर स्थिरता प्रदान करता है।

मुख्यतया आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त – इन तीन भागों में विभक्त याज्ञवल्क्यस्मृति एवं मनुस्मृति में वर्णधर्म, आश्रमधर्म, सामान्यधर्म, विशेषधर्म, गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक के संस्कार, दिनचर्या, पञ्चमहायज्ञ, बलिवैश्वदेव, भोजनविधि, शयनविधि, स्वाध्याय, यज्ञ–यागादि, इष्टापूर्त धर्म, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, शुद्धि–तत्त्व, पाप–पुण्य, तीर्थ, व्रत, दान, प्रतिष्ठा, श्राद्ध, सदाचार–शौचाचार, अशौच (जननाशौच, मरणाशौच) भक्ष्याभक्ष्य–विचार, आपद्धर्म, दाय–विभाग (सम्पत्ति का बँटवारा), स्त्रीधन, पुत्रों के भेद, दत्तक–पुत्रमीमांसा और राजधर्म तथा मोक्षधर्म एवं अध्यात्म–ज्ञान इत्यादि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

दोनों स्मृतियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़े समस्त प्रकार के कर्मों का यथावसर विधि और निषेध दोनों ही प्रणालियों से कर्त्तव्य–बोध कराती हैं। इसका प्रत्येक श्लोक किसी न किसी कर्त्तव्य के प्रति सचेत करते हुए मानव के लिए उसका या तो विधान करता है अथवा निषेध। इस प्रकार मानवधर्म का स्वरूपतः बोध कराकर कर्त्तव्य–पथ पर आरूढ करते हुए समस्त अधिकारों को अनायास ही

उपलब्ध कराने का ये दोनों ही स्मृतियाँ मन्त्र फूँकती है। सभी आश्रमों एवं सभी वर्णों के सामान्य धर्म का निर्देश करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य जहाँ धर्म का प्रतिपादन इस रूप में करते है–

अंहिसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय–निग्रहः।

दानं धर्मों दया शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।।[२]

वहीं भगवान् मनु धर्म का स्वरूप कुछ इसी प्रकार अपने शब्दों में लक्षित करते है –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[३]

अत्यन्त लघुकाय प्रतीत होने वाले ये श्लोक मानव–धर्म का साङ्गोपाङ्ग निरूपण अति विस्तार से प्रस्तुत करते हैं। धर्म के ये दस लक्षण ही मानों सम्पूर्ण स्मृतियों का सार प्रस्तुत करती हैं। जिस प्रकार वृक्ष का प्रत्येक भाग, प्रत्येक पत्ता बीज से जुड़ा होता है उसी प्रकार इन स्मृतियों का समग्र विवेचन इन्हीं दस लक्षणों से साक्षात् अथवा परम्परया सम्बद्ध है। स्वल्प समय में इतने विस्तृत कलेवर को प्रस्तुत करना असम्भव तो नहीं; किन्तु दुरूह अवश्य है। इसीलिए सार रूप में गृहीत इन्हीं श्लोकों के अन्तर्गत समग्र स्मृतियों को झाँकनें का प्रयास किया जा रहा है। सुधी विद्वानों के समक्ष इनके प्रत्येक लक्षण के सम्बन्ध में दिये गये इन्हीं के निर्देशों की सूक्ष्म झाँकी प्रस्तुत हैं–

धृति–

भगवान् श्रीकृष्ण की विभूतियों में परिगणित इस धृति का लक्षण कुछ इस प्रकार किया गया है–

"जिह्वोपस्थजयो धृतिः।

अर्थात् जीभ एवं जननेन्द्रिय पर जो संयम है, वही धृति कहलाता है और जो इसे धारण करता है, वही धीर है। और भी–

"विकार– हेतौ सति विक्रियन्ते,

येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

अर्थात् मन में विकार उत्पन्न होने के कारण उपस्थित होने पर भी जिसका

---

२. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय १२२

३. मनुस्मृति ६.९२

चित्त विकृत नही होता, वही धीर है। यद्यपि इस धृति की साधना अत्यन्त कठिन है, किन्तु निरन्तर अभ्यास व मानापमान में सहिष्णुता धारण करने का चिन्तन करने से यह सुलभ होती है। तथा–

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।

अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा।।[४]

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार–

कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत्।[५]

क्षमा–

भागवान् श्रीकृष्ण की द्वितीय विभूति स्वरूप क्षमा वस्तुतः "क्षमा वीरस्य भूषणम्" के अनुसार वीर का आभूषण है। शक्ति होने पर भी जो मनुष्य अपमानित व तिरस्कृत होते हुए भी स्वयं पर नियन्त्रण रखते हुए सन्तुलित व्यवहार करते है, यथार्थ में वे ही क्षमावान् हैं। भगवान् मनु के अनुसार क्षमा करने वाला मनुष्य अपमानित होने पर भी सुखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक जागता है तथा सुखपूर्वक इस लोक में विचरण करता है, जबकि अपमान करने वाला नष्ट हो जाता है। यथा–

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।

सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति।।[६]

क्षमा को राजा के मुख्य कर्त्तव्यों में परिगणित करते हुए याज्ञवल्क्य का स्पष्ट निर्देश है कि–

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।

स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता।।[७]

राजा ब्राह्मणों पर क्षमाबुद्धि रखे, मित्रवर्ग के साथ मित्रता का व्यवहार करे कुटिलता न करे। राजा को शत्रुओं के प्रति क्रोधी तथा सेवकों एवं प्रजा के प्रति पिता के समान (दयावान एवं हितकारी, क्षमाशील) होना चाहिए।

दम–

इन्द्रियाणां जयो लोके दम इत्यभिधीयते।

---

४. मनुस्मृति २.१६२

५. याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय १५६

६. मनुस्मृति २.१६३

७. याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय ३३४

नादान्तस्य क्रियाः काश्चिद् भवन्तीह द्विजोत्तमाः ।।

अर्थात् इस लोक में इन्द्रियों पर प्राप्त की हुई विजय को 'दम' कहते हैं। हे उत्तम ब्राह्मणों! जो मनुष्य दमयुक्त नहीं है, उसकी कोई क्रिया सफल नहीं होती। इन्द्रियों के द्वारा यथेच्छ आचरण धर्मशास्त्रों के अनुसार कदापि क्षम्य नही हैं। यथा मनुस्मृति में प्रोक्त है–

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छति मानवः ।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिं समधिगच्छति ।।[८]

अर्थात् इन्द्रियों के विशेष सङ्ग से मनुष्य दोष को प्राप्त होता है, परन्तु इन्द्रियों को वश में रखने से वही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जो– प्रशंसा अथवा निन्दा की बात को सुनकर, (चिकने एवं कोमल रेशनी वस्त्रादि तथा रूखे कम्बलादि) छूकर, (सुन्दर या कुरूप को) देखकर, (स्वादयुक्त या स्वादहीन वस्तु को) खाकर ओर (सुगन्धित तथा दुर्गन्धित वस्तु को) सूँघ कर न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है; उसे 'जितेन्द्रिय जानना चाहिए–

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ।।[९]

इस प्रकार इन्द्रियों का यह निग्रह मन पर पूर्णतया आधारित हैं क्योंकि, केवल बाह्य इन्द्रियों को बलात् रोकने से मन ही मन विषयों का स्मरण करता रहता हैं; जो कि मिथ्याचार है। अतः यह नियमन मानसिक होना चाहिए।

अस्तेय–

उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वापकर्षणम् ।
सुप्तमत्तप्रमत्तेम्भ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः ।।[१०]

सुप्त, पागल और असतर्क मनुष्य से विविध उपायों द्वारा छल करके किसी भी चीज को ले लेना स्तेय (चोरी) है; जबकि श्रुतिः–'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'[११] कहकर किसी के द्रव्य की लालसा न करने का उपदेश देती है। मनुस्मृति में तो अस्वामिक (लावारिस) धन के प्रति और लोभवश झूठ बोलकर प्राप्त करने की इच्छा वाले के

---

८. मनुस्मृति २.६३
९. तदेव २.९८
१०. नारदस्मृति
११. ईशावास्योपनिषद, १

प्रति भी दण्ड का विधान किया गया है। यथा–

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः।

वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति।।[१२]

याज्ञवल्क्यस्मृति में व्यवहारध्याय के अन्तर्गत 'स्तेय–प्रकरण' में तो दूसरे के धन और घर के विषय में बातें पूछने वाले को, गुप्त निवास करने वाले को, आय न होने पर भी अधिक व्यय करने वालें को और खोई वस्तु को बेचने वाले को भी दण्ड देने का विधान किया गया है –

परद्रव्यगृहाणां च पृच्छका गूढचारिणः।

निराया व्ययवन्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रयाः।।[१३]

शौच अथवा शुचिता (पवित्रता)–

मुख्यतया शुचिता दो प्रकार की होती है–आन्तरिक और बाह्य। मिट्टी तथा जल से जो स्वच्छता होती है वह शारीरिक अथवा बाह्य शुचिता है। यथा–

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।

विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।।[१४]

यद्यपि ये सभी उपाय मनुष्य की भिन्न–भिन्न प्रकार की शुचिता अथवा पवित्रता के साधक है; किन्तु महाराज मनु के अनुसार सर्वश्रेष्ठ शौच तो अर्थशौच ही है–

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।।[१५]

अर्थात् न्याय से प्राप्त किये हुए धन की शुद्धि श्रेष्ठ मानी जाती है। जो केवल मिट्टी जल आदि से शुद्ध है (धन से नहीं), वह शुद्ध नहीं है। क्योंकि, वृत्ति की शुद्धि मनुष्य में दैवी भावनाओं की वृद्धि एवं आसुरी भावनाओं का विनाश करती है। परिणाम स्वरूप मन धीरे–धीरे शुद्ध होने लगता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में तो प्रायश्चित्त अध्याय के अन्तर्गत 'आशौच प्रकरण' में समस्त प्रकार के शौच का विस्तृत विवेचन है। इसके अतिरिक्त आचाराध्याय–ब्रह्मचारि प्रकरण में भी शौच–नियम प्रतिपादित हैं।[१६]

---

१२. मनुस्मृति ८.३२

१३. याज्ञवल्क्यस्मृति, व्यवहाराध्याय २६८

१४. मनुस्मृति ५.१०९

१५. तदेव, ५.१०६

१६. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय १५–२७ दृष्टव्य

इन्द्रिय–निग्रह–

इन्द्रियनिग्रह मीमांसा–धर्मशास्त्रों का प्रमुख विवेच्य रहा है और यह आवश्यक भी है, क्योंकि यदि एक भी इन्द्रिय विषयासक्त रहती है तो उससे उस मनुष्य की बुद्धि वैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे चमड़े के बर्तन (मशक आदि) के एक ही छिद्र से सब पानी बहकर नष्ट हो जाता है। यथा–

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्।।[१७]

इन्द्रिय–निग्रह आदि से मोक्ष–लाभ भी किया जा सकता है। यह निग्रह मनु के अनुसार थोड़ा भोजन और एकान्त वास के द्वारा किया जाना चाहिए–

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत्।।[१८]

याज्ञवल्क्यस्मृति में तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर शरीरगत समस्त साधनाओं को पूरा करते हुए मनुष्य के ब्रह्मलोक–प्राप्ति की चर्चा है–

अनेन विधिना देहं सादयन्विजितेन्द्रियः।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहाजायते पुनः।।[१९]

धी अथवा विज्ञान–

विषयों में से रस का चला जाना ही मोक्ष है और रस का होना ही बन्धन है। विज्ञान तो इतना ही है फिर आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें।

मोक्षो विषयवैरस्यं, बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु।।[२०]

तात्पर्य यह है कि संसार में विषय रूपी विषों से बचे रहना चाहिए। क्योंकि, विष तो खाने पर मनुष्य का अहित करता है, जबकि विषयों का तो केवल चिन्तन मात्र ही पतन के लिए पर्याप्त है। यथा–

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।

---

१७. मनुस्मृति २.९९

१८. तदेव ६.५६, ६०, २.८८, २.९३–१०० भी द्रष्टव्य

१९. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय–५०

२०. अष्टावक्रगीता १५.२

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।[२१]

यही ज्ञान 'विज्ञान' है और इसको ग्रहण करने वाली बुद्धि ही 'धी' है, जिसे भगवान् की विभूतियों से मेधा कह सकते है।

विद्या–

'नास्ति विद्या समं चक्षुः – अर्थात् जिन विद्याओं के कारण चतुर बुद्धि वाला मनुष्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष–इन चारों पुरुषार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है, ये ही विद्याएँ कहलाती हैं। यथा–

विद्याद्यदाभिर्निपुणं चतुर्वर्गमुदारधीः।

विद्यात् तदासां विद्यात्वं विदिर्ज्ञाने निरुच्यते।।[२२]

मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में इस विद्या–प्राप्ति के लिए उपनयन संस्कार से लेकर ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य कर्म व निषिद्ध कर्मों की चर्चा करते हुए गुरु के समीप रहकर इसे भली–भाँति निष्ठापूर्वक ग्रहण करने के पश्चात् अन्त में गुरुदक्षिणा देने तक का वृहद् वर्णन प्राप्त होता है।[२३] इस मोक्षदायिनी – (सा विद्या या विमुक्तये) विद्या का लाभ प्राप्त करके मानव पग–पग पर अपने कर्त्तव्य का भली–भाँति निश्चय कर सकता है और जीवन में कभी पथभ्रष्ट नहीं हो सकता है।

सत्य–

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।[२४]

मनु प्रतिपादित यह 'सत्य' धर्मवेत्ताओं के द्वारा परम धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। यथा– 'आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।' इसीलिए अन्यत्र भी मनु सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्रता में सर्वदा अनुराग (श्रद्धा) रखने की शिक्षा देते हुए दिखलाई पड़ते हैं–

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।[२५]

---

२१. श्रीमदभगवदगीता २.६२–६३

२२. विद्या शब्द की निरुक्ति

२३. मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय तथा याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय–ब्रह्मचारि प्रकरण द्रष्टव्य

२४. मनुस्मृति ४.१३८

२५. तदेव ४.१७५

इसी सत्यनिष्ठा को याज्ञवल्क्यसमृति में इन शब्दों में कहा गया हैं–

न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं वेदत्।

नाहितं नानृतं चैव न स्तेनः स्यान्न वार्धुषी।।[२६]

वस्तुतः 'यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा–अर्थात् जो भूत प्राणियों के लिए कल्याणकारी है, वही सत्य है। अतः सदैव **'सत्यपूतां वदेद्वाचम्'**[२७] अर्थात् सत्य से पवित्र वचन बोलना चाहिए।

अक्रोध–

क्रोध की उत्पत्ति कामनाओं के सफल न होने पर होती है। अतः धर्म के अन्यान्य लक्षणों से उपेत होने पर अन्तिम अक्रोध नामक लक्षण का उदय स्वयं ही प्रकट होने लगता है। ब्रह्मचारी के त्याज्य कर्मों को बताते हुए मनु ने कहा है कि–

"वर्जमेन्मधु..।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।।[२८]

अन्यत्र भी सबमें बैरभाव का त्याग करते हुए क्रोध तथा व्यर्थ–वचन का निषेध करते हुए मनु कहते हैं कि–

क्रुद्धयन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृता वदेत्।।[२६]

क्रोध से युक्त भी किसी के ऊपर स्वयं क्रोध न करें। किसी के अपनी निन्दा करने पर भी उससे मधुर बात करें और सप्तद्वारों से निर्गत विनाशशील (व्यर्थ) वाणी न बोलें। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य भी कहते हैं कि–

यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति।

अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च।।[३०]

जो काँटा चुभाता हो और जो चन्दन का लेप करता हो, उन दोनों पर क्रमशः न क्रुद्ध होवे और न प्रसन्न होवे, अपितु दोनों पर ही समान दृष्टिकोण रखे।

धर्म के उपर्युक्त लक्षणों को भली–भाँति आत्मसात् कर लेने पर किसी भी

---

२६. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय १३२

२७. मनुस्मृति ६.४६

२८. तदेव २.१७७, १७८

२६. तदेव ६.४८

३०. याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय –५३

व्यक्ति को कर्त्तव्य व्यामोह नहीं हो सकता। ये दोनों ही धर्मशास्त्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़े कर्मों का विधान स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट करते हैं ताकि समाज के प्रत्येक वर्ग को समान अवसर व अधिकार प्राप्त हो सकें। कहीं किसी के अधिकार का हनन न हो सके। कोई अधिकारच्युत होकर दुःख अथवा कष्ट न पाये।

स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास, जीविका, प्रशासन, न्याय, स्वतन्त्रता, अवैध गिरफ्तारी, शोषण एवं धार्मिक स्वतन्त्रता जैसे समस्त मानवाधिकार मनु एवं याज्ञवल्क्य–प्रणीत पथ पर चलकर बिना किसी आपसी टकराहट के प्राप्त किये जा सकते हैं। आज मानव इनके द्वारा बताये मार्ग पर न चलने के कारण ही विनाश के मुख में गिरता जा रहा हैं। जहाँ स्मृतियाँ कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करके व्यक्ति में उदात्त भावनाओं को उदित होने का अवसर प्रदान करती हैं, वहीं आज का संविधान मानवाधिकारों के नाम पर व्यक्ति का सम्पूर्ण ध्यान कर्त्तव्य से हटकर सिर्फ अधिकार मात्र में केन्द्रित करके कलह, झगड़ा और विनाश जैसे गर्हित मार्ग पर अग्रसारित करने का काम कर रहा है। धर्मशास्त्र सामर्थ्य होने पर भी उसका प्रयोग न करने की शिक्षा देकर शक्ति सञ्चय कराकर तेजस्वी बनना सिखलाते है; जबकि आज का मानव सामर्थ्य से अधिक प्रदर्शन करके शक्ति एवं सामर्थ्य का अपव्यय कर रहा हैं। जो युवाशक्ति दिग्भ्रमित सी होकर अपने लक्ष्य और पथ को ढूँढने में व्यामोहित सी दिखाई पड़ती है और गलत कर्म में प्रवृत्त होकर गलत–गलत तरीकों से अधिकार प्राप्ति की चेष्टा करती है। यही यदि उपर्युक्त धर्म के एक–दो अथवा कुछ तत्त्वों को अपने आचरण में उतार ले तो पुनः एक बार प्राचीन भारतीय सम्पदा को अक्षुण्ण कर सकते है। कर्त्तव्यपरायण–समाज ही मानवाधिकारों की सुरक्षा कर सकता है, क्योंकि उपर्युक्त विधि से प्रतिपादित धर्म इन मानवाधिकारों का संरक्षण तथा पोषण करने में सर्वथा समर्थ हैं।

मनु ने उपघातक प्रकरण में कहा है कि महायन्त्र प्रवर्तन उपघातक है; अतः इसका प्रवर्तन न होने दे[३१]– किन्तु आज के मानव ने इसकी उपेक्षा की परमाणु बम, हाइड्रोजन बम आदि वह बनाता चला गया। स्थिति यह है कि यदि इन की उपेक्षा से विश्व मौत के मुख तक पहुँच गया है। अतः अभी भी समय रहते धर्मशास्त्र–प्रणीत मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मानवाधिकार–संरक्षण की बात सोचना भी स्पप्नवत् ही होगी।

***

---

३१. मनुस्मृति ११.६३

४. अर्थशास्त्र-खण्ड

डॉ० रेखा शुक्ला
कानपुर

कौटिल्य–कृत अर्थशास्त्र में मानवाधिकार

संस्कृत–वाङ्मय के इतिहास में कौटिल्य–कृत अर्थशास्त्र एक अद्वितीय कृति है। अर्थशास्त्र के प्रणेता ने एक सभ्य, सुसंस्कृत एवं शिष्ट समाज की रचना के लिए एक विशेष प्रकार का चिन्तन प्रस्तुत किया है जो वर्तमान युग में अत्यन्त प्रासङ्गिक हैं। किसी भी समाज अथवा राष्ट्र का सर्वोत्तम लक्ष्य है व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करना, जिसके लिए राज्य के द्वारा व्यक्ति को कतिपय सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इन्हीं सुविधाओं को अधिकार कहा जा सकता है। अधिकार वे भापदण्ड हैं जिनके बिना मानव–जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये अधिकार व्यक्ति को शुद्ध, परिष्कृत एवं निर्धारित स्वरूप प्रदान करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के १० दिसम्बर १९४८ के घोषणा पत्र में नागरिक तथा राजनैतिक अधिकारों के साथ–साथ सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों का प्रतिपादन मानवाधिकारों के अन्तर्गत किया गया हैं यथा समान कार्य के लिए समान वेतन, स्वतन्त्रता का अधिकार, सांस्कृतिक गतिविधियों का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, समानता का अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता एवं न्याय का अधिकार।

मानवाधिकारों की वर्तमान अवधारणा की समृद्ध एवं स्वस्थ परम्परा अर्थशास्त्र में प्राप्त होती हैं। विशाल साम्राज्य के संस्थापक तथा सङ्गठनकर्त्ता कौटिल्य एक महान् तत्त्ववेत्ता एवं राजनीतिज्ञ थे, जिनके गूढ चिन्तन में प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से अनुस्यूत मानवीय अधिकारों की अवधारणा परिलक्षित होती हैं। कौटिल्य ने राजनैतिक अधिकारों के साथ–साथ सामाजिक अधिकारों यथा स्त्री अधिकार, बाल अधिकार, दास का अधिकार, स्त्रीपुरुष समता का अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, शिक्षा का अधिकार इत्यादि के साथ आर्थिक अधिकारों का भी विशेष विवरण प्रस्तुत किया हैं।

सामाजिक अधिकार :– अर्थशास्त्र में प्रोक्त मत के अनुसार उस समय वर्णाश्रम धर्म सुप्रतिष्ठित था तथा राजा का कर्त्तव्य था कि वह अपनी प्रजा को धर्म एवं कर्म के मार्ग से अर्थात् धर्माचरण से विचलित न होने दे–

तस्मात्स्वधर्मभूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।

स्वधर्मं सन्दधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।।[1]

---

१. अर्थशास्त्र, १.३.३ (पृ. १५, ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट मैसूरः १९८६)

चारों वर्णों के कर्म भी निर्धारित थे तथा समस्त वर्णों को अहिंसा, सत्य, शुद्धता, दया तथा क्षमा के सुन्दर गुणों का अनुसरण करना चाहिए यह भी निर्धारित था–

'सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनुसूयाऽऽ नृशंस्यं क्षमा च'[२]

वस्तुतः धर्माचरण मानसी प्रवृत्ति की शुद्धता का आधार है तथा उससे स्वस्थ समाज की परिकल्पना साकार होती हैं।

इसी प्रकार चारों आश्रमों के भी धर्म निर्धारित थे। कौटिल्य ने प्रव्रज्या–ग्रहण करने का अधिकार केवल उन्हीं को दिया है जिन्हें धर्म के अधिकारी ने अनुमत किया हो। किन्तु नियम का उल्लङ्घन करके स्त्री तथा सन्तान के जीवन–निर्वाह का प्रबन्ध किये बिना संन्यास लेने वाला अथवा अपनी स्त्री को प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए प्रेरित करने वाला भी राजा द्वारा दण्डनीय कहा गया है। (अर्थशास्त्र अधिकरण २ अध्याय १)

कौटिल्य ने सामाजिक कर्त्तव्यों के सुपालन पर बहुत बल दिया हैं। यदि कोई पुरुष समर्थ होते हुए भी स्त्री, बच्चों, माता–पिता, भ्राता (नाबालिग) भगिनी (विधवा अथवा अविवाहित) आदि का भरण–पोषण न करे तो उसे दण्डित किया जाना चाहिए। यदि किसी कारण से ये पतित हो गए हों तो सम्बन्धी उनके भरण–पोषण के लिए बाध्य नहीं हैं। किन्तु माता यदि पतित भी है तो उसका भरण–पोषण आवश्यक है। अधिकरण २ के प्रथम अध्याय में कौटिल्य ने बाल, वृद्ध, व्याधिग्रस्त, अनाथ पुरुष, अनाथ स्त्री एवं उसकी सन्तान की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य का माना है।

स्वास्थ्य से सम्बद्धाधिकार :– अर्थशास्त्र में राजा को अपने स्वास्थ्य तथा जनता के स्वास्थ्य से दोनों पर विचार करने का निर्देश दिया गया हैं। राजप्रासाद के पृष्ठ भाग में स्त्री–निवेश के समीप ही स्त्रियों की गर्भव्याधि हेतु औषधि, वृक्षों तथा सरोवरादि की व्यवस्था का उल्लेख है–

'पृष्ठतः कक्ष्याविभागे स्त्रीनिवेशो गर्भव्याधिवैद्यप्रत्याख्यातसंस्थाः वृक्षोदकस्थानञ्च।'[३]

कौटिल्य के अनुसार वैद्य को राजा के समीप रहना चाहिए।[४] कौमारभृत्य तथा गर्भमर्मणि चिकित्सकों का उल्लेख शिशु–चिकित्सा के क्षेत्र में विशेषीकरण का परिचायक हैं।

---

२. अर्थशास्त्र, १.३ (पृ. १५)

३. वही अधि० १ अ. १६

४. वही अधि० १ अ. २० (पृ. ६१)

यहाँ तक कि पशुओं की चिकित्सा से सम्बद्ध विवरण में अश्वों, गजों, गो, अजादि की चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के लिए नियम निर्धारित थे। पशुचिकित्सकों को अनीकस्थ कहा जाता था–

'चिकित्सकानीकस्थोपस्थायुकवर्गं चानुतिष्ठेत्।'[५]

किसानों की स्वास्थ्य–वृद्धि के लिए भी राज्य उत्तरदायी था। रोगी कृषकों को राज्य की और से धन भी दिया जाता था। यदि जनपदवासी स्वास्थ्य–सुधार के लिए प्राप्त धन राज्य को वापस कर देते थे तो राजा उन पर पिता की भाँति अनुग्रह करता था–

'निवृत्तपरिहरान् पितेवानुर्गृह्णीयात्'[६]।

राज्य के प्रत्येक वर्ग को आजीविका–प्राप्ति का अधिकार प्राप्त था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में स्पष्ट निर्देश किया हैं कि अध्यापन कार्य करने वाले ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य, श्रोत्रिय आदि को जीवन निर्वाह– हेतु भूमि दी जानी चाहिए और उसे सर्वथा कर से मुक्त होना चाहिए–

'ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्यभि–रूपदायकानि प्रयच्छेत्'।[७]

राजा की ओर से चिकित्सकों को भी निर्धारित वेतन देने का विधान है।[८] भूमि पर राजा का अधिकार था तथा कृषकों को मजदूरी का चतुर्थांश मिलता था। खेतों की रखवाली करने वाले ग्वाले, दास तथा कर्मकरों को सवा पण वेतन के अतिरिक्त भोजन, वस्त्रादि दिए जाने का उल्लेख हैं।[९] परिश्रम के अनुरूप वेतन दिए जाने का उल्लेख है–

'कर्मानुरूपं कारुभ्यो भक्तवेतनम्'[१०]

गीत गाना, बजाना, नृत्य करना, नाटक करना, लेखन, चित्रकला, वीणा–वेणु –मृदङ्ग बजाना, मन को पहचानना, सुगन्धित द्रव्य बनाना, माला गूँथना, पैर दबाना, शरीर सज्जा करना इत्यादि कार्यों में निपुण लोगों की, गणिका दासी तथा

---

५. अर्थशास्त्र अधि० २ अ. ३४
६. वही अधि० १ अ. ०१
७. वही अधि० २ अ. ०१, पृ.६८
८. वही अधि० ३ अ. १३
९. वही अधि० २ अ. २४
१०. वही अधि० २ अ. २४

नर्तकियों को कलाओं का ज्ञान देने वाले आचार्यों की आजीविका का प्रबन्ध नगरों तथा ग्रामों से आने वाली आय के द्वारा किया जाना चाहिए। द्वितीय अधिकरण के सत्ताइसवें अध्याय में इसका उल्लेख है–

'गणिका–दासी–रङ्गोपजीविनीश्च ग्राहयतो राजमण्डलादाजीवं कुर्यात्'[११]

वणिग्वर्ग की आजीविका के लिए कौटिल्य ने राजा को निर्देशित किया हैं कि वह आकर–स्थान से उत्पन्न सोना–चाँदी आदि के विक्रय–स्थान, चन्दनादि उत्तम काष्ट के बाजार, पशुओं की वृद्धि के स्थान, आयात–निर्यात के स्थान, जल–थल मार्गों तथा मण्डियों की व्यवस्था करे–

'आकरकर्मान्तद्रव्यहस्तिवनव्रज–वाणिक्पथप्रचारान्वारिस्थलपथ–पण्यपत्तनानि च निवेशयेत्।'[१२]

तृतीय अधिकरण के त्रयोदश तथा चतुर्दश अध्याय में सभी कर्मचारियों तथा सम्भूय समुत्थाय की नियत भृति का उल्लेख है।

स्त्री–सम्बन्धी अधिकार :– अर्थशास्त्र में स्त्री–सम्बद्ध अधिकारों का वर्णन भी विस्तार से प्राप्त होते है। स्त्रियों को किसी भी आजीविका को प्राप्त करने की स्वतन्त्रता थी। प्रशासन में भी स्त्रियों की समान भागीदारी थी। स्त्री–परिचारिकाओं, भिक्षुकी, स्त्री–गुप्तचरों तथा शिल्पी–स्त्रियों का वर्णन प्राप्त होता हैं। कौटिल्य ने सूत्राध्यक्ष को निर्देश किया है कि वे स्त्रियाँ जो घर से बाहर नहीं निकलतीं यदि वे वृत्ति चाहें तो उनके लिए सूत्र बनाने का कार्य घर पर ही दे देना चाहिए। स्त्री–पुरुष सम्बन्धों में भी स्वतन्त्रता थी। कौटिल्य के अनुसार पति के विशेष गाली देने या मारने पर स्त्री धर्मस्थीय अदालत मुकदमा कर सकती थी उसी प्रकार स्त्री पति को मारे या गाली दे तो वह भी धर्मस्थीय अदालत से मुकदमा कर सकता था।[१३]

अर्थशास्त्र में आठों प्रकार के विवाह का उल्लेख है किन्तु उसमें प्राजापत्य तथा ब्राह्म विवाह को मान्यता प्राप्त थी। परस्पर द्वेष होने पर ठहराव से मोक्ष मिल सकता था–

'परस्परं द्वेषान् मोक्षः'[१४]

यदि स्त्री की जीविका का प्रबन्ध न हो तथा सुखावस्थ कुटुम्ब उसे छोड़ दे तो

---

११. अर्थशास्त्र अधि० १ अ. २७ (पृ. १६२)
१२. वही अधि० १ अ. ०१
१३. वही अधि० ३ अ. ०३
१४. वही अधि० ३ अ. ०३

वह यथेष्ट पति को प्राप्त कर सकती है। विधवा स्त्रियों को जो मृत पति के नाम पर पवित्र–जीवन व्यतीत करती थीं 'धर्मकामा' कहा गया है तथा उसे पति के उत्तराधिकार की अधिकारिणी कहा गया है। श्वशुर की अनुमति से वे दूसरा विवाह भी कर सकती थीं–

मृते भर्तरि धर्मकामा तदानीमेवास्थाप्याभरणं शुल्कशेषं च समेत् कुटुम्बकामा तु श्वशुरपतिदत्तं निवेशकाले समेत्।[१५]

स्त्री को दाय (सम्पत्ति अधिकार) पाने का पूरा अधिकार था। पुत्रवती अनाथ स्त्रियों तथा उनकी सन्तान की रक्षा राजा को करनी चाहिए–

'राजा विभृयात् स्त्रियमप्रजातां प्रजातायाश्च पुत्रान्'[१६]

बालक–सम्बन्धी अधिकार :– धर्मस्थीय नामक तृतीय अधिकरण में ही बालकों के अधिकार को भी सुरक्षित किया है। सप्त अध्याय में (पुत्र विभाग) पुत्र क्रमानुसार सम्पत्ति प्राप्त करने के अधिकार का उल्लेख है। कौटिल्य सभी शिशुओं के प्रति समानता के पक्षधर हैं। इसी अध्याय में कौटिल्य ने नियोगज सन्तान को भी दोनों का उत्तराधिकारी माना है। विभिन्न वर्णो के विवाह को भी कौटिल्य ने न्यायोचित माना है। पुत्र–विभाग के अन्त में कहा है –देश का, जाति का, संघ का, ग्राम का जिसका जो धर्म हो उसके अनुसार दाय धर्म सिद्ध करे–

देशस्य जात्याः सङ्घस्य धर्मो ग्राम वापि यः।
उचितस्तस्य तेनैव दाय–धर्मं प्रकल्पयेत्।।[१७]

नाबालिग बच्चे की सम्पत्ति पर ग्रामवृद्धों का अधिकार रहे तथा बालिग होने पर उसकी सम्पत्ति उसे लौटा दी जाय।

दास–सम्बन्धी अधिकार :– धर्मस्थीय का त्रयोदश अध्याय 'दास–कल्प' स्वतन्त्रता के अधिकार तथा समता के अधिकार को पुष्ट करता है। उदरदास के अतिरिक्त आर्यप्राण अप्राप्त व्यवहार (नाबालिग) शूद्र को बेचने या धरोहर रखने वाले स्वजन को १२ पण दण्ड, वैश्य को दोगुना, क्षत्रिय को तिगुना तथा ब्राह्मण को चौगुना दण्ड निर्धारित था। किन्तु म्लेच्छों (यवनों) को प्रजा बेचने या धरोहर रखने में दोष नहीं होता किन्तु आर्य को दास नहीं किया जा सकता–

---

१५. अर्थशास्त्र अधि० ३ अ. ०२
१६. वही अधि० १ अ. ०१
१७. वही अधि० ०३ अ. ०७

म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। न त्वार्यस्य दासभावः।।[१८]

किन्तु यदि मूल्य चुका दे तो आर्यत्व (स्वतन्त्रता) का अधिकारी होता था। उचित निष्क्रय पाने पर यदि दास को स्वतन्त्र न करे तो बारह पण दण्ड का भागी होता था। यदि कुटुम्ब की अर्थ चिन्ता के लिए कोई स्त्री गृह्य दासी बनी रहना चाहे तो उसके माँ, भाई तथा बहन अदास हो जाएं।

आहित दास से भी अमानवीय कार्य करवाना कौटिल्य को अभीष्ट नहीं है। आहित दास से मुर्दा, मल–मूत्र या जूठन उठवाए, महिला दास को अनुचित दण्ड दे उसके सतीत्व का अतिक्रमण करे या नग्नावस्था में उसके पास जाए अथवा निर्वस्त्र करके उसे बुलाए तो उसकी समस्त सम्पत्ति अधिग्रहीत कर ली जाए–

प्रेतविण्मूत्रोच्छिष्टग्राहणमाहितस्य नग्नस्नापनं दण्डप्रेषणमतिक्रमणं च स्त्रीणां मूल्यनाशकरम्।[१९]

न्याय–सम्बन्धी अधिकार :– कौटिल्य द्वारा की गई सृदृढ न्याय–व्यवस्था प्रणाली समान रूप से न्याय का अधिकार प्राप्त करने का सुस्पष्ट उदाहरण है। अर्थशास्त्र के अनुसार 'कण्टक–शोधन' तथा धर्मस्थीय न्यायालय स्थापित किए गए थे। कौटिल्य के अनुसार कर या बलि राजा की भूति है तथा जो राजा उस भूति के बदले में प्रजा का योग–क्षेम नहीं करता है वह अनर्थ को उत्पन्न करने वाला होता है–

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।[२०]

कौटिल्य जैसा एकराज्य का पक्षपाती भी यह स्वीकार करता है कि प्रदेष्टा राजा को भी दण्ड दे सकता है। निरपराध व्यक्ति को दण्ड देने पर राजा भी दण्ड का भागी होता था–

अदण्ड्यदण्डने राज्ञो दण्डस्त्रिंशद्गुणोऽम्भसि।
वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्ततः परम्।।[२१]

प्रदेष्टा भी यदि अनुचित दण्ड दे तो 'हैरण्य दण्ड' तथा शरीर दण्ड का भागी होता था। अतएव न्याय प्राप्ति सबके लिए समान रूप से थी।

---

१८. अर्थशास्त्र अधि० २ अ. ०१
१९. वही अधि० ३ अ. १३
२०. वही अधि० १ अ. १८
२१. वही अधि० ४ अ. १३

धर्म–सम्बद्धाधिकार :– कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हिराक्लस, 'शिव', वरुण इत्यादि विविध देवी देवताओं का उल्लेख प्राप्त होता है। देवस्थानों तथा देवालयों की रक्षा एवं देखरेख राज्य करता था। देवताओं की स्थापना नगर के मध्य में तथा चैत्य पुण्यस्थान व उपवनों का निर्माण नगर की परिधा के बाहर किया जाता था।[२२] इससे स्पष्ट है कि सभी को स्वधर्म स्वीकार करने की स्वतन्त्रता थी। देवता के निमित्त पशु, प्रतिमा, मनुष्य, क्षेत्र, गृह, हिरण्य, सुवर्ण, रत्न व अन्न का हरण करने वाले को प्राणदण्ड की सजा दी जा सकती थी।[२३]

शिक्षा–सम्बन्धी अधिकार :– तक्षशिला विश्वविद्यालय उस समय शिक्षा–प्राप्ति का केन्द्र था। कौटिल्य ने इतिहास के अध्ययन पर विशेष बल दिया है जिसमें पुराण, इतिहास, आख्यायिका, उदाहरण (मीमांसा) अर्थशास्त्र आदि सभी विषय सम्मिलित थे–

'पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः।'[२४]

वेदों में अथर्ववेद तथा इतिहासवेद यही दो गिनाए हैं।

'अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः'[२५]

अर्थशास्त्र में अनेक आचार्य मनु, बृहस्पति, औशनस, भारद्वाज, विशालाक्ष (शिव) पराशर, पिशुन (नारद), कोणदन्त (भीष्म), वातव्याधि (उद्धव), बाहुदन्तपुत्र (इन्द्र) आदि का उल्लेख किया गया है।[२६] इसके अतिरिक्त कृषितन्त्र वृक्षायुर्वेद तथा मनुष्य तथा पशुओं के चिकित्सार्थ आयुर्वेद का भी उल्लेख किया गया हैं।

कौटिल्य ने गीत, सङ्गीत, नृत्य, नाट्य, सुलेख, चित्र, वीणा, वेणु, मृदङ्ग, सुगन्धित द्रव्य तथा मालाकार आदि कला के कार्यों में निगुण व्यक्तियों, गणिका दासी व नर्तकियों को शिक्षित करने वाले आचार्यों को जीविका देने का निर्देश दिया है।

विद्याओं में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति की गणना की गई है। आन्वीक्षिकी में साङ्ख्य, योग तथा लोकायत दर्शन, त्रयी में ऋग्, यजुस्, साम वार्ता में पशुपालन तथा व्यापार, दण्डनीति में अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षिणी तथा

---

२२. अर्थशास्त्र अधि० ४ अ. ०४
२३. वही अधि० ४ अ. १०
२४. वही अधि० १ अ. ०४
२५. वही अधि० १ अ. ०२
२६. वही अधि० १ अ. १, ७, १४, १६

रक्षित–विवर्धिनी और वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी (वर्द्धित को समुचित पात्रों व कार्यों पर व्यय करना) ये सभी विद्याएँ प्रदान की जाती थीं।[२७] इसके अतिरिक्त सामुद्रिक शास्त्र, धर्मशास्त्र, शकुन विद्याएँ भी प्रचलित थीं।[२८] इन सभी को कौटिल्य ने आवश्यक बताया है। इस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विविध मानवाधिकारों का वर्णन प्राप्त होता है।

***

२७. अर्थशास्त्र अधि० १ अ. १, २, ३
२८. वही अधि० १ अ. ११

डॉ० ममता गुप्ता
जबलपुर

अर्थशास्त्र और मानवाधिकार–चेतना

आधुनिक सन्दर्भों में मानवाधिकारों की अवधारणा का आरम्भ द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका तथा क्रूरता की प्रतिक्रिया–स्वरूप हुआ। १९४८ में विभिन्न देशों ने मानवाधिकारों की आवश्यकता को समझते हुए मानवाधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा–पत्र (Universal Declaration of Human Rights) के रूप में एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें मानवाधिकारों को मनुष्य का जन्म–सिद्ध अधिकार माना गया–

> "All human-beings are born free and are equal in dignity and rights".[1]

भारतीय संविधान में १९५० में मौलिक अधिकारों के रूप में मानवाधिकारों को विधान (कानून) के रूप में सम्मिलित किया गया जिसके द्वारा सभी मनुष्यों को जीवन, स्वतन्त्रता, समानता, धार्मिक–स्वतन्त्रता, शिक्षा आदि का वैधानिक अधिकार प्रदान किया गया।

भारत प्राचीन काल से ही मानवाधिकारों के प्रति सजग था। वैदिक और औपनिषदिक साहित्य मानवाधिकारों को प्रतिष्ठित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण है।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष हो अथवा **'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'**[2] कहने वाली उपनिषद् की वाणी हो सभी में मानवाधिकारों की झलक मिलती है। प्राचीन संस्कृत–वाङ्मय में मानवाधिकार का उल्लेख धर्मों और कर्त्तव्यों के रूप में हुआ है। धर्मशास्त्रों में राजधर्म और आश्रम–व्यवस्था आदि प्रकरणों में मानवाधिकार के सङ्केत प्राप्त होते हैं।

अर्थशास्त्र एक अति प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्र–सम्बन्धी ग्रन्थ है, जिसमें शासन के अनेक आयामों पर विचार प्रस्तुत किए गये हैं। अर्थशास्त्र बहुविवेचित ग्रन्थ है, उसकी अनेक दृष्टियों से विवेचना की जा चुकी है। प्रस्तुत शोध–पत्र में मानवाधिकार को दृष्टि में रख कर इसके अनुशीलन का प्रयास किया जा रहा है।

---

१. Universal Declaration of Human Rights -Page 1
२. ईशावास्योपनिषद् १.१

Universal Declaration of Human Rights के अनुसार मानवाधिकार मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है–

१. नागरिक और राजनैतिक अधिकार (Civil and Political rights)

इसके अन्तर्गत लिङ्ग, धर्म, जाति, राष्ट्रीयता, आयु आदि के भेद के बिना सभी को सुरक्षा और समानता प्रदान करने, उन्हें किसी भी प्रकार की अनुचित कार्यवाही से बचाने (चाहे वह सरकार की ओर हो अथवा किसी व्यक्ति या व्यक्तिगत संस्था की ओर से की जा रही हो।) के अधिकार प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त इन अधिकारों में व्यक्तिगत रूप से विचार प्रकट करने, न्याय पाने आदि के अधिकार भी आते है।

२. आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार (Economical, Social and Cultural Rights)

इन अधिकारों के अन्तर्गत, जीविका चुनने तथा पाने का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, परिवार रखने का अधिकार, परिवार को सुरक्षा का अधिकार, सामाजिक न्याय, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, स्वास्थ्य और मनोरञ्जन आदि के अधिकार सम्मिलित हैं।

कौटिलीय अर्थशास्त्र का अध्ययन यदि इन अधिकारों के आलोक में किया जाय तो ज्ञात होता है कि ग्रन्थ के अनेक प्रकरणों, अध्यायों में, यहाँ तक सम्पूर्ण अधिकरणों में भी इनकी विशद चर्चा की गयी है।

कौटिल्य से पूर्व प्राप्त होने वाला राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी विवेचन प्रायः आदर्शवादिता और धार्मिकता से ओतप्रोत है। कौटिल्य ने राजनीति से विशुद्ध धर्म को पृथक् करके और उसमें व्यवहारिकता का समावेश करके उसे यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित किया। दैविक और स्वर्गिक राज्यों के स्थान पर मानवीय राज्यों की स्थापना का श्रेय कौटिल्य को ही है। उन्होंने पुरोहितों के स्थान पर कानून बनाने, उनका पालन कराने, प्रजा का रक्षण करने और उसे न्याय दिलाने का दायित्व राज्य को ही प्रदान किया।

कौटिल्य ने राज्य तन्त्र का विवेचन एक कल्याणकारी संस्था के रूप में किया है उनके मत में प्रजा का सुख प्रजा का हित ही एक राजा के लिए सर्वोपरि हैं–

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।[3]

कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में राज्य और प्रजा–जनों की सुरक्षा और उनके

३. अर्थशास्त्र १.१९ (पृ. ५६)

स्वतन्त्रता–पूर्वक जीवन–यापन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। राज्य की सुरक्षा के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति, कृत्य अकृत्य पदों की सुरक्षा, दुर्गों की स्थापना, दैवीय एवं मानवीय व्यसनों, उपद्रवों से राज्य की रक्षा आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। कण्टक–शोधन न्यायालयों और दण्ड–व्यवस्था द्वारा सभी वर्गों और वर्णों की सुरक्षा को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है। न केवल सम्पूर्ण राज्य अपितु व्यक्ति–विशेष की सुरक्षा और स्वतन्त्रता की ओर भी ध्यान दिया गया है। तृतीय अधिकरण के 'वाक्पारुष्यम्' तथा 'दण्डपारुष्यम्' नामक दो अध्यायों में व्यक्तिगत अधिकारों के संरक्षण का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

कौटिल्य की न्यायिक व्यवस्था में समयावधि के अन्दर न्याय पाने की आवश्यकता को भी स्थान दिया गया है। उनके अनुसार राजा को चाहिए कि सर्वप्रथम वह कार्य सम्पादित करे जिसमें अत्यधिक विलम्ब और समय का अतिक्रमण हो चुका हो, क्योंकि अधिक अवधि बीत जाने पर वह कष्ट साध्य हो जाता है–

सर्वमात्ययिकं कार्यं शृणुयान्नातिपातयेत्।

कृच्छ्रसाध्यमतिक्रान्तमसाध्यं वा विजायते।।[४]

न्याय और दण्ड–व्यवस्था का प्रावधान करते समय भी आचार्य कौटिल्य द्वारा मानवीय संवदेनाओं की अवहेलना नहीं की गई है। उन्होंने तीर्थङ्कर, तपस्वी, व्याधिग्रस्त, क्षुधित, पिपासित, क्लान्त, दूसरे देश के निवासी, बार–बार दण्ड प्राप्त करने से दुःखी, तथा अकिञ्चन व्यक्तियों पर विशेष अनुग्रह करने की बात कही है। उनके अनुसार धर्मस्थ अधिकारियों द्वारा ब्राह्मण (आचार्य), तपस्वी, स्त्री, बालक, वृद्ध, व्याधिग्रस्त तथा अनाथों के लिए न्याय सुनिश्चित किया जाना चाहिए, देशकाल आदि के ब्याज से न उनके धन का हरण किया जाय और न ही उन्हें परेशान किया जाय–

तीर्थकरस्तपस्वी व्याधितः क्षुत्पिपासाध्वक्लान्तस्तिरोजनपदो दण्डखेदी निष्किञ्चानश्चानुग्राह्याः। देवब्राह्मणतपस्विस्त्रीबाल–वृद्धव्याधितानामनाथानामनभिसरतां धर्मस्थाः कार्याणि कुर्युः। न च देशकालभोगच्छलेनातिहरेयुः।[५]

आचार्य कौटिल्य के मत में दण्ड का प्रयोग पक्षपात, काम, क्रोध, अज्ञान आदि से रहित तथा प्रजा की सुरक्षा और नियन्त्रण के लिए ही होना चाहिए–

---

४. अर्थशास्त्र – १.१६ (पृ. ५८)

५. वही – ०३.८०

दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति, किमङ्गं पुनर्गृहस्थान्।

चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।

स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु।।[६]

यद्यपि अर्थशास्त्र में विभिन्न वर्णों के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की गयी है तथापि सभी को (चाहे वह शूद्र हो, आर्य हो अथवा अनार्य ही क्यों न हो) न्यायालय जाने और न्याय पाने का समान अधिकार दिया गया है।

कौटिल्य के द्वारा बालकों और स्त्रियों के मूल अधिकारों की रक्षा का भी पूर्ण प्रयास किया गया है यथा– किसी बालक के द्वारा रथ चलाते समय कोई अपराध हो जाता है तो उसका दायित्व बालक का न होकर रथ के स्वामी अथवा उसके साथ उपस्थित वयस्क पर होगा–

बाले यातारि यानस्थः स्वामी दण्ड्यः। अस्वामिनि यानस्थः प्राप्तव्यवहारो वा याता। बालाधिष्ठितमपुरुषं वा यानं राजा हरेत्।[७]

इसी प्रकार स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा की भी व्यवस्था की गई है। उन्हें स्त्रीधन रखने, भरण–पोषण प्राप्त करने के साथ कुछ परिस्थितियों में पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने की अधिकारिणी भी बताया गया है, यथा–

द्रव्यमपुत्रस्य सोदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च। रिक्थं पुत्रवतः पुत्रा दुहितरो वा धर्मिष्ठेषु विवाहेषु जाताः।[८]

स्त्रियों को दण्ड आदि देते समय भी सहानुभूति–पूर्वक विचार किया गया है। उसे विनय के साथ नियन्त्रित करने के निर्देश के साथ पुरुषों की अपेक्षा आधे दण्ड का विधान किय गया है–

इत्यनिर्देशेन विनयग्राहणम्।

तस्यातिक्रमे वाग्दण्डपारुष्यदण्डाभ्यामर्धदण्डाः।[९]

इसके अतिरिक्त अतिचारों से उनकी रक्षा के लिए अधिकरण चार के बारहवें अध्याय में विभिन्न दण्डों का विधान प्राप्त होता है।

न केवल कौटिलीय न्यायिक व्यवस्था में मानवाधिकारों के सङ्केत मिलते है

---

६. अर्थशास्त्र – १.१३
७. वही – ४.१३
८. वही – ३.५
९. वही – ३.३

वरन् सामाजिक न्याय के क्षेत्र में भी मानवाधिकारों के पालन का पूरा ध्यान रखा गया है। तीसरे अधिकरण के अन्तिम अध्याय 'वाक्पारुष्यम्' में किसी को उसके शरीर, प्रकृति, श्रुत, वृत्ति अथवा देश के आधार पर अपशब्द कहने, निन्दा करने, ताना मारने आदि पर दण्ड का प्रावधान किया गया है–

> **वाक्पारुष्यमुपवादः कुत्सनमभिभर्त्सनमिति। शरीरप्रकृतिश्रुत–वृत्तिजनपदानां शरीरोपवादेन काणखञ्जादिभिः सत्ये त्रिपणो दण्डः।**[१०]

यहाँ तक कि नटों और कुशीलवों को भी यह छूट नहीं दी गई है कि वे मनोरञ्जन के नाम पर किसी का देश जाति, गोत्र के आधार पर मजाक बनाएँ–

> **कामं देशजातिगोत्रचरणमैथुनापहाने नर्मयेयुः।**[११]

कौटिल्य ने समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई परिवार के अधिकारों का भी उल्लेख किया है उनके अनुसार यदि कोई पुरुष समर्थ होने पर भी अपने परिवार के बच्चों, स्त्रियों, माता–पिता, नाबालिग भाई, अविवाहिता अथवा विधवा बहन आदि का भरण–पोषण न करे तो उसे दण्ड दिया जाए। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति अपने परिवार का उचित प्रबन्ध किए बिना ही संन्यासी हो जाए तो वह भी दण्ड का अधिकारी है–

> **अपत्यदारान् मातापितरौ भ्रातॄनप्राप्तव्यवहारान्भगिनीः कन्या विधवाश्चाबिभ्रतः शक्तिमतो द्वादशपणो दण्डोऽन्यत्र पतितेभ्यः अन्यत्र मातुः। पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वः साहसदण्डः;**[१२]

कौटिल्य ने सम्पत्ति पर अधिकार और उत्तराधिकार दोनों को व्यक्तियों के स्वाभाविक अधिकार मानते हुए अर्थशास्त्र के तृतीय अधिकरण के पञ्चम, षष्ठ और सप्तम अध्यायों में विस्तृत विवेचना की है और साथ ही बच्चों की सम्पत्ति की रक्षा और उसकी वृद्धि और युवा होने पर उसे वापस दे देने का निर्देश भी दिया है।

अर्थशास्त्र में किसी दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता और निजता के लिए बाधा उत्पन्न करने पर भी राज्य द्वारा सञ्ज्ञान लेने और निराकरण करने का प्रावधान है यथा, किसी व्यक्ति के द्वारा गृहनिर्माण करते समय वातायान, द्वार, सोपान प्रणाली, खात, जल आदि के द्वारा प्रतिवेशी को कष्ट पहुँचाया जाय तो वह दण्ड का अधिकारी होता है–

---

१०. अर्थशास्त्र – ३.१८
११. वही – ४.१
१२. वही – २.१

प्रतिलोमद्वारवातायनबाधायां च, अन्यत्र राजमार्गस्थ्याभ्यः। खातसोपानप्रणालीनिश्रेण्यवस्करभागैर्बहिर्बाधायां भोगनिग्रहे च।[१३]

पाँचवें अधिकरण के 'भृत्यभरणीयम्' नामक प्रकरण में राज्य के कर्मचारियों के कार्यानुसार वेतन, भत्ते, कार्य की प्रवृत्ति की अवस्थाओं आदि का विशद विवेचन करते हुए कौटिल्य ने उनके प्रति मानवीय संवेदनापूर्ण व्यवहार करने का निर्देश दिया है–

यदि किसी कार्य को करते समय किसी कर्मचारी की मृत्यु हो जाए तो उसका वेतन उसके पत्नी–पुत्रों को दिया जाय। उसके बालकों, वृद्धों और व्याधिपीडतों पर कृपा–दृष्टि रखे। इसके अतिरिक्त उन्होंने कर्मचारियों के घरों में किसी की मृत्यु होने, किसी के व्याधिपीडित होने अथवा प्रसूति होने पर आर्थिक सहायता का प्राविधान भी किया है। कौटिल्य ने उपभोक्ता के अधिकारों के संरक्षण की भी चर्चा की है। कण्टक–शोधन न्यायालयों के माध्यम से प्रजा को शिल्पियों, कुम्भकारों, स्वर्णकारों आदि को धोखेबाजी से बचाने के पूर्ण प्रबन्ध हैं, साथ ही उपभोक्ताओं को सही परिमाण में वस्तुएँ प्राप्त हों इसके लिए पौतवाध्यक्ष की व्यवस्था की गई है–

पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तान् कारयेत्।[१४]

आधुनिक समय में जलसंरक्षण, पर्यावरण, दण्ड–विधान आदि के अधिकारों जिन्हें मानवाधिकारों में सम्मिलित किये जाने पर विचार चल रहा है, उन्हें कौटिल्य ने प्रजा के अधिकार में सम्मिलित करते हुए उनका विवेचन किया है। तीसरे अधिकरण के नवम अध्याय में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी जलराशि का पाँच वर्षों तक न उपयोग करता है और न करने देता है तो उसका उस पर स्वामित्व नहीं रह जाता है।

पञ्चवर्षोपरतकर्मणः सेतुबन्धस्य स्वाम्यं लुप्येतान्यत्रापद्भ्यः।[१५]

पर्यावरण संरक्षण के प्रति भी कौटिल्य जागरूक थे। उन्होंने पशु को प्रताडित करने वालों, पुष्प, फल से युक्त छायादार वृक्षों को क्षति पहुँचाने वालों तथा उन्हें काटने वालों के लिए दण्ड का प्रावधान किया है–

पुष्पफलच्छायावद्गुल्मलतास्वर्धदण्डः।
पुण्यस्थानतपोवनश्मशानद्रुमेषु च।

---

१३. अर्थशास्त्र – ३.८
१४. वही – २.१८
१५. वही – ३.८

सीमवृक्षेषु चैत्येषु द्रुमेष्वालक्षितेषु च।
त एव द्विगुणा दण्डाः कार्या राजवनेषु च।।[१६]

तपोवनों तथा राजकीय वनों को पूर्ण संरक्षित वनों की श्रेणी में रखा गया है। वहाँ के पशुओं के वध पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है—

अभयवनमृगाः परिगृहीता वा भक्षयन्तः स्वामिनो निवेद्य यथाऽवध्यास्तथा प्रतिषेद्धव्याः।[१७]

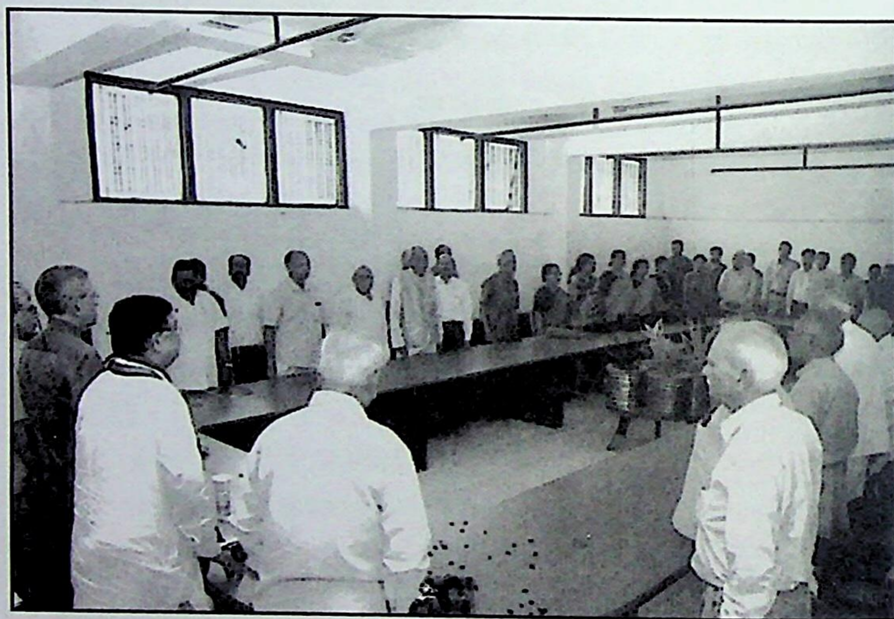
निष्कर्षतः यह माना जा सकता है कि अर्थशास्त्रकार कौटिल्य ने राज्य को कल्याणकारी संस्था के रूप मे स्थापित करने के लिए राज्य के उद्देश्यों और कर्त्तव्यों में मानव—जीवन के विभिन्न पहलुओं को सम्मिलित कर लिया था। उन्होंने सार्वजनिक हित के लिए मुख्य रूप से तीन सूत्रीय नीति को अङ्गीकार किया था, प्रथम—कण्टकशोधन न्यायालयों तथा प्रशासनिक विनियमों द्वारा प्रजा की विभिन्न प्रकार के समाज—विरोधी तत्त्वों से रक्षा, द्वितीय सभी प्रकार की आपदाओं से प्रजा की राज्य द्वारा रक्षा और सहायता तथा तृतीय सैन्य—व्यवस्था द्वारा जनता के गुप्त शत्रुओं (यथा आतङ्कवाद आदि) का दमन। इस नीति से लगभग उन प्रकृतियों और दशाओं का आभास मिलता है जिन्हें वर्तमान सन्दर्भों में मानवाधिकारों के नाम से अभिहित की जाता है। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व के एक राजनीतिज्ञ की यह दृष्टि सर्वथा श्लाघनीय और विस्मित कर देने वाली है।

***

१६. अर्थशास्त्र — ३.१८
१७. वही — ३.१०



राष्ट्र–गान



५. संस्कृत-काव्य-खण्ड

प्रो० (श्रीमती) प्रीति सिनहा
लखनऊ

भवभूतिविरचित उत्तररामचरित में मानवाधिकार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः समाज में व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे कर्त्तव्यों और अधिकारों की आवश्यकता होती है। वस्तुतः कर्त्तव्य और अधिकार एक–दूसरे के पूरक हैं। जैसे सामाजिक परिवेश की दृष्टि से बिना यथोचित कर्त्तव्य–पालन के केवल अधिकार की ही अपेक्षा करना न्यायसङ्गत नहीं है वैसे ही बिना अधिकार के केवल कर्त्तव्य करते रहना मानव के लिए सम्भव नहीं है। इन दोनों के समुचित सामञ्जस्य से ही जहाँ एक ओर समाज में सामाजिक, राष्ट्रीय तथा वैश्विक स्तर पर सन्तुलित व्यवस्था बनी रहती है वहीं दूसरी ओर इसी से मानव का सर्वाङ्गीण विकास भी होता है। The Theory and Practice of Human Rights नामक अपनी पुस्तक में मानवाधिकारों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् मैक्फारलेन का कथन है कि मानवाधिकार को सार्वभौमिक, नैतिकस्वतन्त्रामूलक, सर्वोत्तम, व्यावहारिक तथा क्रियान्वयनयोग्य होना चाहिए। उनके अनुसार केवल लिखित रूप से अधिकार प्रदान कर देना ही पर्याप्त नहीं होता है। अधिकारों की सार्थकता तभी है जब राज्य उनके उपयोग के लिए स्वस्थ वातावरण दें तथा मानव को विधि के अनुपालन के लिए नैतिक रूप से तैयार करें।[1] इसमें जाति, वर्ण, लिङ्ग, आयु, भाषा, धर्म आदि का कोई विचार नहीं होना चाहिए। इस प्रकार मानवाधिकार को सङ्क्षेप में 'जियो और जीने दो' की अवधारणा का पर्याय कहा जा सकता है।

मानव–सभ्यता तथा संस्कृति की विकासपरम्परा पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि विचार, चिन्तन, धर्म, भाषा आदि से सम्बद्ध वैविध्य, विभिन्न परिवेश, सामन्तवादी परिस्थिति तथा सामाजिक वैषम्य के कारण समाज, राज्य, राष्ट्र तथा विश्व में मानवाधिकारों के लिए सदा सङ्घर्ष होता रहा। परिणामस्वरूप इन सामाजिक द्वन्द्वों से मुक्ति के लिए तथा राष्ट्रीय और वैश्विक शान्ति के लिए ऋषियों, मुनियों, चिन्तकों, दार्शनिकों, सन्तों तथा कवियों ने करुणा, उदारता, बन्धुत्व, समता, स्वाधीनता और मानवीय गरिमा के लिए अपने–अपने काल में युगानुरूप मान निर्धारित किये तथा सामाजिक उन्नयन के लिए अधिकारों और दायित्वों को

१. मानवाधिकार एवं कर्त्तव्य, पृ. ३ में उद्धृत

परिभाषित किया जो कहीं न कहीं मानवाधिकार की वर्तमान अवधारणा के मूल सोपान बने।

संस्कृतनाट्यसाहित्य में भास तथा कालिदास के समान भवभूति का भी अविस्मरणीय योगदान रहा है। भवभूति संस्कृत दृश्यकाव्य–परम्परा में सप्तम–अष्टम शताब्दी के एक विश्वविश्रुत दाक्षिणात्य नाट्यसाहित्यकार हैं। उनकी तीन रचनायें है– महावीरचरित, मालतीमाधव तथा उत्तररामचरित। इनमें महावीरचरित तथा उत्तररामचरित नाम्नी कृतियाँ नाट्य–विधा की दृष्टि से नाटक के अन्तर्गत आती हैं तथा मालतीमाधव प्रकरण के अन्तर्गत। ऐतिहासिक कालक्रम, रचनाविधा तथा रचना–सङ्ख्या की दृष्टि से यद्यपि भास तथा कालिदास नामक दोनों साहित्यकार भवभूति की तुलना में अग्रणी हैं, तथापि नाट्यशिल्प, नाट्य–प्रयोग रसाभिव्यक्ति तथा काव्यकलाकौशल की दृष्टि से भवभूति भी इनके समकक्ष परिगणित किये जाते हैं। राजशेखर[२], क्षेमेन्द्र[३] आदि आचार्यों तथा वाक्पतिराज[४], सोढ्ढल[५], धनपाल[६], गोवर्धनाचार्य[७], बल्लाल[८] आदि कवियों ने इनकी कारयित्री प्रतिभा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इनके अनुसार रचनात्मक क्षमता के परिप्रेक्ष्य में भवभूति का शिखरिणी छन्दःप्रयोग, उनकी वाग्वश्या सरस्वती तथा उनकी रसाभिव्यक्ति अतुलनीय हैं। वस्तुतः एक सफल रूपककार के रूप में इनका योगदान केवल साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सामाजिक दायित्व की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

---

२. बभूव वल्मीकिभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।। (बालरामायण १.१६)

३. भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति।। (सुवृत्ततिलक ३.३३)

४. भवभूइजलहिणिग्गयकव्वामयरसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहाणिवेसेसु।। (गउडवहो, पद्य ७९९)
भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु।। वही (संस्कृत छाया)

५. मान्यो जगत्यां भवभूतिरार्यः सारस्वते वर्त्मनि सार्थवाहः।
वाचं पताकामिव यस्य दृष्ट्वा जनः कवीनामनुपृष्ठमेति।। (उदयसुन्दरीकथा, प्रस्तावना, पृ.६७)

६. स्पष्टभावरसा चित्रैः पादन्यासैः प्रवर्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना।। (तिलकमञ्जरी, पद्य ३०, पृ. ४)

७. भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा।। (आर्यासप्तशती १.३६)

८. सुकविद्वितयं मन्ये निखिलेऽपि महीतले।
भवभूतिः शुकश्चार्यो वाल्मीकिश्च तृतीयकः।। (भोजप्रबन्ध, पद्य १६१)

किसी भी साहित्य का अध्ययन अथवा उसकी दृष्टिविशेषपरक समीक्षा केवल तत्कालीन समाज के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं हो सकती है। इस सन्दर्भ में इसके साथ उस साहित्यकार का व्यक्तित्व तथा रचनाकाल भी महत्त्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से भवभूतिविरचित उत्तररामचरित में मानवाधिकार की विशेष चर्चा के प्रसङ्ग में भवभूति के रचनाकाल का सङ्क्षिप्त सन्दर्भ अप्रासङ्गिक न होगा। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर भवभूति का समय सातवीं शताब्दी का अन्त तथा आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ निश्चित होता है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय संस्कृति के इतिहास में हर्षवर्धन (६०६–६४७ ई०) की मृत्यु के पश्चात् लगभग सत्तर–अस्सी वर्ष का काल अन्धकार युग के रूप में जाना जाता है।[९] देश में किसी प्रबल केन्द्रीय शासन के न होने से इस काल में राजनैतिक अस्थिरता के साथ ही सांस्कृतिक ह्रास भी हुआ। इस युग में यह देश राष्ट्रकूटों, कलचूरिवंश (हैहयवंश) तथा चालुक्यवंशों के युग में राष्ट्रकूट राज्य (राजधानी–विदर्भ), चेदिराज्य (राजधानी–माहिष्मती), चालुक्य राज्य (राजधानी–वातापि) आदि छोटे–छोटे राज्यों में बंट गया। विभिन्न प्रदेशों के राजाओं, विभिन्न जातियों और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर विद्वेष बढ़ा, फलस्वरूप देश की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया जिससे संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में ह्रास हुआ। उस समय के भारतीय शासक न तो आन्तरिक शान्ति की रक्षा कर सके और न ही विदेशी आक्रमणों को रोक सके। यह देश पराधीनता की पाशों में जकड़ गया तथा इसके साथ ही सांस्कृतिक चेतना मन्द होती गयी।[१०] इस प्रकार भवभूति का युग न तो कालिदास का गुप्तकालीन स्वर्णयुग था और न ही विक्रमादित्य के समान आश्रयदाता के संरक्षण वाला। यहाँ तक कि इनके रूपकों के प्रयोग का रसास्वादंन तथा व्यवहार–ज्ञान करने वाली जनता कालप्रियानाथ की यात्रा में देशान्तर से आयी हुई सामान्य जनता थी, रङ्गशाला में बैठी भौतिक सुख–सुविधाओं से परिपूर्ण सुसंस्कृत सहृदयविद्वन्मण्डली नहीं। कल्हण की राजतरङ्गिणी के अनुसार भवभूति तथा वाक्पतिराज के आश्रयदाता कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा यशोवर्मन् (७२५–७३१ ई०) थे जिनको काश्मीर– नेरश कर्कोटवंशी ललितादित्य मुक्तापीड (७२४–७६१ ई०) ने सम्भवतः ७३० ई० में पराजित किया था।[११] किन्तु भवभूति की किसी रचना में उनके आश्रयदाता तथा समसामयिक किसी कवि अथवा आचार्य का उल्लेख नहीं है जिससे यह सङ्केत प्राप्त होता है कि ७२५ ई० के पूर्व भवभूति की साहित्य–सर्जना तथ इनके नाट्यों का

---

९. भवभूति (मिराशी), पृ. १६

१०. प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास (भूमिका), पृ. १५

११. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्।। (राजतरङ्गिणी ४.१४४)

प्रयोग हो चुका था। अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः इसी समय ७२५ ई० में सिंहासनारूढ कान्यकुब्ज (कन्नौज) नरेश यशोवर्मा भवभूति की कीर्ति सुनकर इन्हें कन्नौज ले आये थे तथा राजकवि के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

इसी प्रकार भवभूति की रचनाओं की रसपेशलता के सन्दर्भ में समकालीन कवि वाक्पतिराज द्वारा गउडवहो (गौडवधो) नामक अपने प्राकृत काव्य की एक गाथा में प्रयुक्त 'अद्यापि' शब्द व्यञ्जना द्वारा इस तथ्य को द्योतित करता है कि गडडबहो के रचनाकाल तक भवभूति जीवित नहीं थे। प्रमाणों के आधार पर गडडबहो का रचनाकाल ७३५–७४० ई० माना जाता है। इस दृष्टि से भवभूति यशोवर्मा के राज्य के वरिष्ठ तथा वाक्पतिराज कनिष्ठ कवि सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण साक्ष्यों के आधार पर भवभूति का रचनाकाल ७००ई० से ७३३ ई० के मध्य निश्चित होता है जब दक्षिण भारत में राष्ट्रकूटवंशीय नन्नराजा (६६०–७१५ई०), माहिष्मती के कलचुरि राजा वामराजदेव (६७५–७०० ई०) तथा चालुक्य राजा विजयादित्य (६६६–७३३ई०) राज्य कर रहे थे।

इस प्रकार तत्कालीन विपरीत राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक इतिहास के जिस कालखण्ड में भवभूति का जन्म हुआ, उसी काल में विदर्भ (बरार में पद्मपुर) से पद्मावती स्थानान्तरित होकर परिस्थिति का सामना करते हुए उन्होंने अपने तीनों रूपकों की रचना तथा उनका प्रयोग किया था। उन्होंने एक जागरूक कवि के रूप में अपने सामाजिक दायित्व का वहन करने के लिए अपनी रचनाओं में कल्पनागत अंश को अनुस्यूत कर उसमें समानाधिकार, सहशिक्षा, अस्पृश्यता, सौहार्द्र, राजाधिकार, महिलाधिकार, बालकाधिकार आदि मानवाधिकारपरक अनेक समसामयिक विषयों को भी वस्तुध्वनि के रूप में प्रस्तुत कर दिया है जो उनकी उदात्त चेतना का प्रतिनिधित्व करता है।

भवभूतिविरचित उत्तररामचरित में मानवाधिकार विवेचन के सन्दर्भ में सर्वप्रथम उत्तररामचरित का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। उत्तररामचरित भवभूतिविरचित सात अङ्कों का नाटक है जिसमें शीर्षक के अनुरूप राम के जीवन का उत्तर अथवा उत्तम भाग वर्णित है। इसका मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण है। उत्तरकाण्ड का यह कथानक कतिपय साम्य के साथ पद्मपुराण के पाताल खण्ड में भी प्राप्त होता है।[१२] उत्तररामचरित का कथानक रामराज्यभिषेक के बाद लोकापवाद के कारण सीतापरित्याग से प्रारम्भ होता है किन्तु इसका अन्त वाल्मीकि रामायण के समान दुःखान्त न होकर सुखान्त है जिसमें नायक तथा नायिका का समागम हो जाता है। इस प्रकार यह शृङ्गाररसपर्यवसायी नाटक है।

१२. पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय १–६८

उत्तररामचरित में भवभूति ने तत्कालीन समाज के उन्नयन, मानवाधिकार–विषयक विवेचन तथा भारतीय संस्कृति की उदात्तता के संरक्षण के लिए वस्तु–विन्यास की दृष्टि से दो नीतियाँ अपनायी हैं। कहीं उन्होंने मूलकथा में घटनाक्रम की दृष्टि से परिवर्तन किया है तो कहीं अभिप्रेत सन्देश के सम्प्रेषण के लिए कल्पना का आश्रय लिया है। इस दृष्टि से चित्रवीथीदर्शन, वासन्ती, आत्रेयी, तमसा, मुरला नामक पात्रों की योजना, सीता की छायारूप में प्रस्तुति, वाल्मीकि आश्रम में दण्डायन तथा सौधातकि नामक वटुकों की प्रस्तुति, गर्भाङ्क की योजना, नायक–नायिका का सम्मिलन आदि प्रसङ्ग यदि कल्पनाजनित कथानक के अन्तर्गत आते हैं तो सीतापरित्याग, लवकुशजन्म, शम्बूकवध, लवणासुरवधार्थ शत्रुघ्न का मथुरागमन, अश्वमेध आदि प्रसङ्ग मूलकथा में घटनाक्रम के परिवर्तनपरक कथानक के अन्तर्गत आते हैं।

पुरुषों के अधिकार

(i) क्षत्रिय

(क) राम–पतिरूप में

उत्तरराचरित में मानवाधिकारविषयक विवेचन के सन्दर्भ में यहाँ उन–उन प्रसङ्गों का निरूपण किया जा रहा है जो पुरुषाधिकार, राजाधिकार, महिला–अधिकार, बाल–अधिकार सहशिक्षा, अस्पृश्यता आदि विषयों के रूप में मानवाधिकार के प्रकाशक हैं। इस शृङ्खला में उपर्युक्त विषयों का प्रतिपादन यदि उत्तररामचरित के अङ्कक्रम से किया जाय तो सर्वप्रथम प्रथम अङ्क में प्रदर्शित चित्रवीथीदर्शन नामक प्रसङ्ग का परिगणन किया जा सकता है। यह भवभूति का मौलिक कल्पनाजनित प्रसङ्ग है। इस चित्रावलिदर्शन की योजना के द्वारा भवभूति ने रामविवाह से लेकर राज्याभिषेक तक उस विस्तृत इतिवृत्त को एक सूत्र में बाँधा है जो सीतानिर्वासनविषयक घटना की भूमिका के रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस चित्रवीथीदर्शन की योजना द्वारा भवभूति ने जहाँ राम और सीता के परस्पर प्रेम, उनके व्यवहार की शिष्टता तथा सौमनस्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति में दाम्पत्य जीवननिष्ठ अद्वैत प्रेम की गम्भीरता को अङ्कित किया है[13] वहीं सीतानिर्वासनविषयक भावी विरह की असहनीयता को भी अत्यन्त तीव्र बना दिया

---

१३. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितम्
भद्रन्तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते।। (उत्तररामचरित, १.३९)

है।[१४] मानवाधिकार की दृष्टि से उपर्युक्त प्रसङ्ग में अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त (Natural Theory of Rights) के अन्तर्गत प्रसन्नता के अधिकार को प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त का उद्घोष है कि, 'परमात्मा ने सभी मनुष्यों को समान पैदा किया है।.................. परमात्मा ने सभी को कुछ अविभाज्य अधिकार प्रदान किये हैं। इनमें मुख्य अधिकार हैं–जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार और प्रसन्नता का अधिकार।''[१५] भवभूति द्वारा प्रतिपादित इस चित्रवीथीप्रसङ्ग की उपात्तता पर तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि भवभूति द्वारा केवल राम तथा सीता के दाम्पत्यप्रेम के सन्दर्भ में ही **''अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं''** नामक प्रस्तुत पद्य की रचना नहीं की गयी है अपितु तत्कालीन सहृदयसामाजिकरूप अन्यसन्निधि अथवा बोधव्य वैशिष्ट्य की दृष्टि से भी इस पद्य की महत्ता है। सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भवभूतिकालीन भारत विभिन्न छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त था। उस समय इन राज्यों के परस्पर विद्वेष, आक्रमण, लोलुपता आदि के कारण पारिवारिक तथा सामाजिक मानवाधिकार का हनन हो रहा था, जिससे परिवार तथा समाज ही नहीं, राष्ट्र तथा देश की शान्ति और उसका विकास भी समाप्त हो रहा था। उसका सांस्कृतिक ढाँचा चूर–चूर हो रहा था। ऐसे में उस सांस्कृतिक तथा सामाजिक मानवाधिकारों के प्रति जागरूक महाकवि भवभूति ने अपने सामाजिक दायित्व का निर्वहण करने के लिए ही इस पद्य की रचना की थी जो एक ओर परिवार की महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में सुमानुष के अद्वैत तथा कल्याणकारी भाव अर्थात् दाम्पत्य प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करता है तो दूसरी ओर जीवन को आशावान् तथा उत्साहयुक्त करते हुए समाज में आत्मिक बल की वृद्धि करता है।

(ख) राम–राजारूप में

चित्रवीथीदर्शन की भूमिका में भवभूति ने मुखसन्धिगत तथा प्रतिमुखसन्धिगत उन सभी बीजाङ्कुरों का सङ्केत कर दिया है जो कथा के विकास की दृष्टि से अगामी अङ्कों में प्रस्फुटित किया जाने वाला है। द्वादश–वर्षीय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए गुरुजनों का ऋष्यशृङ्ग के आश्रम की ओर प्रस्थान राम को सीता के त्याग के कठोर निर्णय के लिए स्वतन्त्र कर देता है तथा अष्टावक्र द्वारा दिया गया गुरु वशिष्ठ का सन्देश 'नये राजा' को कर्त्तव्यपालन (प्रजानुरञ्जन) के लिए सब कुछ त्याग देने के लिए प्रेरित करता है। मानवाधिकार की दृष्टि से यह

---

१४. विरम विरमातः परन्न क्षमोऽस्मि।
प्रत्यावृत्तः स पुनरिव मे जानकीविप्रयोगः।। वही १.३३ (उत्तरार्द्ध)

१५. मानवाधिकार एवं कर्त्तव्य, पृ. ८१

प्रसङ्ग जहाँ एक ओर राजा की कर्त्तव्यनिष्ठा तथा उनके प्रजानुरञ्जन का प्रकाशन करता है, वहीं दूसरी ओर प्रकारान्तर से प्रजा के अधिकारों को भी द्योतित करता है।

वस्तुतः प्रजा का सुख ही राजा का सुख है। इस आदर्श का वर्णन करते हुए कौटिल्य का कथन है कि प्रजा का सुख ही राजा का सुख है तथा प्रजा का हित ही उसका हित होता है, राजा का प्रिय और हितकारी कोई भी कार्य प्रजा से पृथक् नहीं होता–

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।[१६]

भवभूति के राम प्रजा के सर्वविध सन्तोष तथा प्रसन्नता (रञ्जन) रूप अधिकार के लिए कृतसङ्कल्प हैं–

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।[१७]
सताङ्केनापि कार्येण लोकस्याराधनं परम्।
तत्प्रतीतं हि तातेन माञ्च प्राणांश्च मुञ्चता।।[१८]

यह राम के चरित्र की पराकाष्ठा है जिसमें स्नेह, दया तथा सुख का परित्याग ही नहीं है अपितु राम के इन तीनों गुणों तथा सुखमय जीवन का आधार रूप सीता का परित्याग भी सन्निहित है। प्रजा के अधिकारों के लिए भवभूति के राम पूर्णतया समर्पित गुप्तचरों के द्वारा प्रजा के सुख–दुःख की वार्ता तथा अपने प्रति प्रजा के विचारों को जानने का प्रयत्न करते हैं। वह अपने दोषों को जानने के इच्छुक रहते हैं जिससे उनका निराकरण कर प्रजा को सर्वदा सन्तुष्ट तथा सुखी रखा जा सके। उत्तररामचरित में दुर्मुख नामक गुप्तचर से राम का कथन है कि, **"दोषन्तु मे कथञ्चित् कथय, येन स प्रतिविधीयते।"**[१९] भवभूति के राम तो प्रजा के सन्तोष तथा उसकी प्रसन्नता रूप अधिकार के लिए इतने जागरूक तथा सचेष्ट हैं कि दुर्मुख नामक गुप्तचर के द्वारा पौरजानपदों के लिए 'दुर्जन' शब्द का प्रयोग किये जाने पर वह कह उठते हैं कि, "अनिष्ट शान्त हो! अनिष्ट शान्त हो!! भला पौरजानपद दुर्जन हो सकते हैं? इक्ष्वाकुवंश तो प्रजा के द्वारा मनोनीत किया जाता

---

१६. कौटिल्य अर्थशास्त्र, १७.१६.४३
१७. उत्तररामचरित, १.१२
१८. वही, १.१४
१६. वही, १.३६ (के बाद गद्य भाग)

रहा है। यह तो (मेरे) भाग्यवश निन्दा का कारण उत्पन्न हो गया है। सीता की परीक्षा के समय जो विस्मयजनक कार्य हुआ और वह भी सुदूर देश में सम्पन्न हुआ, तो भला कौन उसमें विश्वास करे?"[२०] उत्तररामचरित के संस्कृतटीकाकार जीवानन्द ने भवभूति द्वारा रचे गये प्रस्तुत पद्य के प्रयोजन को द्योतित करते हुए इसकी व्याख्या की है। उनके अनुसार कवि के 'इक्ष्वाकु' शब्द की व्यञ्जकता के माध्यम से यहाँ राज्य तथा प्रजा का वंशगत परस्पर समर्पण, राजा का प्रजा के प्रति अटूट विश्वास तथा प्रजा की राजा के प्रति निष्ठा का प्रकाशन किया गया है।[२१] इस प्रकार राजा का प्रमुख लक्षण प्रजानुरञ्जन है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शिलालेख से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[२२] नृप को राजा की सञ्ज्ञा प्रजा को प्रसन्न (रञ्जन) करने के कारण ही मिली। कालिदास का भी कथन है– **'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'**[२३] अर्थात् इसी विशिष्ट गुण के कारण राजा शब्द सर्वविध रूप से शासक के लिए प्रयुक्त हुआ। इस प्रकार यदि राजा तथा प्रजा के इन अन्योऽन्याश्रित कर्त्तव्यों तथा अधिकारों पर विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि भवभूति ने लोकापवाद को प्रधान बिन्दु बनाकर उत्तररामचरित में प्रजा को अपने विचार प्रस्तुत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता का अवसर प्रदान किया है, जो मानवाधिकार की दृष्टि से सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार के अन्तर्गत आता है।

उत्तरामचरित के प्रथम अङ्क में ही भवभूति के कल्पनाप्रसूत कथानक के रूप में सीता के दोहद की तत्काल पूर्ति करने के लिए दिया गया अरुन्धती तथा माताओं

---

२०. रामः—शान्तं पापम्! शान्तं पापम्!! दुर्जना नाम पौरजानपदाः?
इक्ष्वाकुवंशोऽभिमतः प्रजानां जातञ्च दैवाद् वचनीयबीजम्
यच्चाद्भुतं कर्म विशुद्धकाले प्रत्येतु कस्तद् यदि दूरवृत्तम्।। (वही, १.४३ के बाद गद्य भाग) तथा १.४४

२१. इक्ष्वाकोः राजर्षेः वंशः प्रजाश्रयभाजनम् अन्ववायः तत्प्रभृति मदवधिरित्यर्थः प्रजानाम् प्रकृतिपुञ्जानाम् अभिमतः प्रेयान्। पौरजानपदाः कदापि मनसा इक्ष्वाकुवशीयानाम्। अशुभं नाशंसन्ते। सुचिरुनक्ताः ते तेषु राजसु इति भावः। उत्तररामचरित (जीवानन्द टीका), पृ. ७५

२२. (क) अभवद् भुवि चक्रपालितो(ऽ)सा विति नाम्ना प्रथितः प्रियो जनस्य। स्कन्दगुप्त जूनागढ़ अभिलेख, पद्य १६ (पूर्वार्द्ध)
(ख) यो लालयामास च पौरवर्गान (स्वस्यैव) पुत्रान् सुपरीक्ष्य दोषान्।। (वही, पद्य २२ उत्तरार्द्ध)

२३. यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्।। (रघुवंश ४.१२)

२४. इदञ्च भगवत्यारुन्धत्या देवीभिः शान्तया च भूयो भूयः सन्दिष्टं यः कश्चिद् गर्भदोहदोऽस्या भवति, सोऽवश्यमचिरान्मानयितव्य इति। (उत्तररामचरित १.१० के बाद गद्य भाग)

का आदेश[25] और गम्भीर वनराजियों में भ्रमण करने तथा भगीरथी के पवित्र, निर्मल, शीतल जल में 'अवगाहन' करने का सीता का दोहद[25] महिला अधिकारों के प्रति नाटककार की जागरूकता को प्रकाशित करता है। कठोरगर्भा सीता के परित्यागविषयक प्रधान कथावस्तु के सन्दर्भ में सीता की दोहदविषयकचर्चा भवभूति की सहृदयसामाजिकता तथा भावयित्री प्रतिभा की परिचायिका है। कवि ने इस प्रसङ्ग के द्वारा जहाँ एक ओर मातृत्व की महत्ता को उजागर किया है वहीं महिला तथा नवागन्तुक शिशु के स्वस्थ मनोविज्ञानगत अधिकारों को भी प्रस्तुत किया है।

(ii) शूद्र–शम्बूक वर्णन

वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड को अपनी रचना के प्रधान प्रतिपाद्य के रूप में ग्रहण करके भी नाटकीय आवश्यकताओं के अनुसार भवभूति ने उसमें पर्याप्त परिवर्तन किया है जिससे उत्तररामचरित में न केवल कथानकगत नवीनता तथा साहित्यशास्त्रीय वैशिष्ट्य का समावेश हुआ है अपितु तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के उपायों तथा मानवाधिकारों के निर्वाहक के रूप में भी उनकी अभिव्यञ्जना हुई है। इस सन्दर्भ में द्वितीय अङ्क में निबद्ध शम्बूक–वध, तृतीय अङ्क में निबद्ध छायासीता तथा चतुर्थ अङ्क में निबद्ध वाल्मीकि आश्रमविषयक वृत्तान्तों का परिगणन किया जा सकता है। शम्बूकवृत्तान्त वाल्मीकिरामायण तथा उत्तररामचरित दोनों में प्राप्त होता है किन्तु दोनों के प्रस्तुतीकरण, उसके घटनागत पौर्वापर्य तथा उनके प्रयोजन में पर्याप्त अन्तर है। वाल्मीकिरामायण में ब्राह्मण–पुत्र की अकाल मृत्यु तथा राज्य में अधर्म की आशङ्का के कारण के रूप में शम्बूक नामक शूद्र तपस्वी की सूचना नारद द्वारा दी गयी है[26] जबकि उत्तररामचरित में यह सूचना

---

२५. जाने, पुनरपि प्रसन्नगम्भीरासु वनराजिषु विहृत्य पवित्रनिर्मलशिशिरसलिलां भगवतीम्भागीरथीमवगाहिष्यते इति। (वही १.३३ के बाद गद्य भाग)

२६. तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञो दीनस्य नारदः।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यमृषीणां सन्निधौ नृपम्।।
X X X
भविष्यच्छूद्रयोन्यां हि तपश्चर्या कलौ युगे।
अधर्मः परमो राजन्द्वापरे शूद्रजन्मनः।।
स वै विषयपर्यन्ते तव राजन्महातपाः।
अद्य तप्यति दुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्ययम्।।
X X X
स त्वं पुरुषशार्दूल मार्गस्व विषयं स्वकम्।
दुष्कृतं यत्र पश्येथास्तत्र यत्नं समाचर।। (वाल्मीकिरामायण ७.७४.७, २६, २७, ३१)

आकाशवाणी के माध्यम से दी गयी है[२७] वाल्मीकिरामायण में सूचना प्राप्त होने पर राम शम्बूक–वध के लिए जाते हैं तथा कार्य सम्पन्न होने पर और उनके अयोध्या लौटने पर अश्वमेध की तैयारी होती है जबकि उत्तररामचरित में यह प्रसङ्ग सीतापरित्याग के बारह वर्ष पश्चात् अश्वमेघ आरम्भ होने पर, यज्ञ का अश्व छोड़ दिये जाने पर तथा अश्व के रक्षकों के नेतृत्व के लिए लक्ष्मणपुत्र चन्द्रकेतु के प्रस्थान किये जाने के मध्य आता है। वाल्मीकिरामायण में शम्बूकवृत्तान्त का बहुत उपवृंहण नहीं है। राम शम्बूक द्वारा उसकी तपस्या का कारण जानकर तुरन्त उसका वध कर देते हैं जबकि भवभूति ने इस कृति में राम द्वारा धूमपायी तपस्वी शूद्र शम्बूक का केवल वध ही नहीं कराया है अपितु राम के ही मुख से उसके अभ्युदय तथा कल्याण की कामना भी करायी है–

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याश्च सम्पदः।
वैराजा नाम ते लोकास्तैजसाः सन्तु ते शिवा।।[२८]

यहाँ शम्बूक–वध प्रसङ्ग से यह सिद्ध होता है कि उस समय समाज में शूद्र को तपस्या करने का अधिकार नहीं था तथा यदि कोई शूद्र ऐसा करता था तो इसे राजा का दोष समझा जाता था क्योंकि उस समय यह मान्यता थी कि राजा के दोष के बिना प्रजा की अकाल–मृत्यु नहीं हो सकती। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भवभूति ने अनधिकार कर्म करने के फलस्वरूप शम्बूक का वध तो करा दिया है किन्तु उसके बाद राम द्वारा उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी करा दी है। भवभूति द्वारा यह कथावस्तुगत मौलिक उपबृंहण साभिप्राय है। भवभूति के नायक दिव्यादिव्य राजा राम इक्ष्वाकुवंशी, धीरोदात्त क्षत्रिय हैं अतः समाज के हित के लिए वह अपने दण्डव्यवस्थागत अधिकारों की दृष्टि से शम्बूक की अनधिकार चेष्टा पर उसका वध करके तथा सामाजिक अनाचार को दूर करके जहाँ अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं वहीं स्वयं सात्त्विकवृत्ति–प्रधान होने के कारण शुद्ध अन्तःकरण राम तपस्या जैसे पूतकर्म के परिणामस्वरूप उसे ब्रह्मलोक भी प्राप्त करा देते हैं। शूद्र शम्बूक द्वारा तपस्या के रूप में अधिकार चेष्टा को उदात्त राजा राम जाति अथवा वर्ण के सन्दर्भ

---

२७. आत्रेयी–ततो न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्युः सञ्चरतीत्यात्मदोषं निरूपयति करुणामये रामभद्रे सहसैवाशरीरिणी वागुदचरत्–
शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तप्यते तपः।
शीर्षच्छेद्यः स ते राम तं हत्वा जीवय द्विजम्।। (उत्तररामचरित २.७ के बाद गद्य भाग) तथा २.८

२८. वही २.१२

में न स्वीकार कर उसे आध्यात्मिक उन्नति के सोपान के रूप में एक स्वतन्त्र पवित्र कर्म मानते हैं। प्रतीत होता है कि उत्तररामचरित में भवभूति ने कथानक की ऐसी प्रस्तुति के द्वारा जहाँ एक ओर दिव्यादिव्य नायक राम की संवेदनशीलता तथा उदात्तता को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है वहीं दूसरी ओर तत्कालीन समाज में शूद्र के अधिकार के लिए रचनात्मक कार्य करने का भी प्रयास किया है। भवभूति के राम अपने दोष के निवारण के लिए शम्बूक–वध रूप कार्य को पूरा कर देने पर भी किसी प्रकार का आत्मिक आनन्द नहीं अनुभव करते हैं।[२९] परमात्मरूप राम शम्बूक को उसकी तपस्या के परिणामस्वरूप दिव्यपुरुषत्व प्रदान करते हैं जिससे उसे राम के ब्रह्मत्व का अभिज्ञान हो जाता है और वह कह उठता है कि, **''स्वामिन्! युष्मतत्प्रसादादेवैष महिमा किमत्र तपसा? अथवा महदुपकृतं तपसा।''**

अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने भूतनाथः शरण्यो
मामन्विष्यन्निह वृषलकं योजनानां शतानि।
क्रान्त्वा प्राप्तः स इह तपसां सम्प्रसादोऽन्यथा तु
क्वायोध्यायाः पुनरुपगमो दण्डकायां वने वः।।[३०]

शम्बूक के ब्रह्मलोक की प्राप्ति के माध्यम से शूद्रों के अधिकार के लिए प्रयुक्त वस्तु ध्वनिमूलक कथावस्तु में भवभूति वैदिक संस्कृति से पर्याप्त प्रभावित हैं। ऋग्वेद[३१] तथा अथर्ववेद[३२] स्पष्ट घोषणा करता है कि न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। सभी भ्राता सौभाग्य के लिए साथ–साथ बढ़ते हैं।

मनुस्मृतिकार ने यद्यपि ब्राह्मण को उच्च तथा शूद्र को निम्न स्थान प्रदान किया है[३३] तथापि उनका यह भी कथन है कि वित्त, बन्धु, वय, कर्म और विद्या नामक इन

---

२९. हे हस्त दक्षिण! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्न–
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते।। (उत्तररामचरित २.१०)

३०. उत्तररामचरित २.१२ (के बाद गद्य भाग) तथा २.१३

३१. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। (ऋग्वेद ५.६०.५)

३२. प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।

३३. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषमनसूयया।। (मनुस्मृति १.१६)

पाँचों गुणों की अधिकता जिस वर्ण में होगी, वही मान्य होगा। इस प्रकार दश दशक में पहुँचा हुआ शूद्र भी मान्य होगा।[३४] भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर शूद्र वर्ण के व्यक्तियों ने भी ऋषित्व के समान महत्त्वपूर्ण पद को प्राप्त किया है। डॉ० राधाकृष्णन् का मत है कि बहुत से ऋषि जिनकी सभी पूजा करते थे, निम्न जातियों में से थे। महर्षि वशिष्ठ का जन्म वेश्या के गर्भ से ज्ञात हुआ है, व्यास माहीगीर के पुत्र थे और पराशर की माता चाण्डाल जाति से थीं।[३५] उस प्रकार वैदिक संस्कृति तथा स्मृतियों के अनुसरण पर भवभूति ने शम्बूक वृत्तान्त के माध्यम से तत्कालीन समाज में शूद्रों के अधिकार को मान्यता दिलाने का जो प्रयास किया है तथा तपःकर्म से शूद्र को जो ब्राह्मणत्व तथा ब्रह्मत्व की प्राप्ति करायी है वह भवभूति के सामाजिक दायित्व तथा समभाव के साथ शान्तिव्यवस्थानिष्ठ उनकी सचेष्टता को द्योतित करता है।

महिलाओं के अधिकार

उत्तररामचरित में ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं जो महिलाओं के अधिकार का भी प्रतिपादन करते हुए प्रतीत होते हैं। शुद्ध विष्कम्भक नामक अर्थोपक्षेपक के माध्यम से वनदेवता वासन्ती तथा तपस्विनी आत्रेयी का वार्तालाप समाज तथा देश में ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के सम्माननीय स्थान, सात्त्विक व्यवहार तथा अतिथि सत्कार आदि अधिकारों को तो अभिव्यक्त करता ही है, तत्कालीन समाज में सहशिक्षा[३६] विषयक मानवाधिकार के उदाहरण को भी प्रस्तुत करता है। वाल्मीकि आश्रम में अतिदीप्त प्रज्ञावान् लवकुश के साथ आत्रेयी का वेदान्ताध्ययन[३७] जहाँ सहशिक्षा तथा स्त्रीशिक्षा के माध्यम से तत्कालीन स्वस्थ समाज का प्रकाशन करता है, वहीं

---

३४ (क) वित्तं बन्धुर्वयः कर्मविद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।।
पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः।। (मनुस्मृति २.१३६, १३७)
(ख) शूद्रोऽपि दशमीमवस्थां नवत्यधिकां गतो द्विजन्मनामपि मानार्हः। शतवर्षाणां दशधा विभागे दशम्यवस्था नवत्यधिका भवति।। (वही, २.१३७ कुल्लूकभट्टटीका), पृ. ५८

३५. प्राचीन भारतीय संस्कृति कला राजनीति धर्म दर्शन, पृ. २४६ में उद्धृत

३६. तदनन्तरं गर्भैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय गुरुणा त्रयीविद्यामध्यापितौ न त्वेताभ्यामतिदीप्तिप्रज्ञाभ्यामस्मदादेः सहाध्ययनयोगोऽस्ति। (उत्तररामचरित २.३ के बाद गद्य भाग)

३७. अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि।। (वही २.३)

ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के उपनिषद् वैदुष्य की चर्चा के माध्यम से प्रकारान्तर से उनके उपनयन संस्कार से संस्कृत हाने का भी सङ्केत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन सामाजिक उन्नयन तथा महिलाओं के अधिकार के प्रति जागरूक कवि ने सहशिक्षा तथा महिलाओं के वेदाध्ययनविषयक प्रसङ्गों को उत्तररामचरित में कल्पनाप्रसूत अंश के रूप में अनुस्यूत किया है।

'छाया अङ्क' के रूप में प्रसिद्ध उत्तररामचरित का तृतीय अङ्क अपनी अन्वर्थता को सिद्ध करते हुए सीता को छाया के रूप में प्रस्तुत करता है। यद्यपि वाल्मीकिरामायण में यह अंश नहीं है तथापि भवभूति ने सीता की छायारूप प्रस्तुति के लिए एक सम्पूर्ण अङ्क रच डाला है। वास्तव में महिला अधिकार की दृष्टि से इस अङ्क का विशेष महत्त्व है। इक्ष्वाकुवंश की कुलदेवता गङ्गा के प्रभाव से सीता की छायारूप प्रस्तुति के द्वारा भवभूति ने इक्ष्वाकुवंश की पुत्रवधू के सम्मान तथा स्वाभिमान की रक्षा करायी है[३८] इस अङ्क के द्वारा कवि ने सीता को जहाँ अदृश्य रहकर भी अपने मूर्च्छित पति (राम) को चेतना–युक्त करने के माध्यम से अपने कर्त्तव्य तथा धर्म का पालन करने का अवसर प्रदान किया हैं, वहीं अपने प्रति राम के अद्वैत प्रेम को भी प्रत्यक्ष देखने का अवसर प्रदान किया है। महिला अधिकार का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है कि क्षत्रिय राजधर्म के निर्वाह के लिए परित्याग किये जाने पर भी सीता मनसा, वाचा, कर्मणा अपने पातिव्रत्य धर्म से पीछे नहीं हटतीं। अतः अपने को कर्मचाण्डाल मानते हुए भवभूति के राम को कहना पड़ता है कि वह कृतघ्न हैं जो उन्होंने सीता के वनवासकाल, वानप्रस्थ जीवन आदि विषयक सभी त्यागों को भुलाकर उनका परित्याग कर दिया है।[३९] यह सौजन्यपूर्ण सीता के पातिव्रत्य का ही प्रताप है कि अरुन्धती, गङ्गा, पृथ्वी आदि अनेक अलौकिक साधनरूप देवताओं की कृपा से पति राजा राम से सीता का समागम हो जाता है।[४०] नारी के अधिकारों के लिए सचेष्ट भवभूति ने नायिकानायकगत इसी समागम के लिए कल्पनाप्रसूत कथानक के रूप में नाटक के अन्त में गर्भाङ्क की योजना की है

३८. उक्तमत्र भगवत्या भागीरथ्या, "वत्से, देवयजनसम्भवे सीते, न त्वामवनिपृष्ठवर्तिनीमस्मत्प्र–भावाद्वनदेवता अपि द्रक्ष्यन्ति किमुत मर्त्याः ?" इति। (उत्तररामचरित ३.३ के बाद गद्य भाग)

३९. अपूर्वकर्मचाण्डालमयि मुग्धे विमुञ्च माम्।
श्रिताऽसि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम्।। (वही १.४६)

४०. (क) ईदृशानां विपाकोऽपि जायते परमाद्भुतः।
यत्रोपकरणीभावमायात्येवंविधो जनः।। (वही, ३.३)
(ख) नियोजय यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे।। (वही ७.२०)

जिसके माध्यम से उन्होंने एक ओर सम्पूर्ण नारी–समुदाय से पातिव्रत्य सामर्थ्य तथा आत्मिक बल का प्रतिपादन किया है तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति में परिवार की महत्ता के माध्यम से सांस्कृतिक अधिकारों को प्रस्तुत किया है।

भवभूति की दृष्टि में नारीत्व के समक्ष यह चराचर जगत् नतमस्तक है। गुरुमाता अरुन्धती भी भक्तिपूर्वक सीता के लिए कहती है–

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं द्रढयति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।।[४१]

भवभूति ने सीता के माध्यम से नारी का कन्या, पत्नी, माता तथा कौसल्या, कैकेयी आदि के माध्यम से नारी के पत्नी तथा माता आदि अनेक रूपों का वर्णन किया है। कन्यारूप सीता अत्यन्त सुशील है। वह समस्त दुःखों को झेलने के लिए समुद्यत रहती है, किन्तु माता–पिता के दुःख को सहन नहीं कर पाती हैं।[४२] इसी प्रकार पत्नी के गरिमामय अधिकार को भवभूति ने स्वतन्त्र पद्य की रचना द्वारा नायक के मुख से कहलवाया है कि सीता घर की लक्ष्मी हैं, पति के नेत्रों के लिए अमृत की आनन्ददायिनी वर्तिका हैं।[४३] सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार की दृष्टि से नारी के लिए माता के रूप में पति के संरक्षण के साथ–साथ मातृत्व–सुख भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके गृहस्थ–जीवन की पूर्णता तथा सार्थकता सन्तानप्राप्ति में है[४४]। इसी प्रकार कौसल्या को जनक द्वारा दशरथ की गृहलक्ष्मी[४५]

---

४१. उत्तररामचरित ४.११

४२. जानाम्यार्यपुत्र जानामि। किन्तु सन्तापकारिणी बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति। (वही १.८ के बाद गद्य भाग)

४३. इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो–
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणे मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः।। (वही १.३८)

४४. अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्त्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते।। (वही ३.१७)

४५. आसीदियं दशरथस्य गृहे यथा श्रीः
श्रीरेव वा किमुपमानपदेन सैषा। (वही ४.६)

कहलाकर तथा अरुन्धती द्वारा उनके लिए 'पुरन्ध्री' शब्द[46] का प्रयोग कर भवभूति ने नारी के पारिवारिक तथा सामाजिक अधिकार को अभिव्यक्त किया है। कल्पनाजन्य नारी–पात्रों के अन्तर्गत वासन्ती, आत्रेयी के अतिरिक्त सीता की अभिन्न सखी के रूप में तमसा तथा लोपामुद्रा की सन्देशवाहिका के रूप में मुरला की योजना महिला अधिकार के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत हुई है जो दूती तथा सखी के रूप में अपने अधिकार को बड़ी गम्भीरता से सम्पादित करके समाज की सुरक्षा तथा सहायता का कार्य करती हैं। इस प्रकार भवभूति के हृदय में स्त्रीजाति के प्रति अत्यधिक सम्मान है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में छोटे–छोटे राज्यों के कारण जो पारिवारिक विघटन, अस्थिरता, सामाजिक विषमता आदि उत्पन्न हो गयी थी, उनको दूर करने तथा सामाजिक स्थिरता के लिए ही भवभूति ने नारी के सभी रूपों की गरिमामयी प्रस्तुति की है और राष्ट्रीय चेतना के रूप में उनके अधिकारों को अनेक स्थलों पर एक–एक पद्य की रचना के द्वारा महत्ता प्रदान की है जिसके परिणामस्वरूप उनकी रचना कालजयी बनकर आज भी समाज को शिक्षित कर रही है।

आश्रम में सद्यःप्रसूता हरिणी को दिये गये चावल के माड़ तथा उससे बचे हुए माड़ को हरिण को दिये जाने वाले पद्य के प्रसङ्ग से अर्थापत्ति अलङ्कार ध्वनि के[47] द्वारा यही अभिव्यक्त होता है कि जब आश्रम की सद्यःप्रसूता हरिणी के लिए सम्पूर्ण आश्रम इतना अवहितचित्त है तो महिलाओं के अधिकारों के लिए भी आश्रम प्रयत्नशील अवश्य रहा होगा तथा अपने उपदेशों, ज्ञानचर्चा आदि के द्वारा उनको सहायता प्रदान करता होगा।

बालकों के अधिकार

भवभूति ने राम के उत्तरचरित को माध्यम बनाकर केवल राजा के अधिकार, प्रजा के अधिकार, महिला के अधिकार आदि विषयों को ही नहीं प्रस्तुत किया है अपितु वाल्मीकिरामायण की कथावस्तु में पर्याप्त परिवर्तन कर तथा उनमें कल्पनाप्रसूत अंशों को ग्रहण कर बालकों के अधिकार को भी तन्मयता से प्रतिपादित किया है।

---

४६. स राजा तत्सौख्यं स च शिशुजनस्ते च दिवसाः
स्मृतावाविर्भूतं त्वयि सुहृदि दृष्टे तदखिलम्।।
विपाके घोरेऽस्मिन्न खलु न विमूढा तव सखी
पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति।। (वही ४.१२)

४७. नीवारौदनमण्डलमुष्णमधुरं सद्यः प्रसूतप्रिया–
पीतादभ्यधिकं तपोवनमृगः पर्याप्तमाचामति। (उत्तररामचरित ४.१ पूर्वार्द्ध)

(i) वाल्मीकि–आश्रम तथा तापस वटुक

नाटक के चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में मिश्रविष्कम्भक में प्रस्तुत वाल्मीकि आश्रमगत प्रसङ्ग बालकों के अधिकारों के प्रदर्शन का साक्षात् उदाहरण है। यहाँ संस्कृतभाषी दण्डायन तथा प्राकृतभाषी सौधातकि नामक तापसवटुकों के वार्तालाप तथा चतुर्थ अङ्कगत अन्य प्रसङ्गों के माध्यम से जहाँ बालकों की सर्वविध सुरक्षा[४८], उनके पालन–पोषण[४९] तथा उनकी शिक्षा के अधिकारों[५०] को प्रकाशित किया गया है, वहीं आश्रम में मैत्रीभाव, सहिष्णुता, विनम्रता, गुरुसेवा, स्वावलम्बन, पुरुषार्थ, अतिथिसत्कार आदि तत्त्वों के महत्त्व को भी उनके व्यक्तित्व के विकास के रूप में व्यञ्जनात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

(ii) वाल्मीकि–आश्रम तथा क्षत्रिय (लव तथा चन्द्रकेतु)

चतुर्थ अङ्क में ही लव द्वारा राम के अश्वमेध के अश्व को पकड़ने से लेकर चन्द्रकेतु के साथ युद्ध के प्रसङ्ग तक भवभूति द्वारा क्षत्रिय ब्रह्मचारिपदत्व[५१] तथा क्षत्रिय बालकों के कर्त्तव्यों और अधिकारों को उनके उदात्त व्यवहारों द्वारा सूचित किया गया है।[५२] अश्व को पकड़ने के सन्दर्भ में चन्द्रकेतु के सैनिकों द्वारा क्षत्रिय के रूप में केवल राजा राम की वीरता की घोषणा किये जाने पर लव का क्षत्रियत्व उसे अश्व पकड़ लेने की चुनौती देता है। इस अवसर पर क्षत्रिय–धर्म के अनुरूप लव का कथन है कि क्या क्षत्रियत्व केवल व्यक्तिविशेष तक ही सीमित है[५३] वाल्मीकिरामायण में अश्वसंरक्षण का कार्य लक्ष्मण को दिया गया है जिन्होंने

---

४८. यथैते स्थविराः परस्परमेव मिलिताः तथावामपि बटुभिः सह मिलित्वाऽनध्यायमहोत्सवं खेलन्तो मानयावः। (उत्तररामचरित ४.१ के बाद गद्य भाग)

४९. गन्धेन स्फुरता मनागनुसृता भक्तस्य सर्पिष्मतः
कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते। (वही ४.१)

५०. ननु मूर्खाः पठितमेव युष्माभिरपि तत्काण्डम्। किं न पश्यथ प्रत्येकं शतसङ्ख्या कवचिनो दण्डिनो निषङ्गिणश्च रक्षितारः? (वही ४.२६ के बाद गद्यभाग)

५१. चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः।। (वही ४.२०)

५२. लव–अतीव नाम शोभसे रथस्य एव! कृतं कृतमत्यादरेण!
चन्द्रकेतुः–तर्हि महाभागोऽप्यन्थ्यं रथमलङ्करोतु।
लवः–आर्य, प्रत्यारोपय रथोपरि राजपुत्रम्। को विचारः स्वेषूपकरणेषु? किन्त्वरण्यसदः वयमनभ्यस्तरथचर्याः। (वही ४.२७ के बाद गद्य भाग)

५३. भो भोः तत्किमक्षत्रिया पृथ्वी यदेवमुद्घोष्यते। (वही ४.२७ के बाद गद्य भाग)

सफलतापूर्वक इस कार्य का निर्वहण भी किया है।[५४] इस सन्दर्भ में पद्मपुराण में यज्ञीय अश्व के लिए लव तथा भरतपुत्र पुष्कल में युद्ध का वर्णन हुआ है।[५५] जबकि उत्तररामचरित में भवभूति ने यज्ञीय अश्व के संरक्षण का दायित्व लक्ष्मणपुत्र चन्द्रकेतु को देकर कथानक में मौलिक परिवर्तन के द्वारा राम को अप्रिय प्रसङ्ग से बचाकर मानवाधिकारों की रक्षा की है अन्यथा पिता–पुत्र में युद्ध का प्रसङ्ग काव्य के माध्यम से समाज को विपरीत सन्देश प्रेषित करता। इस युद्ध में तो दोनों बालक क्षत्रिय हैं तथा समवयस्क हैं। इस प्रकार भवभूति ने कथानक में मुखसन्धि से निर्वहण सन्धि तक वर्णाश्रमव्यवस्था, राजाधिकार, बालशिक्षा, सुरक्षा आदि मानवाधिकार से सम्बद्ध अनेक समसामयिक विषयों का निरूपण कर दिया है। उन्होंने प्रस्तुत नाटक में वाल्मीकि आश्रम के वटुकों तथा लवकुश के माध्यम से ब्रह्मचर्याश्रम, राजा जनक के माध्यम से गृहस्थाश्रम, राम, सीता तथा लक्ष्मण के वनवास के माध्यम से वानप्रस्थ आश्रम तथा ब्रह्मवादिनी, आत्रेयी, तमसा, मुरला के माध्यम से संन्यासाश्रम के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों को अनुस्यूत किया है। उत्तररामचरित का कथानक तथा इसके पात्र यदि एक ओर आदर्शों तथा कर्त्तव्यों की शिक्षा देते हैं तो उसके मूल स्रोत से परिवर्तित तथा कल्पनांश–जनित कथानक तथा पात्र प्राकृतिक, नैतिक, वैधानिक, नागरिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक रूप में विभिन्न मानवाधिकारों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

व्यावसायिक जातियों के अधिकार

राजाधिकार, महिलाधिकार, बालकों के अधिकार के अतिरिक्त व्यावसायिक जातियों के अधिकारों के प्रति भी भवभूति सचेष्ट दिखलाई पड़ते है। उत्तररामचरित में व्यावसायिक जातियों के अन्तर्गत भवभूति ने अर्जुन नामक चित्रकार[५६] निषादराज[५७] आदि का भी वर्णन किया है। यत्र–तत्र रथ[५८],

---

५४. एवं सुविहितो यज्ञो ह्यवर्तत।
लक्ष्मणेनाभिगुप्ता सा हयचर्या प्रवर्तत।।
ईदृशं राजसिंहस्य यज्ञप्रवरमुत्तमम्।। (वाल्मीकिरामायण ७.९२.६)

५५. पद्मपुराण, पातालखण्ड, अ. ६१, ६२

५६. लक्ष्मणः–जयत्वार्यः। आर्य, अर्जुनेन चित्रकरेणास्मदुपदिष्टमार्यस्य चरितमस्यां वीथिकायामभिलिखतम्। (उत्तररामचरित १.१२ के बाद गंद्याश)

५७. रामः–देवि, वैदेहि!
इङ्गुदीपादपः सोऽयं शृङ्गवेरपुरे पुरा।
निषादपतिना यत्र स्निग्धेनासीत् समागमः।। (वही १.२१)

५८. रामः–वत्स, अचिरादेव सम्पादनीयो दोहद इति सम्प्रत्येव गुरुभिः सन्दिष्टम्। तदस्खलितसुसम्पातं रथमुपस्थापय। (वही १.३३ के बाद गद्य भाग, पृ. ५६)

माला[५९], चर्म[६०], मूर्ति[६१] आदि के उल्लेखों के माध्यम से भवभूति द्वारा उत्तररामचरित में प्रकारान्तर से इनका निर्माण करने वाली जातियों की महत्ता का भी प्रतिपादन किया गया है जो उनकी सामाजिक दूरदर्शिता तथा उनके समानाधिकारविषयक मानवाधिकार का परिचायक है।

उपसंहार

भवभूति ने उत्तररामचरित की कथा के स्रोत को यद्यपि आदिकाव्य वाल्मीकिरामायण से ग्रहण किया है तथापि उसको नाटक अर्थात् अभिनयात्मक रूप देने के लिए, ऐतिहासिक वृत्त को काव्यात्मकता प्रदान करने के लिए , धीरोदात्त राम को दिव्यादिव्य नायक के रूप में प्रस्तुत करने के लिए (अङ्गीरस की पुष्टि के लिए), कार्यरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए तथा तत्कालीन समाज में नई चेतना और जागरूकता का सन्देश देने के लिए यत्र–तत्र यथेष्ट परिवर्तन किया है जो एक ओर उनके उत्तररामचरित के नाट्यशास्त्रीय वैशिष्ट्यों को प्रदर्शित करता है तो दूसरी ओर स्वस्थ समाज के निर्माण के उपायों के रूप में मानवाधिकार, विश्वशान्ति आदि विषयों को भी प्रस्तुत करता है। अपने इस भाव को भवभूति ने अन्तः साक्ष्य के रूप में भरतवाक्य के माध्यम से अभिव्यक्त भी किया है। उनका कथन है कि यह रामकथा कल्याणकारिणी, पापहारिणी, मङ्गलकारिणी तथा मनोहारिणी है। प्रबुद्धजन नाटक के रूप में अभिनीत इस कथा का पर्यालोचन करें अर्थात् जिस प्रकार रामायण की कथा पापापहारिणी, कल्याण करने वाली, मङ्गलमयी तथा मनोहरा है, उसी प्रकार उत्तररामचरित की कथा भी संसार का कल्याण करे, यही नाटकीय पात्रों की ओर से शुभकामना है।[६२]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि भवभूति ने राम के उत्तरचरित को नाटक के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसमें सामाजिक चेतना की दृष्टि से जो परिवर्तन

---

५९. अयम्बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः। (वही १.३३ उत्तरार्द्ध)

६०. चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्। (वही ४.२० पूर्वार्द्ध)

६१. आत्रेयी–हिरण्यमयी सीताप्रतिकृतिर्गृहिणी कृता।। (वही २.६ के बाद गद्य भाग, पृ. ६७)

६२. पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा
माङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च।
तामेनां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्।। (उत्तररामचरित ७.२१)

किये हैं, वे विषय जहाँ एक ओर भवभूति को एक गम्भीर तथा संवेदनशील रचनाकार के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वहीं उन्हें भारतीय संस्कृति के पोषक, तत्कालीन समाज के उन्नायक तथा मानवाधिकार के प्रति जागरूक संरक्षक के रूप में भी प्रस्तुत करते है। केवल उत्तररामचरित ही नहीं, वस्तुतः भवभूति की सभी रचनायें तत्कालीन सामाजिक विषमताओं को दूर करने के लिए कटिबद्ध हैं तथा व्यञ्जना द्वारा सामाजिक उन्नयन तथा मानवाधिकार को अभिव्यक्त करती हुई ये समय की दीर्घकालिक अनन्तता में भी जीवित हैं। इस सन्दर्भ में भवभूति ने स्वयं अपने कर्तृत्व की सार्थकता की गर्वोक्ति भी की है।[63]

***

---

६३. ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।। (मालतीमाधव १.८)

Dr. Renu Pant
Lucknow

Reflection of Women's Rights in Sanskrit Literature

The term 'human rights' was first used by philosopher Henry David Thoreau in his treatise 'Civil Disobedience', a work which had greatly influenced modern thinkers and leaders like Leo Tolstoy, Mahatma Gandhi and Martin Luther king. Similarly John Stuart Mill[१], an English philosopher and American political theorist Thomas Paine[२] also made use of this term in their respective writings. The concept of modern day human rights, though, was formally defined after the formation of the United Nations' Organisation in the form of the Universal Declaration of Human Rights in 1948. The Declaration holds that "All human beings are born free and equal in dignity and rights. Everyone is entitled to all the rights and freedom without the distinction of any kind such as race, creed, colour, sex, language, religion, political or other opinion, national or social origin, property, birth or other status."

Although women constitute more than half of the world's population, the fight for their rights in today's society has been a slow one. After 30 years of the Declaration, the U.N. General Assembly adopted a Convention to Eliminate All Forms of Discrimination Against Women (CEDAW) in 1979 which is considered as a bill of rights for women. It spells out areas in which women experience discrimination and commits countries to amend their laws construct national gender policies and create institutions to deliver them.

In her famous speech at the Fourth World conference on Women[३] Hillary Clinton declared that 'human rights are women's rights and women's rights are human rights'. The then General Secretary of the United Nations, Kofi Annan also believed that there was no tool for development more effective than the empowerment of women.

Equality, brotherhood of mankind, respect and recognition of other

---

१. Essays on Liberty: Stuart Mill

२. The Rights of Man: Thomas Paine

३. Beijing; ५ September १९९५

persons' rights, forgiveness, non-violence, not forcing one's will on others, helping each other are some of the basic tenets of human rights and these sentiments have been reflected in ancient Sanskrit scriptures at many places. Ṛg-Veda declares--"No one is superior or inferior. All are brothers. All should strive for the interest of all and should progress collectively[४]". Similarly, Yajur-Veda mentions universal friendliness[५].

The Bṛhadāraṇyakopniṣad states, "All should live together in harmony supporting one another like the spokes of a wheel of the chariot connecting its rim and the hub. As no spoke is superior to other, no individual may claim to be considered as superior to others[६]. The famous teaching of Īśāvāsyopaniṣad–not to covet another person's money or property[७] is well known. The essence of *dharma* is summarized 'behave with others in a way you expect them to behave towards you' in the following verse:

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्[८]

Vasudhaiva kuṭumbakam teaches universal brotherhood. Thus mutual respect of each other's rights amongst the members of a society automatically creates an atmosphere where people can live with dignity and strive to achieve a perfect state where everybody has an equal opportunity for his/her development.

Concurrent to the spirit of belief in human rights ancient Sanskrit texts also reflect the rights of women through the ages. This paper tries to highlight some of the rights enjoyed by Indian women from Vedic period to the time of Rāmāyaṇa and Mahābhārata.

First and foremost, a woman in ancient India had the rights to life. Foeticide was considered a sin.[९] There is evidence of some people every preferring daughters. Āśvalāyana Gṛhyasūtra has an interesting observation about the pāṇigrahaṇa samskāra which is an important ritual of the wedding ceremony-

अङ्गुलीरेव स्त्रीकामः। स्त्रीकामो दुहितृकामः इत्यर्थः[१०]

---

४. Ṛg Veda V. ६०.५

५. मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। (Yajur-Veda ३६.१८)

६. .....यथा रथनार्भा च रथनेमौ चाराः सर्वेसमर्पिता एवमेव अस्मिन् आत्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वेदेवाः सर्वेप्राणाः........ Brhadāranyakopnishad. २.५.१५

७. ईशावास्यमिदं सर्वं.......मागृधः कस्यसिवद् धनम्। (Īsāvāsyopanṣād १)

८. Māhābharata

९. Yājnavalkyasmṛti १.७२.२.२३६

१०. Āsvalāyana Gṛhyasūtra १.७.४, P. १५

It means that if a man wants daughters he should hold the bride's hands by her fingers and not by the thumb which was done if he desired only sons.[११] Āpastamba Gṛhyasūtra also recommends a similar procedure.[१२] Obviously, there was no gender bias unlike the modern times. Both kunti and Sita were cherished by their foster fathers/parents.

In the early Vedic period women had free access to education like men. This is evident from the number of women seers of *Ṛṣikās* associated with many Vedic *sūktas*. The names of Sūryā Sāvitri, Yamī Vaivasvatī, Aditi, Apālā Ātreyī, Agastyasvasā, Urvaśi, Ghoṣā Kakṣivalī, Śaćī, Paulomi, Lopāmudrā, Godhā, Vagambhṛṇī, to name a few, are ample proof that highest level of education was available to women in that period and they had equal opportunity to follow scholarly pursuits.

Upaniṣhads are also testimony to the fact that women had equal right to education, in that era. In the story of Yājñavalkya and Maitreyī in the Bṛhadāraṇyakopaniṣad Maitreyī shows no interest in inheriting her husband's property. Instead like a true seeker (*jijñāsu*) and scholar she wants him to give her the highest knowledge of the *parama tattva or Ātman*.[१३] Similarly, Gārgī's unquenchable thirst for knowledge leads her into a prolonged debate with sage Yājñavalkya which proves that women in that age had full opportunity of developing their skills and could hold their own fort amongst men.[१४]

Like men they also had a right to wear the *yajñopavīta* (sacred thread).[१५] Atharva-Veda also mentions education of women[१६] being conducive to their getting a good husband. Hārīta[१७] mentions two types of women-*brahmāvadinī* and *sadyodvadhūs*. The former studied Vedas after proper *upanayana* and for the latter the ceremony was only done symbolically prior to the marriage. Women studied various disciplines of knowledge like Vedas, philosophy and grammar and some of them went

---

११. गृभ्णामि ते सौभाग्यत्वाय हस्तमित्यङ्गुष्ठमेव गृह्णीयाद्यदि कामयीत पुमांस एव मे पुत्रा जायेरन्निति। (Aśralāyan Grahyasūtra १.७.३ P. १४)

१२. यदि कामयेत् स्त्रीयेव जनयेयमित्यङ्गुलीरेव गृह्णीयात्। (Āpastamba Grahyasūtra २. ४.१२)

१३. Brhadāranyakopaniśad Chapters २,४

१४. Ibid. Chapters ३

१५. पुराकाले कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिठयते। अध्यापनं वा वेदानां सावित्रीवाचनं तथा (Smṛticandrikā: Sanskarkhand, Page ६२)

१६. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (Atharva Veda ११–५–१८)

१७. Smrticandrikā: Samskarkand, page ६२

on to become teachers as well. Mention of the words like *kāśakṛtsna*[१८], *śakalyayanī*[१९], *chātrī*[२०], *upādhyāyā*[२१] in Pāṇini's Aṣṭādhyāyī amply indicate it.

All the saṁskāras were performed for daughters as well as sons although according to some smṛtis the saṁskāras on daughters were performed without the recitation of *mantras* except in the case of marriage.[२२] This shows a gradual decline in their status in a patriarchal society.

In Rāmāyaṇa there is no reference to formal education of women but they are shown to performing *sandhyā*[२३] and *havana*.[२४] Even a *vānara* woman like Tārā is called *mantravit* meaning the one who knows Vedic *mantras*. Likewise in Mahābhārata, women like Kuntī, Draupadī, Gāndhārā etc appear to be well versed in Vedic rituals, religious and ethical matters and often their advice was sought and respected. Gāndhārī is called:

महाप्रज्ञा, बुद्धिमती देवी धर्मार्थदर्शिनी ।
आगमापायतत्त्वज्ञा कच्चिदेषा न शोचति ।[२५]

There are some references in th Ṛg-Veda of women having the right to choose their life partner:

भद्रा वधूर्भवति स्वयं या मित्रं वनुते जनोचित्[२६]

In another hymn mention of king Purumitra's daughter Śundhyuva choosing sage Vimada in her swayamvara occurs.[२७]

---

१८. Vyakarana Mahabhasya (Vol. IV) ४.३१५४ P. २२६

१९. Ibid ४.१.१८

२०. Agarwala VS, Panini Kalina Bharatvarsa २७८

२१. Ibid

२२. तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः (Yājnavalkya Smṛti;) तूष्णीमेताः क्रियास्त्रीणामन्त्रेण तु होमतः । (Gobhila quoted in Smṛticandrikā; Samskārkand P ६१) अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृवशेषतः । संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् । (Manusmṛiti २.६६)

२३. सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी । नदी चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी । (Rāmāyaṇā ५.१४.४६)

२४. सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा । अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रिवित् कृतमङ्गला । (Ibid २.२०.२५)

२५. Mahābhārata: Asramvasikparva २८.५

२६. Ṛg Veda १०.२७.१२

२७. Ibid १०.३६,७

In Mahābhārata Sāvitrī chose her own husband but in due course of time *swayaṁvara* came to be arranged by the father of bride to find a suitable partner for their daughters like in the case of Sītā or Draupadī. Love marriage (gāndharva vivāha) gave women right of choice. Generally such cases were supported by family as in the case of Śakuntalā, Hiḍimbā, Ulūpī, Citrāngadā etc although there were exceptions too. Subhadrā and Rukmiṇī ran away with Arjuna and Kṛṣṇa respectively against wishes of their parents.

In Vedic period a woman, after marriage, had the highest respect of the society. A newly wedded bride was given blessings to rule over the household like a queen.[२९] She had right to wear the sacred thread पत्न्यै व्रतोपनयनम्[३०], she was called a man's better half[३१], his true friend.[३२] As a mother she got highest regards for bringing up of the children especially the sons.

Inside the family the running of the household was a woman's domain. Vedic women did spinning, weaving, sewing, embroidering, grinding the flour cooking and taking part in agricultural activities.[३३] They even fought in the battles. Ṛgveda mentions a women's army.[३४] In fact, they could be called superwomen, a role they have played efficiently throughout the ages till the present time.

In religious sacrifices they participated equally with their spouse. In fact no religious sacrifice could be performed without a wife.[३५] This practice continued in the age of the Epics. In Rāmāyaṇa, Rama, after he exiled Sita, could only perform all sacrifices with a gold statue of Sītā by his side:

---

२८. Mahābhārata: Vanaparva २६४

२९. साम्राज्ञी श्वसुरेमव, साम्राज्ञी श्वश्रवां भव। ननान्दरि साम्राज्ञी भव, साम्राज्ञी अधिदेवृषु। (Ṛg Veda १०.८५.४६,३३)

३०. Taittiriya Brāhman ३.३.३.२

३१. अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी – (Taittiriya Saṁhitā ६.१.८५ Taittiriya Brāhmaṇa ३.३.३.५)

अर्धो हि वा एष आत्मनो यज्जाया – (Śatpath Brāhmana ५.२.१.१०)

३२. पत्नी हि सर्वस्य मित्रम्– (Taittiriya Saṁhitā ६.२.६.२) सखा ह जाया – (Aitareya Brāhmaṇa ७.१३)

३३. Braj Behari Chaube: Sanskrit Vaangmaya ka Itihasa: Vedic Khand P ५६८

३४. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे। (Ṛg Veda ५.३०.६)

३५. अयज्ञीयो वा ह्येष योऽपत्नीकः (Taittiriya Brāhmaṇa २.२.२६)

यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनीभवत्[३६]

Similarly in Mahābhārata a wife is called a man's best friend and the medium of his salvation by helping him to realize the three *puruṣārthas--dharma, artha and kāma*[३७].

Although gradually the status of women had declined by the time of *Smṛtis* and Epics, they had certain well defined rights as wives. They had a right to protection and maintenance. The husband is called 'bhartā' and pati because he protects and look after his wife.[३८] They also had conjugal rights. "It is emphatically laid down that the husband during the proper season (Ṛtu-kāla) must visit his wife and that it would be a sin not to fulfil her wishes then.[३९] According to Yājn̄avalkaya a man should respect a woman's desire in physical relationships and protect her.[४०] Arthaśāstra pronounces that if a women is denied her husband's, company during the proper season (Ṛtu kāla) it amounts to dereliction of duty- तीर्थोपरोधो हि धर्मवध इति कौटिल्यः ।[४१] Women had the right to remarry in the event of their husbands' long absence from home after waiting for the stipulated period or if the husband was dead.[४२]

According to Atri-Smṛti, even if a women got pregnant by some man other than her husband due to rape or other reasons she was considered impure only till the duration of the pregnancy. Such a woman was not to be abandoned by her husband.[४३] Yājn̄avalkya, though, believes in abandoning a wife who is impregnated by some other man.[४४]

In Vedic times widows had the right to remarry. In Ṛg-Veda a widowed woman is invoked to leave her dead husband and choose another on wanting to marry her.[४५] Atharva-Veda too decrees that a

---

३६. Rāmāyana ७.६६.७

३७. अर्धभार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गय भार्या मूलं तरिष्यतः ।।
(Mahābhārata Ādi Parva ७४.४१)

३८. Rāmāyaṇa II २.१७ III ४७

३९. India in the Ramayana Age P १११ Ramayana १.४८.१८

४०. यथाकामीभवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्। स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतस्मृताः ।।
(Yājnavalkyasmṛti १.८१)

४१. Arthāstra: Kautilya २७३

४२. Ibid २७२–२७४

४३. Atri Smrti १६३–१६६

४४. व्याभिचारादृतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधीयते। (Yājnavalkyasmrit १६३–१६३)

४५. हस्तग्राभस्य दिधिषेस्तवेदं पत्युर्जनित्वभभिसंवभूव (Ṛg-Veda १०.१८.८)

widow can remarry to support hereself and her offspring.[४६] This practice, though, came into disfavour in the sūtra and smṛti age. Both Āpastamba[४७] and Manu[४८] condemn remarriage of widows. Kauṭilya[४९] however, gives widows the right to marry with the husband's nearest available kin.

Some widows committed sati like Mādrī in Mahābhārata[५०] but generally a widow had the option of (i) living the life of celibate or (ii) remarry and lead a normal life or (iii) if issueless, she could, with the permission of her elders, perform *'niyoga'* to get son.[५१] Generally, though, the condition of widows was pitiable and even having sons was no guarantee for her happiness.[५२]

Although women were generally dependent on their men folk for maintenance and protection,[५३] they had some form of property rights. At the time of marriage they received ornaments, clothes or other gifts which was called stree *dhana*. kauṭilya has described two types of *stree dhana*--one was called *vṛtti* which was in the form of cash put aside in her name and had to be a minimum of two thousand coins of the currency in vogue. The second was called *aabandhya* which had no limits and could be in the form of gifts and ornaments.[५४] Manu describes six forms of *streedhana*[५५] which include the money and gifts a woman got from her parents, brothers and husband. Yājnavalkya had added three more types viz. *adhivedanik, bandhudatta* and *śulka*.[५६] If a woman died intestate her husband got the *streedhana* but if she had daughters, they had the first right over it.[५७]

---

४६. Atharva Veda ६

४७. Apastamba Dharmsūtra २.६.१३.३.४

४८. Manusmṛti ५.१६२, ६५, ६.४७

४९. इयं नारीपतिलोकं वृणानां......तस्यै प्रजा द्रविणं चेह धेहि (Arthasāstra: Kautillya P २७३–४)

५०. Mahābhārata Ādi Parva १२५–३१

५१. Sharma, Dr. Manju: Sanskrit Mahākāvyn mein Nārī ke Adhikār aur Kartavya ६२

५२. सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचेते (Mahābhārata: Śāntiparva १२.१४८.२)

५३. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्राश्च स्थविरेभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति। (Mahābhārata Anusāsana Parva ४६.१४)

५४. वृत्तिराबन्ध्यं वास्त्रीधनं। परद्विसहस्रा स्थाप्या वृत्तिः। आवन्ध्यानियमः। (Arthaśāstra P २६२)

५५. अध्यग्न्यध्यावाहनिकंदत्त च प्रतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तषड्विधं स्त्रीधनं स्मृतंम् अन्वाधेयं च यददत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्। (Manusmṛti ६.१६४)

५६. Yājnavlkyasmṛti २.१४३–४४

५७. Ibid २.१४५

As far as her share in inheritance is concerned, there is an allusion in Ṛg-Veda[५८] of a spinster spending her whole life in her father's house asking for her share of (property) from her family. In Bṛhadāraṇyakā Upaniṣad Yājñavalkya wanted to divide his property between his two wives.[५९] According to Yājñvalkya, a daughter got the share of her father's property if he had no sons, grandsons or great grandsons.[६०] In the opinion of Vṛddhamanu a lawfully wedded wife who had no sons and who remained loyal to her dead husband could perform *piṇḍa-dāna* for him and got his whole property.[६१] Mahābhārata supports a daughter's right to the property of a man who dies without a son.[६२] Kautilya also gives daughters a share in their father's property in the absence of sons.[६३] In case of no successor, a dead person's property was confiscated by the king after leaving his widow enough money for her sustenance and for the last rites of her husband.[६४]

Although law makers like Maṇu and Yājnavalkya have not given women equal rights with men still they made laws to protect their chastity and honour. Molestation of a maiden and incest is considered to be a great sin by Manu.[६५] Kautilya, likewise, has decreed corporal punishment for rape of a minor girl.[६६] Yājnavalkya has also recommended punishment for various crimes against women. So, to a certain degree, women had some legal rights too.

Thus from the Vedic period to the Epic age there has been considerable decline in the rights and status of women which is reflected in various texts of that era. The violation of human right of both Sītā & Draupadī has been recovered by Vālmīki and Vyāsa. Still they also show

---

५८. Ṛh Veda V. १७.७, Hindi translation Dr Ganga Sahay Sharma P १७३

५९. Brhadāraṇyak Upanisad, Chapter २

६०. पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तया। तत्सुता गोत्रज्ञा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणाः एषामभावे पूर्वस्य धनभागमुत्तरोत्तरः। स्वर्यान्तस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः। (Yājnvalkyasmṛti २.१३५, १३६)

६१. अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्नेव दद्यात् तत्पिण्डं कृतस्नमंशं लभेत च। (Dharma Śāstra ka itihas (II) P. ६०६)

६२. कुमारो नास्ति येषाञ्च कन्यास्तत्राभिशेचय। (Mahābhārata Śānti Parva ३३.४५)

६३. द्रव्यमपुत्रस्य सोदर्या भ्रातरः सह जीविनो वा हरेयुः कन्याश्च। (Arthaśāstra ३.५; Gairola P २७४)

६४. अदायादकं राजा हरेत् स्त्रीवृत्ति प्रेतकार्यवर्जम्। (Ibid P. २७७)

६५. Manusmṛti ११.५८, ६१

६६. Arthaśāstra ४.१२ Gairola P. ३६३

६७. Yājnavalkyasmṛti: Streesangrahaprakaraṇa २.२४

that Indian women did enjoy certain privileges and rights in the society of those times.

In Indian philosophy, the concept of rights is interlinked to the concept of duty. Gandhiji when asked to give his reaction to the Universal Declaration of Human Rights said, "I learnt from my illiterate but very wise mother that rights to be served and preserved came form duty well don. Thus, the very rights to live accrues to us only when we do the duty of the citizenship of the world." Unbridled rights can sometimes lead to irresponsible behaviour and as a result can lead to the downfall of the human race rather than its development. Therefore, the solution lies in following the wisdom of our philosophers in balancing the rights with equal responsibilities and answerability so that an individual man or woman can become a perfect human being.

***

BIBLIOGRAPHY

ACHARYA SAYANA 1988 — Aitareya Aranyaka with Commentary, Ananda Ashram, Poona, India

ACHARYA, Pt. Sriram Sharma (Ed.) 1966 — Bees Smrtiyan (Twenty Smrtis) Sanskrit Sanasthan, Bareilly, India

AGARWALA, Vasudeva Sarana (Ed) 1966 — Paninikalina Bhāratavarsa (A Study of the Cultural Material in Panini's Ashtadhyayi): Chowkhamba Vidyabha -wan, Chowk, Varanasi - 1 India

CHAUBE, Brij Bihari 2000 — Sanskrit Vangmaya ka Brihad Itihas (Hindi) Vol. I Vedas, Uttar Pradesh Sanskrit Sansthan, Lucknow, India.

DWIVEDI, Dr. Kapil Deva 2004 — Vaidika Sahitya Evam Samskriti Vishwavidyalaya Prakashana, ISBN : 81-7124-282 Chowk, Varanasi, India

GAIROLA, Vacaspati (Ed.) 1991 — Arthaśāstra of Kautilya and Canakya Sutra, Chowkhamba Vidyabhwan, Chowk (Behind The Benares State Bank Building), Post Box 1038 Varanasi 1, India

JOSHI, Sri Bhargava Shastri (Ed.) 1991 — Vyākarana Mahābhāsyam: Bhasphyapradeepodyotsamullasitm (Vol. I-IV) Chaukhamba Sanskrit Pratisthan. Delhi India.

KANE Dr. Panduranga Vamana 1973 — Dharma Shastra ka Itihas (History of Dharma Shastra) (Pt. II): Hindi Translation by: Arjun Chaude Kashyapa, Hindi Samiti, Hindi Samsthan, Govt. of U.P., Hindi Bhawan, Mahatma Gandhi Marg,

MILL, JS — Essays on Liberty P.F. Collier & Sons, New York, USA

PAINE, Thomas 1791-92 — The Right of Man, Pikerin & Chatto Publishers, USA.

PANDEY, Dr. Umesh Chandra (Ed.&Tr.) 1971 — Āpastamba Grhyasutra with the Anākūta Commentary of Shri Sudarshanacharya and Notes in Sanskrit by A. Chinnaswami, Chaukhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, India

PANDEY, Dr. Umesh Chandra (Ed.&Tr.) 1971 — Āpastamba Dharmasūtra with Hindi Translation, Chaukhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, India.

PANDEY, Dr. Umesh Chandra (Ed.) 1993 — Yajn̄valkyasmriti with Mitākshara Commentary of Vijn̄aneshwar, Chaukhamba Sanskrit Pratisthan, Delhi, India.

PODDAR, Hanuman Prasad (Ed) 1955-6 — Mahābhārata Volumes, II & VI, With Hindi Translation by Pt. Ram Narain Datt ji Shastri, Gita Press, Gorakhpur, India.

RAGHAVAN, Prof. A Srinivasa 1995 — Bṛhadaranyakopaniṣat With Rangaramanuja's Commentary (English Translation), Vol. I, Academy of Sanskrit Research, Melkote 561431 ISBN 81-85929-29-7

डॉ० उदय नारायण सिन्हा
लखनऊ

संस्कृत—साहित्य में मानवता के दर्शन

विश्व में अनमोल रत्न के रूप में संस्कृत भाषा देदीप्यमान है। इसीलिए केयूर आदि आभूषणों से अधिक इस आभूषण को धारण करना विद्वज्जन—सम्मत है।[1] भारतीय ही नहीं, अपितु पाश्चात्य विद्वान् भी इसकी गरिमा को स्वीकार करते हैं।[2] इसका सबसे बड़ा कारण संस्कृत—साहित्य में मानवता के दर्शन होना है। वेदों ने कल्याणकारी भावना के प्रति अपना मन्तव्य अभिव्यक्त किया है।[3] वातावरण के शुद्धीकरण पर वे मौन नहीं हैं। क्योंकि वे मानव को संरक्षण प्रदान करना चाहते हैं। आदिकवि के मुख से निर्गत प्रथम श्लोक ज्ञानमयी रामायण का मूल बन गया। क्योंकि देववाणी संस्कृत प्रत्येक को अपनी भाषागत शक्ति की मानवीय भावना से ओत—प्रोत करना चाहती है। जिसने इस ज्ञान को प्राप्त किया, वह या तो महर्षि बन गया अथवा देवर्षि और राजर्षि की उपाधि प्राप्त कर गया।

आज अमेरीका जैसे विकसित देश न जाने कितने डालर्स इस महान् भाषा की शोध में इसीलिए लगा रहे हैं क्योंकि वे समझते हैं कि संस्कृत—भाषा वह भाषा है जो कम्प्यूटर द्वारा स्वीकार कर ली गयी तो कम्प्यूटर में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता है।

संस्कृत—भाषा की इस महानता को हम उसके विकास के परिदृश्य में इस प्रकार देख सकते हैं। सहस्त्रों वर्षों से प्राचीन परम्पराएँ व्यक्तियों में पीढ़ियों से एक ही भाषा के माध्यम से एक दूसरे को प्राप्त होती रही हैं। वह भाषा देववाणी संस्कृत—भाषा है। इस प्रकार यह कहने में कोई सङ्कोच नहीं होता कि यह अकेली

---

१. केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।। —नीतिशतकम्, श्लोक १८

२. अथर्ववेद— १.३४.२

३. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शास्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। — रामायण, बालकाण्डम् २.१५

४. डिस्कवरी ऑफ इण्डिया

ऐसी भाषा है जिसके प्रत्येक शब्द में भारतीय संस्कृति के दर्शन किये जा सकते हैं। संस्कृत शब्द का अर्थ पवित्र एवं पावन है जो अप्राकृतिक आचरण एवं अश्लीलता के विपरीत है। इस भाषा का विकास प्रागैतिहासिक ध्वनियों द्वारा किया गया। इसके विकास के अन्तर्गत संश्लेषण और विश्लेषण के पक्षों पर विशेष ध्यान दिया गया। इसमें सभी प्रकार के विकासोन्मुख प्राकृतिक तत्त्वों का समावेश हुआ। इस प्रकार वस्तुतः सभी प्रकार की ध्वनियाँ जो मानव के मुख से निस्सृत हुईं उनका इस भाषा में समावेश देखा जा सकता है। इस भाषा की इसी महानता को देखकर पं० जवाहर लाल नेहरू ने ये उद्‌गार व्यक्त किए, "Sanskrit is a language amazingly rich, efflorescent, full of luxuriant growth of all kinds, and yet precise and strictly keeping within the framework of grammar which Panini laid down two thousand years ago. It spread out, added to its richness, became fuller and more ornate, but always it stuck to its original roots. The ancient Indians attached a great deal of importance to sound, enhanced their writing, poetry or prose had a rhythmic and musical quality. Our modern languages of India are children of Sanskrit, and to it owe most of vocabulary and their forms of expressions."[५] इसी प्रकार एलेन डैनियालो ने लिखा है कि इस भाषा के विस्तार, सार्वभौमिकता अभिव्यक्ति की शक्ति का मूल्याङ्कन इसी तथ्य से किया जा सकता है कि इस भाषा में पृथ्वी के विभिन्न स्वरूपों को बताने के लिए ६५ शब्द हैं, ६७ शब्द इसी प्रकार जल के लिए और वर्षा के लिए २५० शब्द हैं।[६] फ्रासीसी विद्वान् जीन–ला–मी ने संस्कृत भाषा के लिए यह मत प्रतिपादित किया कि यह भाषा कृत्रिम होते हुए भी सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें ध्वनियों का धैर्यपूर्वक शुद्धीकरण एवं सन्तुलन हैः इस प्रकार चाहे वे शारीरिक हों, भावात्मक, बौद्धिक या आत्मिक भाव हों, यह इसको बताने के लिए प्रत्येक पक्ष का सही मूल्याङ्न प्रस्तुत करने में सक्षम है। इस भाषा का यही पक्ष इसे कृत्रिमता से स्वाभाविक रूप प्रदान करता है।[७] इस भाषा के प्रति इस अनुराग का मुख्य कारण इसके साहित्य द्वारा मानवता का वह लक्ष्य प्रदान करना है जिसके माध्यम से मनुष्य सत्त्व की प्राप्ति करता है। इसीलिए इस भाषा के व्याकरण के उद्‌भवकर्ता नटराज शिव हैं, जो अपने नृत्ययुक्त लयात्मकता से १४ बार डमरू के निनाद द्वारा इसकी सम्पूर्ण व्याकरण को उद्‌भूत कराता है। 'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्काम् नवपञ्चवारम्। उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।[८]

---

५. डैनियालो एलेन वर्चू सस्सेस, प्लेजर, लिबरेशन, कोलम्बिया विश्वविद्यालय प्रेस

६. ला–मी जीन हिम्स फ्रॉम द ऋग्वेद, पृष्ठ १२

७. अष्टाध्यायी, शिवसूत्र श्लोक

८. नानी पालखीवाला पृष्ठ २४–२५

अर्थात् सनकादि एवं सिद्धों को उच्च स्थिति प्रदान करने की इच्छा से नटराज अर्थात् शिव ने दैवी नर्तक के रूप में अपने ताण्डव नृत्य के अन्त में डमरू को १४ बार निनादित किया और इस प्रकार से शिव सूत्रों की उत्पत्ति हुई। इसीलिए महान् अधिवक्ता नानी पालखी वाला ने इस भाषा के मूल्याङ्न में यह मत प्रतिपादित किया है।

आइन्सटाइन मेरे विचार से मानवता और शुद्ध बुद्धि का अवतार है। वास्तव में यदि मैं उसके रुझान के सन्दर्भ में, जो उसने मानवीय समस्याओं के प्रति प्रदर्शित किया है, के प्रति एक भी शब्द उच्चरित करना चाहूँगा तो मैं संस्कृत–भाषा के शब्द अहिंसा को लूँगा जिसका अर्थ है किसी को चोट न पहुँचाना। इसीलिए योगी अरविन्द इस महान भाषा को पूर्ण की सञ्ज्ञा से विभूषित करते हैं। इसका मुख्य कारण सम्भवतः इस भाषा में विचारशक्ति का होना एवं मूल मानवीय भावनाओं का प्रवाह है, जिसका दिग्दर्शन हम वैदिक सन्दर्भों में इस प्रकार कर सकते हैं––

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

अर्थात् सभी सुखी हों, सभी व्याधियों से मुक्त हों। हम सभी को कल्याणमयी दृष्टि से देखें तथा किसी को भी दुःख न हो।

ओ३म् सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु
सह वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

अर्थात् हे ईश्वर! हमें सुरक्षा दो। हे ईश्वर! हमारा पालन करो। हम साथ–साथ शक्तिमय हों। हम जो अध्ययन करें वह ऊर्जा प्रदान करने वाला हो। हम कभी विद्वेष के भावों से ग्रसित न हों।

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने सम्पूर्ण लोक के कल्याण की कामना की, जिसका दिग्दर्शन मात्र संस्कृत–साहित्य में ही होता है क्योंकि यह भाषा सार्थक है। तभी तो कालिदास ने कहा है,

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।[६]

अर्थात् जैसे शब्द और अर्थ एक दूसरे से पृथक् नहीं है, लोक के माता–पिता अर्थात् पार्वती एवं परमशिव एक हैं तथा एक ही स्वरूप में पूजा करने योग्य हैं। इसीलिए मैं जगत् के माता–पिता दोनों ही परमेश्वरों को नमस्कार करता हूँ।

---

६. रघुवंश १.१

शब्दों की महानता को संस्कृत–भाषा में मानवीय दृष्टि से अत्यधिक महानता प्रदान की गयी है। स्वयं शङ्कराचार्य कहते हैं –

"वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये"[१०]।।

अर्थात् स्पष्ट भाषा जिसमें शब्द झरते हों तथा जो शास्त्रों को व्याख्यायित करने में सक्षम हों, उससे न ही व्यक्तिगत आनन्द प्राप्त होता है एवं न ही मुक्ति। इसीलिए कहते हैं कि–

"शब्दजालं महारण्यम्, चित्तभ्रमणकारकम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यम्, तत्त्वज्ञात्तत्त्वमात्मनः"।।[११]

अर्थात् शङ्कराचार्य सावधान करते हुये कहते हैं कि ओ जिज्ञासु शब्द इन्द्रजाल है। शब्द घोर एवं गहन वन के समान है। और यदि इनमें बिना जाने प्रवेश करोगे तो निश्चित रूप से तुम अपना पथ और स्वत्व दोनों का ही नाश करोगे। यदि तुम ज्ञान के प्रति गम्भीर हो तो अपने को खो नहीं अपितु एक ऐसे अध्यापक की सहायता लो जो इसका ज्ञान रखते हैं।

शब्दों की महिमा का बखान भगवान् राम ने हनुमानजी से मिलने के पश्चात् लक्ष्मणजी से किया था जिसमें उन्होंने हनुमानजी के वाक्चातुर्य की प्रशंसा की थी।[१२]

आज जब हम भागती हुई जिन्दगी में किसी को भी कुछ कहने में संङ्कोच नहीं करते और यह सोचते हैं कि हम यथार्थवादी हैं तो वस्तुतः हम विश्व मानवता के प्रति असंवेदनशीलता प्रस्तुत कर रहें हैं, किन्तु संस्कृत–साहित्य में इसे उचित नहीं माना गया है। स्वयं महर्षि मनु कहते हैं,

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियं
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः"।[१३]

अर्थात् सत्य बोलो; अप्रिय सत्य मत बोलो; यही सनातन शिक्षा है। यह एक विडम्बना है कि आज हम सङ्कीर्णताओं में जी रहे हैं, जबकि आज से ५००० वर्ष

---

१०. विवेकचूड़ामणि, ६०
११. वही, ६२
१२. वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड
१३. मनुस्मृति ४.१३८

पूर्व खोखली राष्ट्रीयता को नकारते हुए हमारे ऋषि मुनियों ने लोक–कल्याण के भाव को अभिवर्धित किया। यही नहीं उन्होंने समस्त पृथ्वी को परिवार माना। आज हम छिछले राष्ट्रवाद, जातिवाद के सङ्कीर्ण धागों में आबद्ध हैं और दूसरों के विकास को अवरोधित कर अपने को सर्वश्रेष्ठ मान अपने प्राचीन मूल्यों को खोते जा रहे हैं। तब यदि संस्कृत–भाषा के साहित्य में स्नान करें तो पायेंगे कि वस्तुतः सम्पूर्ण पृथ्वी को परिवार के रूप में देखना और लोक–कल्याण की भावना का होना कितना आवश्यक है।

"अयं निजः परो वेति गणना च लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"।।

अर्थात् ये हमारा है अथवा पराया है। इस प्रकार की ओछी भावना निम्न मानसिक बुद्धि वाले व्यक्ति करते हैं। किन्तु विशाल हृदय तथा महान् चरित्र वाले यह विश्वास करते हैं कि सम्पूर्ण विश्व एक परिवार है।

वर्तमान काल में मानवता के सन्दर्भ लोगों के लिए परिवर्तनीय होते जा रहे हैं किन्तु जो शाश्वत सत्य है उसे नकारा नहीं जा सकता। यद्यपि मानवता के प्रति मनुष्य का रुझान घुमन्तू मानव के गुहा में प्रविष्ट होने, उसके कृषि–परक होने, औद्योगिक तथा परावर्तित औद्योगिक स्वरूप में पहुचने तक परिवर्तित होता गया है परन्तु फिर भी इसका जो ऋत एवं मूल्यवान् दर्शन होता है, वह सत्य के अधिक निकट होने के कारण आज भी ग्राह्य है।

श्रीकृष्ण की वंशी वृन्दावन में आज भी मानवता के गीत गाती है, किन्तु राजनीतिज्ञों को ये सुनाई नहीं देती। आज भी महर्षि वाल्मीकि की ध्वनि ब्रह्माण्ड में गुञ्जरित है, किन्तु असंवेदनशील भारतीय समाज उसे सुन नहीं पा रहा है और वस्तुतः प्रजातन्त्र हमारे लिए अभिशाप बनता जा रहा है। हम भूल चुके हैं कि किस प्रकार वातावरण में परिवर्तन हमारी अमानवीय दृष्टि का परिणाम है जिसके प्रति सहस्रों वर्ष पूर्व ऋषियों ने मनुष्यों को सचेत किया।

यही भाव मनुष्य को आज भी याद रहे तो वह मानवीय गुणों से सम्पूर्ण हो सकता है और प्रलय के आगमन को पुनः रोक सकता है। यह तभी सम्भव है जब अमेरिका की भाँति हर देश संस्कृत भाषा को आधुनिक तकनीक से जोड़ने में धन व्यय करें।

***

डॉ० सुरचना त्रिवेदी
लखीमपुर–खीरी (उ०प्र०)

मानवाधिकारों के आलोक में आधुनिक संस्कृत–साहित्य

सभी भारतीय नागरिकों के लिए राष्ट्रीय गर्व की बात है प्राचीन तथा अप्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मानवाधिकारों के विचारों को सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है।[1] आज जिन अधिकारों तथा स्वत्वों का उल्लेख किया जाता है, वह प्राचीन काल में धर्म–शिक्षा के रूप में तथा कर्त्तव्य व उपकारों के रूप में थे। अधिकार किए गये कर्त्तव्यों का अनुसरण करते है।[2] इस प्रकार मानवाधिकार वे अधिकार हैं, जो प्रत्येक मानव को मानव होने के नाते सामाजिक व्यवस्था में रहते हुए, जीवन में विकास एवं उत्कर्ष के लिए प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में नागरिक की तीन स्वतन्त्रताओं शरीर, रहने के लिए घर तथा जीवन का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार महाभारत के शान्तिपर्व, अथर्ववेद, मनुस्मृति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, वाल्मीकि रामायण के युद्धकाण्ड, पुराण–साहित्य, यहाँ तक कि गौतम बुद्ध के अहिंसा सिद्धान्त और कर्म व मानवता के सिद्धान्त के प्रसङ्ग में मानवाधिकारों की प्रारम्भिक अवस्था को देखा जा सकता है।

आधुनिक काल के प्ररिप्रेक्ष्य में विचार करने पर सर्वप्रथम आधुनिक संस्कृत साहित्य के काल निर्धारण पर विचार करना अपेक्षित है। आधुनिक संस्कृत–साहित्य के काल–विभाजन की विविध व्याख्याओं का विश्लेषण करने के पश्चात् समग्र रूप में सन् १७५० ई० से आधुनिक संस्कृत–साहित्य का समय माना जाता है। विश्व और देश में बदलती राजनीतिक सामाजिक स्थितियों के बोध के साथ समग्र राष्ट्र के ऐकात्म्य के प्रति साहित्यकारों की दृष्टि कम से कम एक समष्टिवादी है। अर्थात् कोई निरपेक्ष नियम (कानून) न होकर आदर्श प्रतिरूप है; जो काल और विषयवस्तु की दृष्टि से आधुनिक साहित्य का उपक्रम कराता है।[3]

दूसरी ओर १५ अगस्त १६४७ की स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् १० दिसम्बर

---

१. स्वातन्त्र्योत्तर भारत में मानवाधिकार –डॉ० कृष्ण मोहन माथुर पृ०–१५

२. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ–४१८

३. प्रो० राधा वल्लभ त्रिपाठी – 'नवोन्मेष, राज. संस्कृत अकादमी, जयपुर – पृ० ११८

१९४८ को संयुक्तराष्ट्र–महासभा द्वारा मानवाधिकारों की ऐतिहासिक, सार्वभौमिक घोषणा की गयी थी, जिसे सामान्यतः 'मानवता का महाधिकार–पत्र' माना जाता है। भारत के संविधान में इस अन्तर्राष्ट्रीय सार्वभौमिक घोषणा का सुन्दर निरूपण संविधान की प्रस्तावना में इन शब्दों में किया गया है– "हम, भारत के लोग, भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न समाजवादी पन्थ–निरपेक्ष, लोक–तन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ सङ्कल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख २६ नवम्बर १९४९ ई० की एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मर्पित करते है। "इस प्रस्तावना का एक–एक शब्द मानव के मूल–भूत अधिकारों और कर्तव्यों का अत्यन्त गम्भीरता–पूर्वक प्रतिष्ठान किया गया है। भारतीय संविधान में मानवाधिकारों के प्रति एक वचनबद्धता है।[४] संवैधानिक रूप में मानवाधिकार–संरक्षण अधिनियम १९९३ (१९९४ की संख्या–१०) की धारा २ घ के अनुसार–

"मानवाधिकार से अभिप्राय संविधान द्वारा प्रत्याभूत तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में सम्मिलित एवं भारत के न्यायालयों में प्रवर्तनीय व्यक्तियों के जीवन, स्वतन्त्रता, समानता एवं गरिमा से है।[५] भारत के मानवाधिकार भारत के वे मूल अधिकार हैं जिन्हें कार्यान्वित करने की गारण्टी भारतीय संविधान में दी गयी है। भारतीय संविधान के सन्दर्भ में व्यक्ति के जीवन सम्बन्धी अधिकार संविधान के अुनच्छेद १२ में उल्लिखित हैं। स्वतन्त्रता का अधिकार संविधान के अनुच्छेद १९, २०, २२, २५, २६, २७, २८, तथा २९ में उल्लिखित है; समानता का अधिकार संविधान के अनुच्छेद १४, १५, १६, १७, व १८ में उल्लिखित है; व्यक्ति की प्रतिष्ठा सम्बन्धी अधिकार संविधान के अनुच्छेद १७, २३, व २४ में उल्लिखित हैं। संविधान में मूल अधिकारों की गारण्टी प्रदान करने के उद्देश्य से संविधान में संवैधानिक उपचारों का अधिकार अनुच्छेद ३२ तथा ३५ द्वारा प्रतिपादित किया गया है। भारतीय संविधान के अनुसार समता का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार, संस्कृति एवं शिक्षा–सम्बन्धी अधिकार तथा स्त्रियों की दशा में मानवाधिकारों के अन्तर्गत परिगणित हैं।

साहित्य समाज तथा युग की परिस्थितियों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब कर्त्ता होता है तथा युगीन परिस्थितियों से नितान्त निरपेक्ष होकर उसकी सर्जना करना, उसके

---

४. स्वातन्त्र्योत्तर भारत में मानवाधिकार – डॉ० कृष्ण मोहन माथुर पृ० – १४

५. वही , पृ० १८–१९

सामयिक स्वरूप को नष्ट करना है। अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब यह प्रश्न उठा कि भारतीय संविधान में उल्लिखित मानवाधिकारों का पालन किस सीमा तक किया गया है। इसका प्रभाव साहित्यिक गतिविधियों पर भी पड़ा। अतः आधुनिक संस्कृत–साहित्यकारों का चिन्तन इस दिशा में भी हुआ। इसके पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनका क्रमशः उल्लेख किया जा रहा है।

समता का अधिकार– इसके अनुसार विधि के समक्ष समता, धर्म, मूल, वंश, जाति लिङ्ग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करते हुए, लोक–नियोजन के विषय के अवसर की समता, अस्पृश्यता का अन्त, उपाधियों के अन्त की बात कही गयी है। इस आधार पर चिन्तन करने से यह तथ्य प्राप्त होता है कि आधुनिक संस्कृत महाकाव्यकार, गीतकार, समाज के सुख–दुःख की सहानुभूति का भाव रखते हुए समाज में सभी मनुष्यों के प्रति समान व्यवहार करने की बात करते हैं। इनमें मानव–अधिकारों की रक्षा की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है।[६]

केवल इच्छा–मात्र से साध्य की पूर्ति नहीं होती, अपितु इसके लिए कर्म करना चाहिए, जब तक जनता जातीयता के दुष्ट गुणों को नही छोड़ती, तब तक उसे शक्ति प्रदान नहीं होगी और न ही पराधीनता से उसकी मुक्ति होगी। अतः समाज में समानता के फलस्वरूप ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो सकती है।[७]

कवि भगवदाचार्य ने "भारतपरिजात" में लिखा है– "सत्य के मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए, किसी दूसरे को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।....समग्र संसार को शिवमय मानकर सभी के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिए।"[८]

अस्पृश्यता–कुप्रथा के विरुद्ध बोलते हुए कवि उमाशङ्कर शर्मा ने कहा है– "बड़े–बड़े देव–मन्दिरों का निर्माण करने वाले लोगों को ही इन मन्दिरों में जाने से रोका जाता है तथा अछूत कहा जाता है, यह कितनी लज्जास्पद बात है। यह समानता के अधिकार का हनन ही तो है।[९]

प्रो० राम कृपालु शास्त्री ने 'इन्दिराशतकम्' में समाज का जो स्वरूप वर्णित किया है वह मानव अधिकारों की रक्षा के लिए ही है, जिसमें कहा गया है कि खाने–पीने, पहनने, रहने आदि से सम्बन्धित–सभी वस्तुएें सभी के लिए समान रूप

---

६. आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ८

७. आर्योदय १०.४

८. भारतपारिजात ११.८८, १८.१३, ८.१८

९. आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १८६

से सुलभ हैं उसमें किसी भी वर्ण, धर्म या जाति के आधार पर भेद भाव न किया जाये।[10]

स्वतन्त्रता का अधिकार– इसके अन्तर्गत वाक्–स्वातन्त्र्य आदि विषयक कुछ अधिकारों का संरक्षण सभी नागरिकों को प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त निवास की स्वतन्त्रता, वृत्ति, उपजीविका आदि की स्वतन्त्रता–विषयक कई खण्ड, उपखण्ड हैं–

वाक् स्वातन्त्र्य का सर्वाधिक प्रबल उदाहरण–बङ्किमचन्द्रचटर्ची के , "आनन्द मठ, में लिखा "वन्दे मातरम्" गीत है। इसी गीत से प्रेरित होकर पं० श्रीधर पाठक ने "भारतस्तवः" लिखा जिसमें स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता की झलक मिलती है– वन्दे भारतदेशमुदारम्, सुषमासदनसकलसुखसारम्।[11]

परतन्त्रता की पीडादायक अनुभूति की व्यञ्जना करते हुए तर्क चूड़ामणि लिखते है– "हे पक्षी! तू धन्य है, जो तू स्वाधीनता के शुभालङ्करण से विभूषित होकर स्वतः सदा स्मरणीय कीर्ति वाले संसार के बीच भगवान् का गुणगान करता हुआ विचरण कर रहा है।[12]

प्रत्येक व्यक्ति के मूल कर्त्तव्यों एवं मूल अधिकारों की रक्षा के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक आदि राष्ट्रीय नेता व महापुरुषों ने जो कुछ भी कहा या कि वह सब मानवाधिकारों की रक्षा के लिए था।[13]

'आर्योदय' में स्वतन्त्रता के अधिकार के विषय में पर्याप्त सामग्री है। इसके अतिरिक्त 'राघवीयम्'[14] में भी इस सन्दर्भ में लिखा गया। प्रो० उमा शङ्कर त्रिपाठी ने "रासभारती में कहा– "जब लोग आलस्य–रहित होकर उद्यम करने लगे, तब स्वतन्त्रता सुविधा की भाँति नित्य प्रवर्धित–होकर अमृत–फल देने लगी।[15] इसी प्रकार कवि "अन्नदाचरण" ने "त्व गच्छामि" कविता में स्पष्ट भाव व्यक्त किये कि "अभिमान तथा विषम हिंसा यह सब ओर निरन्तर फैल रहे हैं। हे भगवन्। कहाँ जाऊँ, कहाँ शान्ति है?"[16]

---

१०. इन्दिराशतकम्, ६६, ६७
११. भारतस्तवः, पृ० ५
१२. भारतचन्द्रिका ७१५, १८६७
१३. आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३३–४४
१४. राघवीयम्, ८.६४
१५. रासभारती, १.८०
१६. संस्कृतचन्द्रिका, ७.५.१८६७

शोषण के विरुद्ध अधिकार– इसके अन्तर्गत मानव के दुर्व्यापार तथा बलात् श्रम का प्रतिषेध, कारखानों आदि में बालकों के नियोजन का प्रतिषेध आदि आते हैं। समाज में दो वर्ग के लोग होते हैं– सम्पन्न तथा विपन्न। सम्पन्न वर्ग द्वारा विपन्न वर्ग के शोषण की प्रथा सदा ही समय को कलुषता से युक्त करती रही है। इस मानवी शोषण–पद्धति को दूर करने का प्रखर स्वर ''विशन लाल गौड़'' ने ''व्योम शेख की काव्य–रचना "अग्निजा" में बड़े सुन्दर ढ़ग से किया गया है।–

उद्बुध्यस्वाग्ने। प्रजागर मन्त्रनादः विश्वजनस्वापनशी लोपमस्तन्द्राम्
प्रातः सवनेषु समुदीरितः केन?"[१७]

एक दुःखिनी श्रमिका के भूखे नङ्गे बालक का करुण चित्र खींचते हुए कवि ने जो कहा है उसमें निर्धन शोषण की बात स्पष्ट प्रकट हो रही है–

रे नग्नः क्षुधितः स्वपिति देशस्य भाग्यं रोदिति, श्रमिकाया अयं बालः।[१८]

राज–भक्ति की ओर से आधुनिक संस्कृत कवियों ने देश की दरिद्रता का स्वरूप यथार्थ शब्दों में प्रकट किया है।[१९] इसके अतिरिक्त डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'शंखनादः' में, प्रो'' कमलेश दत्त त्रिपाठी ने 'धन्या ममेयं धरा' में वर्तमान समय में मानवाधिकारों के हनन के कारण राजनीति, भ्रष्टाचार एवं बेरोजगारी को बताया है–

''यत्र ध्वाङ्क्षनिभा विरापटवो नेतृत्वसंसाधका, उत्कोचैकपरा जनस्यहरणे पारंगता साहिबा।
पूँजी–स्वामि–हितैकसाधनरताः कुम्भोदरा नायका
राज्यन्ते खलु राजनीति–भुजगा धन्या ममेयं धरा।
लोको यातु रसातलं दिवं मनागुच्चैस्तरां राजतां।
मूल्यं सा हि कथा समस्तजगतामेषा विकास–क्रिया।
लक्ष्यं मास्तु चलन्तु वृत्तिरहिता हिप्पी युवानो मुधा।
क्रान्तिर्गच्छतु कञ्चुकभुवि परं धन्या ममेयं धरा।।"[२०]

अंग्रेजों के अत्याचार और भारतीय जनता की दीन दशा का अनुभव करते हुए

---

१७. अग्निजा, पृ. २०७
१८. वही, पृ. २०७
१९. संस्कृत का समाज शास्त्र, पृ. ८७
२०. धन्या ममेयं धरा

उस काल में अकाल पीड़ित देश की भयावह दशा का चित्रण मूल अधिकारों के हनन को उजागर करता है–

एकं तन्मृतनग्नाङ्गं निष्प्रच्छदमातपशीतम्
योरपगृध्राणामेकं कबलमहहा रक्तच्युतिदिग्धम्।
एकं प्रेतवनं तद् यत्र न कश्चिच्छोकालापी
एको भ्राम्यन्नात्मा यस्य न गेहः कोऽपि क्वापि।[२१]

इसी प्रकार वीरोदयकाव्य में पशुबलि तथा स्वार्थपरता पर प्रहार करते हुए कहा गया–

स्वीया पिपासा शमयेत् परासृजा क्षुधां परप्राण विपत्तिभिः प्रजा। परं फलतं हियतेऽन्यतो हटाद्विकीर्यते स्वोदरपूर्तये सत्र।[२२]

इस प्रकार शोषण के विरुद्ध अधिकार का पूर्ण प्रयोग संस्कृत–साहित्य में प्राप्त होता है।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार– इसके अन्तर्गत अन्तःकरण की और धर्म के अबाधरूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता, धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता का अनेक उपखण्डों के साथ वर्णन है।

संसार में विभिन्न रहन–सहन एवं धर्मों के मानने वाले लोग हैं, किन्तु उन सभी धर्मों के मूल में एक ही तत्त्व समान है, वह है– मानवता। 'कथमहं नास्तिकः' कविता में छद्म–धार्मिकता का विरोध करके सभी धर्मों में समन्वयात्मकता की भावना स्थापित करते हुए युगानुरूप सच्ची आस्तिकता का स्वरूप लक्षित हो रहा है। इसमें ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि 'हम सभी प्राणियों के प्रति दया का व्रतधारण करें तथा स्वच्छश्वेत चन्दन रस से भी अधिक शैत्य प्रदान करने वाले परोपकार से सदा आनन्दित रहें–

सर्वेषु जीवनिचयेषु दयाव्रतं मे ददातु निखिलं नियतं व्रतानाम्।
अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीतदो वा मानन्दयात्वनिशमीश परोपकारः।[२३]

विभिन्न कुरीतियों का विद्रोह करते हुए भी हमें धर्म से डिगना नहीं चाहिए वीरोदय' महाकाव्य में ऐसे समाज का चित्रण है, जिसमें लोगों की धर्म एवं मानवता के प्रति आस्था है तथा भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व अधिकारिक मात्रा में उपलब्ध

---

२१. शङ्खनादः– प्रो० राधा वल्लभ त्रिपाठी
२२. वीरोदय १८.१३–१४
२३. कथमहं नास्तिकः– डॉ० महावीर प्रसाद द्विवेदी

हैं। मुनियों का कर्त्तव्य लोगों में धर्म के प्रति चेतना लाना है। शासक प्रजानुरञ्जन करते हुए शासन करें, वणिग्जन अर्थव्यवस्था को संम्भालें, सेवक निःस्वार्थ सेवा करें। परन्तु यह वर्ण व्यवस्था जन्म के अनुसार न होकर कर्म के अनुसार हो।"[२४]

धर्मशास्त्र के इतिहास में उल्लेख है– "बिना आध्यात्मिक मूल्यों के पुनर्जागरण के, बिना न्यायसङ्गत जीवन यापन के, बिना दलित लोगों के प्रति करुणा दृष्टि फेरे तथा बिना मानव में भ्रातृ–भावना की स्थापना किये विश्व कल्याण नहीं हो सकता और न मानव–सभ्यता की रक्षा की जा सकती है।"[२५] अतः विश्व–कल्याण के लिए अल्पसङ्ख्यक वर्गों तथा प्रत्येक व्यक्ति को संस्कृति एंव शिक्षा–सम्बन्धी अधिकार प्रदान किया गया है।

प्रो० प्रभुदत्त स्वामी ने अपने महाकाव्य 'पूर्वभारतम्' में कहा है– आर्यदेश में कुलीन, पर–दुःख–कातर, परोपकार में लीन लोग अपने सुखों की उपेक्षा करके अपने प्राण न्यौछावर करके भी अपनी शरण में आए हुए लोगों की रक्षा करते हैं। अपने धर्म, अपने देश की रक्षा के व्रती लोगों के सामने मेरा सिर झुक जाता है।"[२६] 'दयोदय' चम्पू–काव्य में अहिंसा नामक व्रत की शिक्षा दी गई है। जो सभी मुनष्यों के लिए पालन करने योग्य है। साथ ही परोपकार, अतिथि–सत्कार, योग्य व्यक्तियों का सम्मान, गरीबी की रक्षा, सहायता तथा पीड़ितों की सहायता आदि गुणों की शिक्षा दी गई है।"[२७]

स्त्रियों की दशा– स्त्रियों के प्रति प्रताडना व शोषण–रहित व्यवहार के अधिकार का पालन करने के उद्‌देश्य की पूर्ति करने वाली अनेक रचनाएँ आधुनिक संस्कृत साहित्य में प्राप्त होती हैं।

कविवर परमानन्द शास्त्री ने अपने काव्य 'कौन्तेय' में कुन्ती के माध्यम से भारतीय नारी की तत्कालीन समय में विवशता, सामाजिक विषपान तथा बलिदान की व्यथा को वर्णित किया है। इसमें समाज की रूढियों के विरुद्ध मानवाधिकार की रक्षा के लिए कवि ने आवाज उठाई है।"[२८]

कविवर वागीश शास्त्री ने 'नर्म सप्तशती के' श्लोकों के माध्यम से यह विषय उठाया है, जिसमें हास्य–व्यङ्ग्य के माध्यम से विवाह करके आये व्यक्ति द्वारा

---

२४. वीरोदय, १८.१३–१४

२५. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ३६१

२६. पूर्व भारतम्, १.१३, १६.१४

२७. आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४३८

२८. कौन्तेय, ८

विवाह को दण्ड के रूप में परिभाषित करते हुए तथा एक अन्य श्लोक में दहेज–लिप्सा का चित्रण करते हुए नारी की विवशता को दर्शाया गया है–

पुत्रं विवाहयित्वा च कश्चिद् प्रत्यागतो जनः।
कारावासश्च पुत्रस्य आजन्म समजायत।।[२९]

तथा–

महादयालुत्वमतः परं किं यथेहितं तद् द्रविणं गृहीत्वा।
निन्द्यानपि त्वं विमलं करोषि तदीय कन्या परिपीडनेन।।[३०]

आचार्य बाबूराम अवस्थी ने **'पितरं प्रति पुत्र्याः पत्रम्'**[३१] रचना में विवाह के पश्चात् श्वशुरालय में प्रताडना झेल रही स्त्री का मार्मिक वर्णन करके स्त्री के अधिकार की रक्षा का ही बीड़ा उठाया है।

मानवाधिकार की अवधारणा एक प्रगतिशील, व्यापक व विधि–स्वरूप वाली है। जिसकी परिभाषा सभी देश अपने–अपने ढंग से करते हैं। भारतीय दृष्टिकोण से मानवाधिकार जीवन, स्वतन्त्रता, समानता एवं गरिमा से सम्बन्धित है। संस्कृत–साहित्य के रचनाकारों के उक्त मानवाधिकारों का वर्णन अपने साहित्य में करते हुए प्रत्येक व्यक्ति के मूल्यवान् मानवाधिकारों की घोषणा व सुरक्षा का सफल प्रयास किया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आधारभूत जीवन–मूल्य की उपेक्षा हुई है, जो हमारी राष्ट्रीय समस्याओं का मूलकारण रहा है। क्योंकि कर्त्तव्य–भावना का स्थान अधिकार–बोध ने ले लिया था। उचित शिक्षा, माता–पिता–आचार्य तथा राजनैतिक नेताओं के व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा बाल्यावस्था से ही प्रत्येक व्यक्ति में कर्त्तव्य भावना का विकास बहुत आवश्यक है। यह मानवाधिकारों की रक्षा का अपेक्षाकृत बड़ा और बेहतर आश्वासन है।

मानवाधिकार एक शक्तिमती कल्पना है। सभी भारत–वासियों के लिए यह गर्व की बात है कि मानवाधिकार का वर्णन हमारे संस्कृत–वाङ्मय से प्राप्त होता है।

***

---

२९. नर्मसप्तशती, ८
३०. काव्य कुब्जलीलामृतम्–द्रष्टव्य
३१. युग दर्शनम्–द्रष्टव्य

डॉ० शालिनी मिश्रा
लखनऊ

रघुवंश में मानवाधिकार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज में उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। समाज में उसके व्यक्तित्व का विकास होता है और समाज में ही वह अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। यदि समाज में उसे जीवन की सुविधायें और विकास के अवसर न मिलें, तो उसका व्यक्तित्व अपूर्ण और अविकसित रह जाता है।

उपर्युक्त तथ्य में ही अधिकारों और कर्तव्यों का मूल निहित है, जब किसी व्यक्ति के लिए सुविधा तथा परिस्थिति को प्रदान करने की बात की जाती है तो इसका तात्पर्य है कि हम उसके अधिकारों की बात कर रहे हैं। जब किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों के विकास के लिए प्रदत्त सुविधा तथा परिस्थिति में बाधक न बनने की बात की जाती है तो इसका तात्पर्य है कि हम मानव–मात्र के कर्त्तव्यों की बात कर रहे हैं।

"अधिकार ऐसी अनिवार्य परिस्थिति होती है, जो मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक है। वह व्यक्ति की माँग है, तथा उसका वह हक है, जिसे समाज, राज्य तथा कानून नैतिक मान्यता देते हैं, तथा उसकी रक्षा करते हैं।" साधारणतः अधिकारों को दो भागों में विभक्त किया जाता है:–

१. नैतिक अधिकार

२. कानूनी अधिकार

कानूनी अधिकारों को दो भागों में बाँटा जाता है–

१. सामाजिक अधिकार

२. राजनैतिक अधिकार

इन दोनों के पुनः कई भेद हो जाते है–

अधिकारों की चर्चा होने पर कर्त्तव्यों का स्वतः ही ग्रहण हो जाता है क्योंकि एक व्यक्ति का जो अधिकार है वही दूसरे व्यक्ति का कर्त्तव्य है, इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने कर्त्तव्यों का पालन करे तो प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की पूर्तिः स्वतः ही हो जायेगी।

उदाहरण के लिए यदि अन्य व्यक्तियों का अधिकार है कि धार्मिक स्वतन्त्रता का उपभोग करें, तो मेरा यह कर्त्तव्य है कि उनके विश्वास तथा आराधना की स्वतन्त्रता में मैं बाधक न बनूँ। विस्तृत रूप में समाज का जो अधिकार है वह व्यक्ति के कर्त्तव्य हैं, व्यक्ति के जो अधिकार होते हैं वह समाज के कर्त्तव्य हैं।

स्पष्ट है कि अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के नष्ट हो जाने से दोनों का अस्तित्व नष्ट हो जाता है। अधिकार कर्त्तव्य का, तथा कर्त्तव्य अधिकार का प्रतिबिम्ब मात्र होता हैं।

प्रो० लास्की के मतानुसार अधिकार कर्त्तव्य से चार प्रकार से सम्बन्धित हैं। प्रथम "मेरा अधिकार तुम्हारा कर्त्तव्य है" द्वितीय "मेरे अधिकार में यह कर्त्तव्य निहित है कि मैं तुम्हारे समान अधिकार को स्वीकार करूँ", तृतीय "मुझे अपने अधिकारों का प्रयोग सामाजिक हित में वृद्धि करने की दृष्टि से करना चाहिए", चतुर्थ "क्योंकि राज्य मेरे अधिकारों को सुरक्षित रखता है तथा उनकी व्यवस्था करता है, अतः राज्य की सहायता मेरा कर्त्तव्य है।"

प्रो० लास्की के उपर्युक्त कथन से अधिकार तथा कर्त्तव्य की न केवल स्पष्ट व्याख्या होती है वरन् यह भी ज्ञात होता है कि अधिकार अपनी शक्तियों का असीमित प्रयोग न होकर अपनी शक्ति का सीमित दायरे में रहकर राज्य तथा समाज के हितों के अनुकूल उपभोग है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्त्तव्यों के पालन द्वारा अधिकारों की पूर्ति तथा रक्षा स्वयं ही हो जाती है, तो अधिकारों की पृथक् मांग की आवश्यकता ही नहीं है। परन्तु, वर्तमान समाज में मानवाधिकार के लिए आयोग का गठन तथा अनेकों सामाजिक संगठन इस बात का प्रमाण हैं कि मानव के अधिकारों का हनन हो रहा है या यों कहें कि आज मानव अपने कर्त्तव्य पथ से च्युत हो रहा है।

मानव–हितों तथा अधिकारों की रक्षा के इसी मर्म को जानने वाले विद्वानों, साहित्यकारों द्वारा हमारे धर्मशास्त्रों, संस्कृत–वाङ्मय तथा स्मृतियों आदि में मानव को उसके कर्त्तव्य पथ पर चलने के लिये प्रेरित किया गया है।

मानव के कर्त्तव्यों को ही धर्म की सञ्ज्ञा से अभिहित करके उसे धर्म के मार्ग पर चलने तथा अधर्म का त्याग करने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रेरित किया गया है।

महाकवि कालिदास द्वारा धर्म तथा कर्त्तव्य पथ पर चलने की प्रेरणा देने वाले तथा प्रजा के अधिकारों तथा हितों की रक्षा करने वाले अपने वंशजों तथा मानव–मात्र के लिये आदर्श प्रस्तुत करने वाले महाराज रघु तथा उनके वंशजों का गुणगान "रघुवंशम्" में किया गया है।

इनके कार्यों तथा गुणों के द्वारा किस प्रकार मानव के हितों की रक्षा होती है तथा अधिकारों का वास्तविक स्वरूप क्या है इसे निम्न उदाहरणों के द्वारा समझाा जा सकता है–

सूर्यवंशी राजा दिलीप प्रजा की भलाई के लिए ही **कर** लिया करते थे। जैसे कि सूर्य पृथ्वी पर हजार गुना जल बरसाने के लिये ही पृथ्वी पर से अपनी रश्मि द्वारा जल खींचता है–

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।।[१]

प्रस्तुत श्लोक द्वारा ज्ञात होता है कि सूर्य के समान तेजस्वी तथा शक्तिसम्पन्न होते हुए भी वह प्रजा से केवल राजधर्म के अनुकूल उनकी सम्पत्ति का षष्ठांश **कर** लेकर उस धन को हजार गुना करके उन्हीं के हित कार्यों में लगा देते थे, इस प्रकार व अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् रूप से निर्वहण कर रहे थे–

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।

स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।।[२]

वह राजा दिलीप विनम्रता आदि की शिक्षा देने से, रक्षा करने से तथा भरण–पोषण करने से उनके यथार्थ पिता थे, उनके पिता तो केवल जन्म देने के ही कारण थे।

प्रस्तुत श्लोक द्वारा राजा दिलीप की कर्त्तव्य–परायणता का परिचय मिलने के साथ ही यह ज्ञान भी होता है कि एक राजा को अपनी प्रजा का उसी प्रकार रक्षण, भरण–पोषण आदि करना चाहिये जिस प्रकार उनके पिता करते हैं या यूँ कहें कि राजा अपनी प्रजा का प्रथम पिता होता है।

जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा के अधिकारों तथा हितों की रक्षा के लिए एक पिता के समान तत्पर रहता है। उसी प्रकार प्रजा को भी अपने राजा की आज्ञा का पुत्रवत् पालन करना चाहिये, जिसका परिचय हमें निम्न श्लोक से मिलता है–

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।

न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः।।[३]

अर्थात् उन महाराज दिलीप की प्रजा वैवस्वत मनु के समय से लेकर प्रचलित

---

१. रघुवंशम्, १.१८

२. वही, १.२४

३. वही, १.१७

सदाचार पद्धति या मार्ग का रथचक्र के समान किंचित् भी उल्लंघन नहीं करती थी अर्थात् राजा दिलीप की प्रजा ने राजाज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं किया।

प्रस्तुत श्लोक से राजा दिलीप की प्रजा के भी कर्त्तव्यपरायण होने तथा सन्मार्ग पर चलने का ज्ञान होता है, जिसके कारण स्वतः राज्य के हितों की रक्षा हो जाती है।

राजा दिलीप के पश्चात् उनके पुत्र महाराज रघु वीरता, पराक्रम, दया, धर्म तथा प्रजा–पालन में उनसे भी अधिक श्रेष्ठ थे, जिसका परिचय हमें निम्न श्लोक से मिलता है–

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ।

फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः।।[४]

उन महाराज रघु के द्वारा प्रजा अपने पिता दिलीप के विषय में आम के फल के पुष्प प्रादुर्भाव होने के विषय की भाँति गुणों की अधिकता के कारण मन्द उत्कण्ठा वाली कर दी गयी। अर्थात् दिलीप से अधिक गुणशाली रघु को पाकर दिलीप को भूल सी गयी।

वह राजा रघु अपने धर्म तथा कीर्ति के विस्तार के लिए ही राज्यों पर विजय प्राप्त करते थे, न कि अपनी शक्ति द्वारा अन्य राज्य के हितों तथा अधिकारों के हनन के लिये जैसे कि निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है–

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।

श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्।।[५]

अर्थात् धर्म के लिए विजयार्थी महाराज रघु ने पहले पराजित कर पुनः विनत हो जाने पर (दयावश) मुक्त कर दिये गये कलिङ्गराज की केवल लक्ष्मी (शोभा) को ही छीन लिया, उनकी भूमि नहीं छीनी।

इसके अतिरिक्त राजा रघु ने राज्यों को विजय करते हुये भी कभी अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर दूसरे राज्यों की स्त्रियों का मानभङ्ग नहीं किया–

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।

बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः।।[६]

---

४. रघुवंश, ४.६

५. वही, ४.४३

६. वही, ४.६१

महाराज रघु ने यवनीस्त्रियों के मुखकमलों के मधुमद को उसी प्रकार नहीं सहा जिस प्रकार असमय मेघों का प्रादुर्भाव प्रातः कालीन सूर्य के आतप को नहीं सहता है।

निश्चय ही इस प्रकार के प्रतापी, वीर, दयालु तथा कर्त्तव्यपरायण राजा को पाकर प्रजायें सन्तुष्ट होंगी और उनके राज्य में मानव–मात्र के हितों की रक्षा स्वतः ही होगी। इसी आशय को कवि ने निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है–

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन् नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।

सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा।।[७]

हे राजन्! आप हम लोगों का सर्वत्र कुशल समझें, आपके समान स्वामी के रहते हुये प्रजाओं का अमङ्गल हो ही नहीं सकता। ज़ैसे– सूर्य के प्रकाशित रहने पर निशा लोगों की दृष्टि नहीं ढक सकती उसी प्रकार आप जैसे स्वामी के रहते हुये प्रजा का किसी प्रकार का कोई अमङ्गल नहीं हो सकता।

राजा रघु के समान ही उनके वंशज अज, दशरथ, राम आदि राजा हुए जिन्होंने अपने कर्त्तव्य–पालन, प्रजा के हितों तथा मानव–मात्र के अधिकारों की रक्षा– हेतु जीवन व्यतीत किया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्त्तव्य पालन को महत्त्व दे, उसके मूल में छिपा अन्य मनुष्यों के अधिकारों तथा हितों की रक्षा का गूढ़ रहस्य समझ सके तो किसी को भी अधिकारों के माँग की आवश्यकता ही न पड़ेगी। रघुवंशम् में वर्णित राजाओं के कार्यों तथा गुणों द्वारा अधिकारों का वास्तविक अर्थ भी स्पष्ट होता है कि शक्ति–सम्पन्न तथा संप्रभुता–सम्पन्न होने पर भी उन्होंने कभी अपनी मर्यादाओं का या राजधर्म का उल्लङ्घन नहीं किया। प्रजा के हितों का ध्यान रखा, मानव–मात्र के अधिकारों की रक्षा की और प्रजा के सामने भी अपने कर्त्तव्यों तथा धर्म के पालन के प्रेरणास्रोत बने। तभी तो उनकी प्रजा भी बिना किसी भय के उनकी आज्ञा का पालन करती थी।

वस्तुतः इसी रहस्य को जानकर हमारे मनीषियों ने वेद, शास्त्र, स्मृति, साहित्य आदि के माध्यम से हमें अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्माधर्म का ज्ञान कराने पर अधिक बल दिया, न कि अधिकारों की माँग पर। परन्तु यह भी सत्य है कि कोई भी परिस्थिति अचानक परिवर्तित नहीं हो सकती फिर आज वर्तमान समाज में अधर्म, अन्याय और पाप के साम्राज्य में मानव के मूलभूत हितों तथा अधिकारों की रक्षा के

---

७. रघुवंश, ५.१३

लिए मानवाधिकार आयोग तथा अन्य गैर सरकारी सामाजिक सङ्गठन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

अतः वर्तमान व्यवस्था में सुधार के लिये मानवधिकारों की रक्षा के लिये हमें अपने धर्म तथा कर्त्तव्य के मार्ग पर आज से ही दृढतापूर्वक लग जाना चाहिए।

***

डॉ० सुधा शुक्ला
लखनऊ

कालिदास–कृत साहित्य में दाम्पत्य–जीवन–विषयक मानवाधिकार

संस्कृत–वाङ्मय अत्यन्त विशाल है, जिसमें अनेकानेक विशिष्ट विषय समाहित हैं। संस्कृत–वाङ्मय द्विविधात्मक है अर्थात् यह गद्य एवं पद्य दोनों रूपों में है, जिसके द्वारा समाज तथा मानव के उत्थान का प्रयास है। इसका समग्र साहित्य मानव के सम्पूर्ण विकास पर बल देता है।

यदि हम मानवाधिकार को परिभाषित करते हैं तो स्थूल रूप से मानवाधिकार वह मौलिक एवं अन्य सङ्क्राम्य अधिकार है, जो मनुष्यों के जीवन के लिए आवश्यक है। मानव–अधिकार वह अधिकार है, जो प्रत्येक मानव के हैं, चाहे वह किसी भी राष्ट्रीयता, प्रजाति या नस्ल, धर्म, लिङ्ग का हो।

संस्कृत–वाङ्मय में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सञ्ज्ञक 'चतुर्वर्ग' की प्राप्ति पर बल दिया गया है। यदि हम सूक्ष्मतया इस चतुर्वर्ग की प्राप्ति पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि इसके अन्तर्गत समस्त मूलभूत मानवाधिकारों की प्राप्ति हो जाती है। संस्कृत–साहित्य में मानवाधिकार का प्रत्यक्षतः वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि संस्कृत–साहित्य में प्रथमतः कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्वों तदनन्तर अधिकारों का स्थान है और साथ ही साथ संस्कृत–वाङ्मय में मानव के सम्पूर्ण विकास पर बल दिया गया है न कि विशेषतया अधिकारों पर। अनेकों मानवाधिकारों के अन्तर्गत दाम्पत्य–जीवन विषयक मानवाधिकार भी सम्मिलित हैं। कालिदास–कृत संस्कृत–साहित्य में दाम्पत्य–जीवन विषयक मानवाधिकार यत्र–तत्र दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान में दाम्पत्य जीवन–विषयक मानवाधिकार जिसे अन्य शब्दों में हिन्दू विवाह विधि (कानून) कहा जाता है। उसके अन्तर्गत जिन विषयों की चर्चा है वह सभी विषय महाकवि कालिदस ने अपने ग्रन्थों में भी वर्णित किये हैं।

हिन्दू विवाह–विधि के अनुसार विवाह वह कृत्य है, जिसके द्वारा स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को अनुशासनिक स्वरूप प्रदान किया जाता है। हिन्दुओं में विवाह एक प्रकार का संस्कार है, जो पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए एक समान है। विवाह के द्वारा पति–पत्नी में एकत्व की स्थापना होती है। मनु इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं

कि 'जो पति है वही पत्नी है' **विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना।**[1] पति–पत्नी की संयुक्त संज्ञा 'दम्पत्ती' से भी यही बोध होता है कि वे दम् अर्थात् घर के दो पति अर्थात् स्वामी हैं। स्पष्टतया विवाह संयुक्त स्वामित्व प्रदान करने वाली क्रिया है। याज्ञवल्क्य ऋषि के अनुसार विवाह का प्रयोजन है, पुत्र–पौत्रादि द्वारा वंश–परम्परा को अविच्छिन्न बनाना और स्वर्गादि पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति। हिन्दू विवाह–विधि में विवाह का सुस्पष्ट प्रयोजन है तथा स्त्री–पुरुष के स्वाभाविक गुणों की स्वेच्छाचारिता में परिणत न होने देना भी विवाह का एक प्रयोजन है।

हिन्दू विवाह आजीवन चलने वाला संस्कार है। पति–पत्नी का सम्बन्ध अटूट तथा जन्म–जन्मान्तर तक चलने वाला सम्बन्ध है।

पाश्चात्य विधि के सदृश हिन्दू–विधि में विवाह एक संविदा नहीं है, किन्तु कालान्तर में दाम्पत्य जीवन सुचारु रूप से न चलने के कारण सन् १८५५ में हिन्दू विधि के अन्तर्गत हिन्दू विवाह अधिनियम का गठन होने के पश्चात् हिन्दू विवाह की प्रकृति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ गया है, अब विवाह को पवित्र बन्धन तो माना जाता है परन्तु अखण्डनीय नहीं। अतः हिन्दू विवाह अब संस्कार और संविदा दोनों ही हो गये हैं। विवाह खण्डनीय तभी होगा जब दाम्पत्य–जीवन में असमानताएं, संस्कार एवम् शास्त्रीय विधियों की अवहेलना, शोषण इत्यादि का समावेश होगा। इन्हीं के निराकरण के प्रयास के लिए इस अधिनियम का गठन हुआ जिसके अन्तर्गत निम्न विषयों का समावेश है, जैसे पारम्परिक विवाह पद्धति, पति और पत्नी के एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य एवम् अधिकार, स्त्रियों के समानाधिकार, सप्तपदी तथा वैध एवं अवैध विवाह इत्यादि।

हिन्दू विवाह–विधि अधिनियम के अन्तर्गत अधिकांश विषयों की चर्चा का परिलक्षण महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृति के व्याख्याता कहे जाते हैं। कालिदास के समग्र साहित्य में हमें भारतीय संस्कृति के दर्शन होते हैं, उदाहरणार्थ आश्रम–व्यवस्था, वर्णचतुष्टय, नारी का समाज में स्थान, विवाह, व्रत, यज्ञानुष्ठान इत्यादि। यदि दाम्पत्य–जीवन विषयक अवधारणा की चर्चा करें तो महाकवि कालिदास ने संस्कार–युक्त एवं मर्यादित दाम्पत्य–जीवन का उत्कृष्ट विवेचन किया है। महाकवि कालिदास ने गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का उपकारक आश्रम कहा है– **'कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते'।**[2] कालिदास ने इसे इहलोक के साथ–साथ पारलौकिक कल्याण का आधार भी माना है, क्योंकि सन्तति देने

---

१. मनुस्मृति, ६.४५
२. रघुवंशम्, ५.१०

वाला यही आश्रम है। इसी से मनुष्य पितृऋण से मुक्त होता है, इस लोक और परलोक में सुख को प्राप्त करता है–

ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितृणां मुमुचे स बन्धनात्।[3]

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।

सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे।।[4]

इस गृहस्थाश्रम की सफलता निर्भर करती है सुखी एवं सफल दाम्पत्य–जीवन पर। कवि कालिदास ने कहा है कि महर्षि के सफल एवं सुखमय दाम्पत्य तथा गृहस्थ जीवन को देखकर भगवान् शंकर के अन्दर भी गृहस्थ जीवन को देखकर गृहस्थ जीवन के लिए आकर्षण उत्पन्न हुआ–

तद्दर्शनादभूच्छम्भोर्भूयान् दारार्थमादरः।

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सपत्न्यो मूलकारणम्।।[5]

कालिदास के ग्रन्थ रघुवंशम् में दाम्पत्य–जीवन का आदर्श रूप अज और इन्दुमती के दाम्पत्य–वर्णन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, जहाँ पर पति के द्वारा पत्नी की महत्ता और विशेषताओं की चर्चा है–

गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रिया शिष्या ललिते कलाविधौ।

करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्।।[6]

गृहिणी, मन्त्री, एकान्त की सखी और मनोहर कलाओं के प्रयोग से शिष्या थी। तुमको हरण करते हुए निर्दय मृत्यु ने मेरा क्या नहीं हरण कर लिया।

दाम्पत्य के कुछ महत्त्वपूर्ण अङ्गों का भी विशद उल्लेख महाकवि कालिदास ने दिलीप, दशरथ और राम के प्रसङ्ग में किया है। दिलीप और सुदक्षिणा के दाम्पत्य–जीवन में सुदक्षिणा सी 'दाक्षिण्यरूढा मनस्विनी' अर्थात् दूसरे के अनुकूल चलने वाली दृढचित आत्मानुरूपा पत्नी को पाकर महाराज दिलीप अपने को धन्य समझते हैं, परन्तु साथ ही साथ वह रानी सुदक्षिणा की छोटी–छोटी इच्छाओं का सम्मान तथा पूर्ति का प्रयास भी करते हैं, यहाँ दाम्पत्य सन्तुलन है। इस प्रकार परम स्नेही पति और परम पतिव्रता पत्नी हो तो 'अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया' के मध्य

---

३. रघुवंशम्, ३.२०

४. वही, १.६

५. कुमारसम्भवम्, ६.१३

६. रघुवंश, ८.६७

दाम्पत्य–जीवन में किसी प्रकार की विकृति नहीं आ सकती।

सफल दाम्पत्य के लिए इसमें स्थायित्व एवं एकरूपता की अपेक्षा होती है। प्रेम दिव्य होता हुआ भी स्वभाव से असहिष्णु होता है। वह किसी प्रकार के द्वैधीभाव को नहीं सहन कर सकता है, इसीलिए कालिदास ने दाम्पत्य–जीवन की दृष्टि से उचित एवं एक–पत्नीत्व का ही आदर्श प्रस्तुत किया। इस प्रकार के दाम्पत्य से ही दाम्पत्य–जीवन की समृद्धि और वंश की वृद्धि भी होती है। राजा दशरथ के दाम्पत्य के उदाहरण में महाकवि कालिदास ने प्रथमतः दशरथ की तीनों रानियों को पत्नीत्व का समान महत्त्व दिया फिर उनके प्रति दशरथ के व्यवहार में अन्तर का सङ्केत करके उसमें विषमता को व्यञ्जित कर दिया। राजा दशरथ ने यज्ञ में प्राप्त चरु का आधा भाग अपनी अर्चिता रानी कौशल्या तथा आधा भाग अपनी 'प्रिया' पत्नी कैकेयी को दे दिया तथा इच्छा प्रकट की कि वे अपने–अपने भाग में थोड़ा–थोड़ा सुमित्रा को दे दें–

'अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा।'

अतः सम्भाविता ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः।।'[८]

इस प्रकार यहाँ पर एक को आदर प्राप्त हुआ, दूसरी को सम्मान तथा तीसरी के अंश में रिक्तता आयी। दाम्पत्य का सन्तुलन नहीं रहा, इस द्वैधीभाव ने गृह–कलह को जन्म देकर गृहस्थ तथा दाम्पत्य जीवन को नष्ट कर दिया। स्पष्ट है कि गृहस्थ आश्रम का आधार है विवाह। अतः कालिदास ने केवल काम–वासना की पूर्ति के लिए विवाह की व्यवस्था नहीं दी है। गृहस्थ की पूर्ति के लिए शास्त्र–सम्मत विवाह दीक्षा की आवश्यकता है। 'रघुवंशम्' में सभी का विवाह धर्मसम्मत विधि से हुआ है, जहाँ शास्त्रीय विधियों का पालन नहीं हुआ वहाँ पर अग्निवर्ण जैसे दाम्पत्य का उदाहरण प्रस्तुत होता है। उसका विवाह शास्त्रीय–विधि से नहीं हुआ, परिमाणतः गृहस्थाश्रम का उत्तरदायित्व पूर्णतः निर्वाह नहीं हो सका। गृहिणी की अपेक्षा रूपाजीवाओं की आराधना हुई, फलतः दाम्पत्य–जीवन नष्ट हो गया। 'शाकुन्तलम् में शकुन्तला और दुष्यन्त की विपत्ति का कारण उनका अशास्त्रीय विवाह बना। दुष्यन्त ने शकुन्तला को गृहिणी बनाने व गृहस्थ बनाने के लिए प्रेम नहीं किया था। वह तो शकुन्तला का सौभाग्य था कि वह अनचाहे ही गृहस्थ बन गई। यहाँ तक कि शङ्कर और पार्वती का इतना प्ररूढ स्नेह भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने के लिए शास्त्रीय दीक्षा की अपेक्षा रखता है। इससे स्पष्ट होता है कि कालिदास विवाह के किस रूप को अधिक उपयुक्त समझते थे।

---

७. रघुवंशम्, २.२

८. वही, १०.५५

कालिदास के ग्रन्थों में स्त्रियों के अधिकारों का वर्णन है। कालिदास नारियों की शिक्षा के समर्थक थे, उनकी सभी नायिकाएँ शिक्षित तथा परिष्कृत चित्तवाली तथा चित्रकला, नृत्य, संङ्गीत, कविता इत्यादि सभी विषयों में निपुण थीं। कालिदास यह मानते हैं कि विवाह और मातृत्व नारी के कर्त्तव्य ही नहीं हैं, प्रत्युत भूषण भी हैं। महाकवि कालिदास स्त्रियों के सम्मान तथा अधिकारों के प्रति भी सचेत हैं, क्योंकि कन्या के विवाह–सम्बन्ध में पिता की अपेक्षा माता के परामर्श को अधिक महत्त्व देते हैं– **'प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः'**।[९] कुमारसम्भवम् में भी हिमालय की पत्नी मेना को मुनियों द्वारा 'मुनीनामपि माननीया' बतलाया है। दाम्पत्य एवं उसके कर्त्तव्यों एवं आनन्दों का वर्णन कवि ने अतीव प्रसन्नता से किया है। कवि मानता है कि स्त्री के ऊपर पुरुष का सर्वाधिकार है– **'उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी'**[१०], लेकिन वह स्पष्ट निर्देश करता है सच्ची साध्वी गृहिणी घर की देवता, मन्त्री और मित्र सब कुछ हुआ करती है। कुमारसम्भवम् में उन्होनें सती साध्वी पत्नियों का सहयोग धार्मिक क्रियाओं में अनिवार्य बतलाया है– **'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्'**[११]। उस समय अनेक पत्नियाँ रखने की प्रथा राजाओं में अवश्य प्रचलित थी और कालिदास ने कहीं इसका स्पष्ट विरोध नहीं किया, लेकिन उनके आदर्श राम हैं, जो एकपत्नी व्रती हैं। वह यह भी कहते हैं कि व्यापक हितों एवं कर्त्तव्यों के अनुरोध पर नारियाँ अपने पतियों को नियन्त्रित अथवा निर्देशित कर सकती हैं।

इस प्रकार महाकवि कालिदास ने अपने ग्रन्थों के द्वारा वर्तमान समय में दाम्पत्यजीवन–विषयक मानवाधिकार का उत्कृष्ट उदाहरण विशिष्ट पात्रों के द्वारा प्रस्तुत किया है। महाकाव्यों के ये उत्कृष्ट उदाहरण न केवल दाम्पत्य–जीवन की विषमता एवं सफलता का सूत्र प्रस्तुत करते हैं, अपितु हमें यह भी अवगत कराते हैं कि यदि हम इसका गहन अध्ययन करें तो हमारे हिन्दू विवाह–विधि और कालिदास कृत ग्रन्थों में चित्रित दाम्पत्य–जीवन में दाम्पत्य–विषयक मानवाधिकार के समान तत्त्वों का ही अङ्गीकार किया गया है।

***

---

९. कुमारसम्भवम्, ६.८५
१०. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५.२६
११. कुमारसम्भवम्, ६.१३

डॉ० सुनीता जायसवाल
चकिया, चन्दौली, उ०प्र०

संस्कृत–साहित्य में परिलक्षित स्त्रियों की समानता के अधिकार–वर्तमान मानवाधिकार के आलोक में

कुछ आवश्यक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य प्राप्त होने चाहिए क्योंकि वह मानव–परिवार का सदस्य है। परन्तु ये न्यूनतम अधिकार इस प्रकार के होने चाहिए कि उन अधिकारों के उपयोग से दूसरे मानव की गरिमा का हनन न हो। ये न्यूनतम अधिकार प्रत्येक मानव की गरिमा को बनाए रखने के लिए अनिवार्य हैं और इस प्रकार के अधिकारों को ही मानवाधिकार कहा जाता है। ये न्यूनतम मानवाधिकार मनुष्य के शारीरिक और मानसिक जीवन एवं स्वास्थ के लिए तात्त्विक हैं।

'मानवाधिकार' शब्द, मानवाधिकार से सम्बन्धित फ्राँसीसी राजनैतिक क्रान्ति से लिया गया है। 'मानवाधिकार' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अमरीकी राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने १६ जनवरी १६४१ में कांग्रेस को सम्बोधित अपने प्रसिद्ध सन्देश में किया था। मानवाधिकार को परम्परागत रूप से 'प्राकृतिक अधिकार', 'अन्य–असङ्क्राम्य अधिकार', 'अहस्तान्तरणीय अधिकार', 'जन्मजात अधिकार, 'नैसर्गिक अधिकार' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार' आदि सञ्ज्ञाओं से भी अभिहित किया जाता है।

'मानवाधिकारों' के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रतिपदित किए गए। प्रारम्भ में मानव–अधिकारों के सम्बन्ध में सर्वप्रमुख सिद्धान्त प्राकृतिक–विधि के दार्शनिकों ने यह प्रतिपादित किया कि प्राकृतिक अधिकार ही सर्वोच्च हैं। प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं जो मनुष्य की प्रकृति में अन्तर्निहित हैं। इस प्रकार मानवाधिकार प्राकृतिक अधिकरण के रूप मे माना गया है। इन अधिकारों को प्राकृतिक–विधि के दर्शनिकों ने आत्यन्तिक और निरपेक्ष बताया और यह प्रतिपादित किया कि प्राकृतिक अधिकार सर्वव्यापी हैं क्योंकि इन दार्शनिकों की यह सम्पूर्ण परिकल्पना विदेशों में भी चरितार्थ हुई।

विदेशों में उपर्युक्त प्राकृतिक–विधि के दार्शनिकों की मानवाधिकार की सम्पूर्ण सङ्कल्पना अव्यावहारिक ही रह गई, क्योंकि वहाँ प्राकृतिक अधिकारों के प्रवर्तन (enforcement) की व्यवस्था नहीं थी, परन्तु भारतवर्ष में ऋषि–मुनियों द्वारा धर्म–अधर्म, पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक तथा मृत्यु के पश्चात् विभिन्न योनियों में

पुनर्जन्म की व्यवस्था प्रतिपादित करने में समाज में एक अदृश्य ईश्वरीय सत्ता के भय से इन प्राकृतिक मानवाधिकारों के प्रवर्तन की व्यवस्था भी थी।

महात्मा तुलसीदास श्री रामचरितमानस में 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं' लिखते हुए कहते हैं कि – "हित अनहित पशु पक्षिहुँ जाना, मानुष तन गुण ग्यान निधाना"। प्राचीन भारत भी मानवाधिकार से अपरिचित नहीं था–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भवन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

संस्कृत के इस प्राचीन एवं सुप्रसिद्ध सुभाषित से यह स्पष्ट है कि संस्कृत का प्राचीन साहित्य भी मानवाधिकारों का संरक्षण करता था।

महिलाओं के अधिकारों के अभिवर्धन– हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की उद्देशिका में मूल मानव अधिकारों, सामाजिक व्यक्ति की गरिमा और मूल्य, मनुष्यों और स्त्रियों के समान अधिकारों के संवर्धन के लिए अन्ताराष्ट्रिय तन्त्र के उपयोग की घोषणा की गई है। स्त्रियों की मनुष्यों के साथ समता का उपबन्ध चार्टर के अनुच्छेद ०८ में किया गया है जो यह अधिकथित करता है कि– "सयुक्त–राष्ट्रसंघ अपने मुख्य तथा सहायक अंगों में स्त्रियों और पुरुषों की किसी भी हैसियत से और समानता के आधार पर भाग लेने की पात्रता पर कोई निर्बन्ध नहीं लगाएगा।" इस प्रकार पुरुषों और स्त्रियों की समानता का सिद्धान्त मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा में सम्मिलित किया गया है।

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के निर्माण में नारी की प्रमुख भूमिका रही है। किसी भी राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक विकास के मापदण्ड का प्रमुख आधार उस राष्ट्र की स्त्रियों को प्रदत्त मानवाधिकार, मूलाधिकार, कर्त्तव्य तथा नारी की स्थिति को ही माना जाता है। वर्तमान युग में स्त्रियों को जो मानवाधिकार प्राप्त हैं, वही मानवाधिकार भारतवर्ष में प्राचीन युग में भी प्रदत्त थे। संस्कृत–साहित्य में इस तथ्य के अनके प्रमाण प्राप्त होते हैं।

मानवाधिकार के सार्वजनिक घोषणापत्र के अनुच्छेद ०१–०२ और ०७ के अनुसार सभी मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र हैं और अधिकार तथा मर्यादा में समान हैं। प्रत्येक व्यक्ति बिना जाति, रङ्ग, लिङ्ग, भाषा, धर्म, राजनीति अथवा सामाजिक उत्पत्ति, जन्म अथवा किसी दूसरे प्रकार के भेदभाव के सभी अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का पात्र है। यह मानवाधिकार स्त्रियों के सन्दर्भ में संस्कृत–साहित्य में भी प्राप्त होते हैं–

ऐतरेय ब्राह्मण[1] तथा महाभारत[2] के विवरणों से ऐसा ज्ञात होता है कि पुत्री का जन्म कष्ट का कारण था परन्तु यह कष्ट अथवा दुःख क्षणिक ही होता था। उसका पालन–पोषण पुत्र के ही समान किया जाता था। आपस्तम्ब–गृह्यसूत्र के अनुसार पिता पुत्र के समान ही पुत्री के सुख तथा कल्याण की कामना करता था।[3] रामायण के अनुसार कन्या परिवार और समाज के लिए भाग्यदेवी थी एवं शुभ अवसरों पर उनकी उपस्थिति अनिवार्य होती थी। लम्बे वनवास के बाद जब श्री राम अयोध्या वापस लौटे, तब उनके स्वागत के लिए विशिष्ट लोग उपस्थित हुए उनमें कन्याएं भी थीं। इतना ही नहीं उनके राज्यभिषेक के समय धार्मिक स्नान भी कन्याओं ने ही सम्पन्न कराया था।[4]

कन्या का जन्म वेदना का कारण होने पर भी माता–पिता उनसे अगाध स्नेह किया करते थे। पुत्री से बिछुड़ने पर उन्हें उतना ही कष्ट होता था जितना पुत्र के बिछुड़ने पर। भारतीय शास्त्रों में स्नेह के अधिकार की दृष्टि से परिवार में पुत्र–पुत्री में कोई भेद नहीं किया गया है। विक्रमाङ्कदेवचरित के अनुसार कन्या जन्म दुःख का कारण होने पर भी वह कुलभूषण थी।[5] रघुवंश के अनुसार कालिदास युग में कन्या का दर्शन शुभ माना जाता था और माङ्गलिक अवसरों पर उसकी उपस्थिति आवश्यक होती थी।[6] दशकुमारचरित के अनुसार, "उस कन्या की प्राप्ति जो सम्पूर्ण माङ्गलिक चिह्नों की निधि के समान है, वैसे ही शुभप्रद है, जैसे दुग्ध रूपी करधनी को पहने तथा गंगा आदि सहस्रों नदियों की माला धारण किए हुए पृथ्वी को प्राप्त करना"।[7] हारीतस्मृति में कन्याओं को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है तथा गृही व्यक्ति को सलाह दी गई है कि वह सबसे पहले सुवासिनी कन्या को भोजन कराये।[8] कन्या पितृवत्सला भी थी। मत्स्यपुराण के अनुसार शील–सम्पन्न एक कन्या ही दस पुत्रों के समान सम्मानीय थी।[9] पिता अपनी पुत्रियों से अगाध स्नेह रखते थे और कभी–कभी तो स्नेह की पराकाष्ठा हो जाती थी। आचार्य शुक्र

---

१. 'सखा हजाया कृपर्णहि दुहिता ज्योतिर्हि पुत्रः परमेव्योमन्। ऐतरेय ब्राह्मण, ७.१८
२. 'आत्मा पुत्रः सखी भार्या कृञ्छं तु दुहिता नृणाम्।" महाभारत १.१७३.१०
३. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १५.१२–३
४. रामायण, ६.१३१.३८
५. विक्रमाङ्कदेवचरित, ६.३७ कन्याः कुलभूषणम्।।
६. रघुवंश, २.१२
७. दशकुमारचिरत, भाग–२, ७०१३
८. सुवासिनीं कुमारीञ्च भोजयित्वा नरानपि। हारीतस्मृति
९. दशपुत्रसमा कन्या या न स्याच्छीलवर्जिता। मत्स्यपुराण, १५४.१५७,

अपनी दयिता पुत्री देवयानी से अगाध स्नेह करते थे। मत्स्यपुराण के अनुसार एक बार जब देवयानी को वृषपर्व की कन्या ने अपमानित किया तो पिता की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उनका क्रोध तभी शान्त हुआ जब वृषपर्व ने अपनी पुत्री शर्मिष्ठा को देवयानी की दासी बना दिया था।[१०] पौराणिक–विधान एवं दृष्टान्तों का समर्थन पुराणोत्तर ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। यथा–कालिदास ने पुत्री के स्नेह से आर्द्र पितृहृदय की मार्मिक पीडा का चित्रण अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला की विदाई के अवसर पर किया है।[११]

चार्टर के अनुच्छेद ०१ के अनुसार मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है और अधिकार तथा मर्यादा में समान है। उक्त मानवाधिकार संस्कृत–साहित्य में भी परिलक्षित होता है। ऋग्वेद के अनुसार वैदिक काल में स्त्री–पुरुष दोनों को समान अधिकार प्राप्त थे।[१२] सामाजिक तथा धार्मिक कर्तव्यों में दोनों समान रूप से भाग लेते थे। वैदिक युग में विविध अपराधों से सम्बन्धित मुकदमों के निर्णय के लिए न्यायालय की समुचित व्यवस्था थी, जिनमें स्त्री–पुरुष दोनों के मुकदमों का फैसला होता था।[१३] मेधातिथि ने मनुस्मृति की टीका में लिखा है कि "पति–पत्नी केवल शरीर से भिन्न होते हैं, परन्तु अन्य कार्यों में वे पूर्ण रूप से सम्बद्ध रहते हैं। आपसी विवादों में पति–पत्नी दोनों को राजा के पास अपील कर उचित न्याय प्राप्त करने का समानाधिकार प्राप्त था। पत्नी का अधिकार था कि वह पति का संरक्षण प्राप्त करे।

चार्टर के अुनच्छेद २६ के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार है। प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य होगी। तकनीकी और वृत्तिक (रोजगार–परक) शिक्षा साधारणतः उपलब्ध कराई जाएगी और उच्च शिक्षा सभी व्यक्तियों को गुणागुण के आधार पर समान रूप से प्राप्य होगी।[१४]

स्त्री–शिक्षा तथा व्यवसाय से सम्बन्धित उक्त मानवाधिकार संस्कृत–साहित्य में भी परिलक्षित होते हैं। जीवन के समस्त पहलुओं के सर्वाङ्गीण–विकास का माध्यम शिक्षा है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की ओर दृष्टिपात करने पर शिक्षा के क्षेत्र में भी समान अधिकारों से नारी की स्थिति अत्यन्त सुदृढ एवं सन्तोषजनक प्रतीत होती है। कन्याओं के लिए भी वेदाध्ययन आवश्यक था क्योंकि स्त्रियों को नियमित रूप से प्रातः–सायं वैदिक प्रार्थनाएँ करनी पड़ती थी। पत्नियाँ यज्ञादि में पति के साथ

---

१०. मत्स्यपुराण, २६.१–१८
११. शाकुन्तलम्, ४.८
१२. ऋग्वेद, ५.६१.८
१३. याज्ञवल्क्यस्मृति, २.८
१४. मेधातिथि की मनुस्मृति टीका, १.३२

मन्त्रोच्चारण करती थीं। रामायण की सीता नियमित रूप से सन्ध्या करती थीं।[15] मीमांसा जैसे गूढ विषयों में भी स्त्रियाँ रुचि लेती थीं। इसका प्रमाण "काशकृत्स्नी" नामक ग्रन्थ है, जिसकी रचना काशकृत्स्ना नामक ब्रह्मज्ञानी ने की थी। जो स्त्रियाँ उसमें विशेषज्ञता रखती थीं उन्हें 'काशकृत्स्ना' कहा जाता था। वैदिक युग में गार्गी, मैत्रेयी, अपाला, आत्रेयी, भारती, मेना, वयुना, धारिणी, कात्यायिनी, आदि अनेक ब्रह्मवादिनी तथा विदुषी नारियाँ थीं।

विक्रमाङ्कवेचरित के अनुसार स्त्रियों को प्राकृत तथा संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था। विल्हण ने कश्मीर की स्त्रियों की प्रशंसा में लिखा है कि वे संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाएँ धाराप्रवाह बोलती थीं।[16] स्त्रियों का व्यावहारिक, व्यावसायिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। वृहदारण्य–कोपनिषद्[17] के अनुसार उच्चकोटि की दार्शनिक महिला गार्गी वाचक्नवी ने दर्शनशास्त्र पर याज्ञवल्क्य से अनेक प्रश्न किए थे, तथा याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी वेदान्त की छात्रा थीं। इन्होंने याज्ञवल्क्य से ब्रह्म–विषयक प्रश्न किये थे।[18]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार स्त्रियाँ दरबार का प्रमुख अङ्ग थी और राजदरबार में राजाओं के चारों ओर स्त्रियाँ रहती थी।[19] मनु ने राजशासन के अन्तर्गत स्त्री–पुरुष में कोई भेद नहीं किया है। विविध पक्ष में मनु ने स्त्रियों के व्यवहारों में स्त्रियों को साक्षी बनाये जाने का समर्थन किया है।

व्यवसायिक शिक्षा के अन्तर्गत स्त्रियाँ चिकित्सा–विज्ञान की शिक्षा भी ग्रहण करती थीं। 'रूसा' नामक एक स्त्री चिकित्सक ने प्रसवविज्ञान पर प्रामाणिक एवं पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा था, और जिसे खलीफा हारु ने आठवीं शताब्दीं में अरबी भाषा में अनुवाद कराया था।[20]

इसके अतिरिक्त आश्वलायन गृह्यसूत्र[21] में गार्गी वाचक्नवी, वडवा प्रातिरथेयी एवं सुलभा मैत्रेयी नामक तीन स्त्री शिक्षिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अध्ययन के पश्चात् कुछ स्त्रियाँ अध्यापन का कार्य भी करती थीं।[22]

---

१५. रामायण, ६.१३१-३८

१६. विक्रमाङ्कदेवचरित, १८.६

१७. वृहदारण्यकोपनिषद्, ३.६.८

१८. वही, २.४.१

१६. अर्थशास्त्र–कौटिल्य–अध्ययन, २०

२०. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ, १२२

२१. आश्वलायनगृह्यसूत्र, ३.४

२२. पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ, २८१

पञ्चजलि महाभाष्य के अनुसार शिक्षिकाओं को 'उपाध्याया' एवं 'आचार्या' कहा जाता था।[२३]

शास्त्र के साथ–साथ शस्त्र की शिक्षा भी स्त्रियों को अनिवार्य रूप से प्रदान की जाती थी। विष्णुपुराण के अनुसार श्रीकृष्ण ने स्वजन सुरक्षार्थ द्वाराक में जो दुर्ग–बनवाया था उसमें पुरुष सैनिकों के अतिरिक्त स्त्री भी नियुक्त थीं।[२४] राजतरङ्गिणी के अनुसार युद्धक्षेत्र में स्त्रियाँ अपने पति के साथ जाया करती थीं। राजतरङ्गिणी के अनुसार विजयमल्ल की रानी अपने पति के साथ युद्ध–क्षेत्र में गई थीं।[२५] इस प्रकार वैदिक एवं लौकिक संस्कृत–साहित्य में विद्यमान उक्त सभी साक्ष्य स्त्रियों के प्राचीन काल में सभी प्रकार की शिक्षा में समानता के मानवाधिकार को सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार संस्कृत–साहित्य में प्राप्त होने वाले स्त्रियों के समानता एवं शिक्षा की स्वतन्त्रता के विविध मानवाधिकारों के अनुशीलन एवं विश्लेषणोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानवाधिकारों की अवधारणा अति प्राचीन है। मानवाधिकारों की धारणा मानव–सुख से जुड़ी है। आधुनिक काल में यह माना जाने लगा है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुख–समृद्धि मानवाधिकारों की उपलब्धि और उपभोग पर आधारित हैं। 'साहित्य समाज का दर्पण है, क्योंकि किसी भी देश के किसी विशेष कालखण्ड में सृजित साहित्य में तत्कालीन समाज का सम्यक्, समुचित, स्पष्ट एंव यथार्थ प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। विभिन्न वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्यानुशीलन के पश्चात् यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित एवं प्रमाणित होता है कि तत्कालीन समाज में सभी प्रकार की स्त्रियों को जन्म, जाति, रङ्ग, लिङ्ग, भाषा, धर्म के भेदभाव से रहित जन्म, अधिकार, कर्त्तव्य, सम्मान एवं मर्यादा की स्वतन्त्रता की समानता तथा प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च, तकनीकी एवं वृत्तिक अर्थात् रोजगारपरक शिक्षा पुरुषों के समान प्राप्त करने की स्वतन्त्रता के प्रवर्तनीय मानवाधिकार प्राचीन युग में भी प्राप्त थे।

***

---

२३. पतञ्जलि महाभाष्य, ४.१.४६

२४. विष्णुपुराण, ५.२३.११, तस्माद् दुर्गं करिष्यामि–पुंङ्गवा।।

२५. राजतरङ्गिणी ७.६०.५–६ आश्रिलव्य पृष्ठं तिष्ठन्त्या.....मानुषम्।

डॉ० गीता शुक्ला
लखीमपुर–खीरी

मृच्छकटिक के परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार की अवधारणा

मानवाधिकार अर्थात् 'मानव के अधिकार'। मानवाधिकार को सामान्यतः इस प्रकार कहा जा सकता है कि "वे अधिकार जिनका उपयोग या उपभोग करने का अधिकारी प्रत्येक मनुष्य है और इन अधिकारों की सुरक्षा प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है।" मानवाधिकार के मूल में यह भाव निहित है कि सभी मनुष्यों (पुरुष, स्त्री एवं बच्चों) के साथ व्यवहार करते हुए उन सभी सिद्धान्तों का सम्मान किया जाना चाहिए जो किसी न किसी रूप में सभी संस्कृतियों में विद्यमान हैं।

मानवाधिकार की अवधारणा का इतिहास अति प्राचीन है। इस अवधारणा का विकास सत्ता के निरंकुश उपयोग पर अंकुश लगाने के लिए एक शस्त्र के रूप में हुआ था। १३वीं शताब्दी में ब्रिटेन के राजा और सामन्तों के मध्य मैग्नाकार्टा (१२१५) नामक समझौता हुआ। इनमें से कुछ धाराओं का मुख्य उद्देश्य न केवल ब्रिटेन के सामन्तों के विशेषाधिकारों की रक्षा करना था बल्कि आम व्यक्तियों के हितों की रक्षा करना भी था।[1]

सन् १६८६ में ब्रिटेन में हुई क्रान्ति के नेताओं ने 'बिल ऑफ राइट्स' के द्वारा उन मूल स्वतन्त्रताओं का निर्धारण किया जो सभी नागरिकों को दी जाती थीं।[2]

मानवाधिकारों की धारणा सन् १६३२ से पहले स्पष्ट तौर पर विकसित नहीं हुई थी। अंग्रेज राजनैतिक विचारक जॉन लॉक ने मानव के प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त अर्थात् मानवाधिकारों की धारणा पर बल देकर ठोस आधारशिला रख दी थी और कहा था कि जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार मानव के जन्म से ही प्रकृति द्वारा प्रदान किए गए हैं, अतः ये अधिकार व्यक्तित्व के अटूट अङ्ग हैं।

सन् १७८६ में होने वाली फ्रांस की क्रान्ति का नारा था 'स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व'। फ्रांस की क्रान्ति में क्रान्तिकारियों में तत्कालीन सम्राट् लुई १६वें को मौत की सजा देने के साथ–साथ मनुष्यों के अधिकारों का घोषणापत्र भी तैयार किया।[3]

---

१. मानवाधिकार और भारत, ऋतु सारस्वत योजना, नई दिल्ली, अप्रैल, २००६
२. लेह लेविन, ह्यूमन राइट्स नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, २००२
३. मानवाधिकार और भारत, ऋतु सारस्वत, 'योजना' अप्रैल, २००६

मानवाधिकारों को सङ्गठित करने का अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास २५ दिसम्बर १६२६ को दासता के विरूद्ध हुए विश्व सम्मेलन में सामने आया। सन् १६३० में बलात् श्रम पर सम्मेलन होने के १८ वर्ष बाद[४] १० दिसम्बर १६४८ को संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने मानव अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा की और उसका ऐलान किया।

हमारे देश में मानवाधिकारों की माँग स्वतन्त्रता से पहले सन् १८६५ में की गई थी। देश के अनेक नेताओं[५] ने मानव गरिमा और स्वतन्त्रता के लिए व्यापक आन्दोलन चलाए। इनमें से स्वराज्य को भारतीयों के अस्तित्व के लिए अनिवार्य बताते हुए 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' नारा देने वाले तिलक का सम्पूर्ण जीवन ही वस्तुतः स्वराज्य की प्राप्ति में बीत गया।[६] महात्मा गाँधी भी तिलक की तरह १६वीं व २०वीं शती में मानव अधिकारों का हनन रोकने वाले अग्रणी नेता माने जाते हैं।

आजादी के बाद सन् १६५० में भारतीय संविधान लागू हुआ। संविधान निर्माताओं ने मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को पूरा सम्मान दिया[७] और संविधान के तीसरे भाग में भारतीय नागरिकों के आधारभूत अधिकारों को सम्मिलित किया, क्योंकि संविधान निर्माता मानव अधिकारों के लिए प्रतिबद्ध थे। ऐसा मात्र इसलिए था क्योंकि औपनिवेशिक काल में भारतीयों को इनसे वञ्चित रखा गया। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के संस्थापक सदस्य के रूप में भारत ने मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा सम्बन्धी सिद्धान्तों को बढ़चढ़ कर स्वीकारा था।[८] इस प्रकार मानव अधिकार का इतिहास अनेक उतार–चढ़ावों से युक्त है।

भारतीय संविधान में सम्पूर्ण भारत के लिए एक समान नागरिकता की व्यवस्था की गई है। सामान्य रूप से सङ्घात्मक शासन में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है। पहली संघ की, दूसरी राज्य की। परन्तु भारतीय व्यवस्था में मात्र संघीय नागरिकता है। १६५५ में नागरिकता अधिनियम लागू होने के पश्चात् नागरिकता ग्रहण करने तथा समाप्त करने के सम्बन्ध में प्रावधान दिए गए हैं। इसका यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है परन्तु संविधान के मौलिक अधिकार संक्षेप में दिए जा रहे हैं–

---

४. विना हथियार का पहरेदार, राजिन्दर सच्चर, पानीपत, १० दिनाङ्क, २०००

५. श्री गोपालकृष्ण गोखले, श्री बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी, पं० जवाहर लाल नेहरू तथा जय प्रकाश नारायण आदि

६. इण्डियन पॉलिटिकल थॉट, रामजी लाल व एस० बी० दीक्षित पृष्ठ, १०२

७ ऋतु सारस्वत, 'योजना' अप्रैल, २००६

८. भारतीय संविधान और गणतंत्र के हाल–हवाल, ज्ञानेन्द्र रावत, दैनिक ट्रिब्यून विशेषांक (चंडीगढ) २६ जनवरी, २००६

१. समानता का अधिकार

२. विचारों की अभिव्यक्ति का अधिकार

३. शोषण से रक्षा का अधिकार

४. अन्तःकरण की प्रेरणा तथा धर्म को निर्बाध रूप से मानने, उसके अनुसार आचरण करने और उसका प्रचार–प्रसार करने की स्वतन्त्रता का अधिकार

५. नागरिकों के किसी वर्ग की अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि के संरक्षण करने तथा अल्पसंख्यकों द्वारा पसन्द की शिक्षा ग्रहण करने एवं शिक्षण–संस्थाओं को चलाने का अधिकार

६. मूल अधिकारों को लागू करने के लिए संवैधानिक उपचारों का अधिकार

इस प्रकार संविधान में भारत की प्राचीन संस्कृति 'सर्वे भवन्तु सुखिनः............ भाग्भवेत्' की धारणा से नागरिकों को स्वस्थ रखने का प्रावधान संविधान में रखा गया है। ब्रिटिश साम्राज्य ने भारतीय संस्कृति के प्रभाव को समाप्त करने का प्रयास किया, इसलिए ब्रिटिश शासन काल[९] में सम्पूर्ण भारत में मूल अधिकारों की कोई भी सङ्कल्पना नहीं थी, परन्तु महात्मा गाँधी भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन के जननायक थे। वे भारत को उसकी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर विकसित करना चाहते थे। गाँधी जी के स्वप्न के अनुसार ही भारतीय परम्परा का अनुपालन करते हुए भारत के लोगों में शोषण के विरुद्ध मौलिक अधिकार प्रदान किए गये। गाँधी जी के भारत की संस्कृति को महत्त्व देते हुए समान अवसर की बात कही गयी।

प्रत्येक मानव अधिकार मूलाधिकार को समाहित करता है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि मूलाधिकार मानवीय अधिकार क्यों है? उत्तर यह है 'क्योंकि संविधान देश के शासन के लिए कायिक दस्तावेज है।'[१०] उल्लेखनीय है कि मानवाधिकार विशुद्ध रूप से मानव द्वारा निर्मित है तथा इनकी विश्वसनीयता में कोई संदेह नहीं है। इन अधिकारों की रक्षा से ही समाज की प्रगति सम्भव है तथा इन अधिकारों की रक्षा का उत्तरदायित्व सरकार का है, परन्तु ध्यातव्य है कि अपने अधिकार प्राप्ति के लिए संविधान में बतलाए गए कर्त्तव्यों का पालन प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है क्योंकि हमारी संस्कृति 'कर्मण्येवाधिकारस्ते..............।''[११] की समर्थक है। वैसे भी संविधान में कर्त्तव्य, अधिकारों की अपेक्षा लगभग दोगुने हैं।

---

९. अठारवीं शताब्दी के आखिरी वर्षों से आजादी पाने तक का काल ब्रिटिश काल कहलाता है।

१०. जेम्स बनाम कामनवेल्थ, १६३६ आदि

११. श्रीमद्भगवद्गीता, २.४७

संस्कृत नाट्यसाहित्य प्रायः रामायण एवं महाभारत पर आश्रित है। अतः इसमें प्रायः आदर्शवाद की झलक है। किसी में आदर्श प्रेम तो किसी में आदर्श त्याग, परन्तु मृच्छकटिक में दोनों के सामञ्जस्य से यथार्थवाद पर आश्रित एक नवीन आदर्शवाद अपनाया गया है। इसलिए इस कृति ने सभी के हृदय में स्थान बनाया। यह कहना अनुचित न होगा कि संस्कृत में काव्यकला तथा नाट्यकला दोनों ही दृष्टियों से यह सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें केवल उत्तम कोटि के ही नहीं, अपितु मध्यम तथा अधम श्रेणी के पात्र भी विषय बनाए गए हैं। पारस्परिक भेद–भाव को मिटाकर बिखरे हुए समाज को एक सूत्र में गूँथने के लिए आदर्श, यथार्थवाद के आधार पर शूद्रक ने जो प्रयास किया है वह वास्तव में श्लाघनीय है और मानवाधिकार की अवधारणा यहीं से प्रारम्भ होती हैं। क्योंकि इसमें लगभग २७ पात्रों का समावेश है जिसमें समाज के प्रत्येक स्तर तथा समुदाय के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं परन्तु समस्त पात्र अपनी वर्गगत विशेषताएँ रखते हुए ऐसे चित्रित हुए हैं जिससे उनकी वैयक्तिक विशिष्टता झलक जाती है; यह मृच्छकटिक की एक विशेषता है।[१२] शोधपत्र का विषय मृच्छकटिक की उक्त विशेषताओं के कारण ही बनाया गया है।

मानवाधिकार का अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि यह राष्ट्रस्तरीय आयोग है। भारत में मानवाधिकार आयोग का पूर्णतया गठन १२ अक्टूबर सन् १९९३ ई० को किया गया। मानवाधिकार के सिद्धान्त को प्रायः दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है–

१. नागरिक अथवा राजनैतिक अधिकार तथा

२. आर्थिक और सामाजिक अधिकार

इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य अधिकार भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं जैसे– बालकों के अधिकार, स्त्रियों के अधिकार, आत्मनिर्णय के अधिकार, विकास का अधिकार, प्रवासी जन सुरक्षा अधिकार, अस्पृश्यता उन्मूलन का अधिकार तथा सभी को सुख–सुविधा प्राप्त करने का अधिकार आदि।

मानवाधिकार की वर्तमान अवधारणा प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में संरक्षित है। विविध काल–खण्डों में सृजित संस्कृत–साहित्य में उल्लिखित मानवाधिकार की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैदिक साहित्य नहीं अपितु रामायण से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में मानवाधिकार की अवधारणा को किसी न किसी रूप में वर्णित किया गया है। मृच्छकटिक भी उन्हीं ग्रन्थों में से एक है। मानवाधिकार का अध्ययन करने पर एक बिन्दु आता है–

---

१२. महाकवि शूद्रक, डॉ० रमाशंकर तिवारी

विधि के समक्ष समानता का अधिकार, जिसका अर्थ है कि 'यदि कोई निर्बल वर्ग आय के कारण असमान है तो उनकी निर्बलता को समाप्त करने के लिए ऐसे विधिक प्रावधानों को बनाया जायेगा जिससे उसकी निर्बलता समाप्त हो जाए तथा वह व्यक्ति सामाजिक समानता से अपने को उन्मुक्त कर सके।" इसे मृच्छकटिक में बखूबी अपनाया गया है। वस्तुतः मानवाधिकार मध्यम वर्ग के लिए ही है क्योंकि उच्चवर्ग तो अपने अधिकार छीनना जानता है और निम्नवर्ग मानवाधिकार है क्या? यही नहीं जानता।

मृच्छकटिक में मध्यम वर्ग से कथावस्तु का चयन किया गया है। संस्कृत–साहित्य का यह एक मात्र ऐसा नाट्य ग्रन्थ है जिसमें जीवन की कठोर वास्तविकता के दर्शन होते हैं तथा तत्कालीन समाज का सच्चा चित्रण मिलता है। इसीलिए यह अत्यन्त लोकप्रिय है। मृच्छकटिक में मानवाधिकार की अवधारणा को अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत स्पष्ट कर सकते हैं–

मृच्छकटिक में नागरिक अथवा राजनैतिक अधिकार :– मृच्छकटिक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मृच्छकटिक–काल में राजा शासन के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्र था परन्तु राजा राज्यमन्त्रियों की सम्मति से राज–कार्य सम्पन्न करते थे।[१३] राज्य छोटे–छोटे प्रदेशों में विभाजित था, अतः अनेक शक्तिहीन राजा होने और कोई सार्वभौम सम्राट् न होने से शासन–प्रबन्ध अच्छा न था। राजा पालक द्वारा आर्यक की हत्या इसका उदाहरण है।[१४] जबकि शासन सदैव वही अच्छा माना जाता है, जिसमें सुयोग्य अधिकारियों को धर्म और नीति के अनुकूल विचारों को पूर्ण करने का अवसर मिले। इसीलिए गणतन्त्र–शासन की सराहना की जाती है। एक ग्रीक विद्वान् ने भी इसका समर्थन किया है।[१५]

न्याय सम्बन्धी विषयों में राजा अन्तिम अधिकारी था, परन्तु जिस राजतन्त्र में राजा और उसके सम्बन्धी केवल इसलिए कि वे राजघराने के हैं, अपने अधिकारों का यदि असीमित रूप से दुरुपयोग करें तो क्यों न वह कुशासन अनीति के गर्त में विलीन होगा। तभी तो शकार का अधिकरणिक[१६] से यह कहने का साहस हुआ कि इस न्यायाधीश को निकलावाकर किसी दूसरे को नियुक्त करवाऊँगा[१७], परन्तु शूद्रक ने राजा पालक पर आर्यक की विजय दिखाकर अनीति पर नीति की विजय प्रदर्शित की है।

---

१३. मृच्छकटिक, ६.१४

१४. वही, १०.५१

१५. हीरोडीट्स

१६. न्याय–विभाग का उच्च अधिकारी अधिकरणिक कहलाता है।

१७. मृच्छकटिक, नवम अङ्क

राजा व राज्य की सुरक्षा के लिए गुप्तचर विभाग की व्यवस्था थी। नगर की आभ्यन्तर व बाह्य सुरक्षा के लिए विशिष्ट पदाधिकारी नियुक्त थे। चेट द्वारा चारुदत्त की रक्षा तथा भिक्षु द्वारा वसन्तसेना की रक्षा मानवाधिकार का ही उदाहरण है।

दण्डधारक को दण्ड का अधिकार था। नगर की रक्षा का भार इसी पर होता था। अतः इसे नगर रक्षाधिकर्ता तथा तान्त्रिक भी कहा जाता था। इसके अधीन पूरी पुलिस होती थी। राज्य के लिए कानून बनाने का अन्तिम और पूर्ण अधिकार राजा का ही था। यह पद वीरक को प्राप्त था।

मृच्छकटिक में आर्थिक व सामाजिक अधिकारः– मृच्छकटिक–कालीन समाज में शिक्षा, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, हस्तिशिक्षा, अश्वशिक्षा तथा ललित कलाओं का पर्याप्त विकास था।[१८] इस समय जाति–व्यवस्था कठोर नही थी। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य हैः–

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो............।[१९]

अतुल धन सम्पत्ति होते हुए भी समाज का स्थान अत्यन्त निम्न था। मृच्छकटिक में एक ओर वैभवपूर्ण जीवन–यापन और दूसरी ओर निर्धन दशा में दीन–हीन–जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गयी है, जिससे स्पष्ट है कि किस प्रकार एक विधर्मी पूँजीपति अनेक कठिनाइयों से ग्रस्त धर्मात्मा को पराजित करने में निष्फल होता है। कहीं–कहीं जातिगत कठोरता भी दिखाई देती है। सती प्रथा व दासी प्रथा भी प्रचलित थी।[२०] दास और दासियाँ अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति भी रख सकती थीं। क्रीत दास पर स्वामी का पूरा अधिकार होता था।

समानता का अधिकार मृच्छकटिक की धार्मिक स्थिति के अवलोकन से स्पष्ट होता है क्योंकि शिव, विष्णु और बौद्ध धर्म के साथ ही ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्र, गणेश, दुर्गा आदि तथा वैदिक देवताओं इन्द्र व रुद्र आदि की भी चर्चा की गई है।[२१] वर्णाश्रम धर्म[२२] पर भी समन्वयात्मक दृष्टि दिखाई देती है। पुरुषों को बहुविवाह का अधिकार था। कुलवधू को सम्मानीय पद प्राप्त करने का अधिकार था। शासकीय दृष्टि से अस्पृश्यता की भावना नहीं थी। अधिकार के दुरुपयोग से पारस्परिक विश्वास का

---

१८. मृच्छकटिक, १.४,५
१९. वही, १.३२
२०. वही, ६.१६
२१. वही, १.१
२२. मृच्छकटिक, १०.६१

अभाव था। ब्राह्मणों का समाज में विशेष अधिकार व सम्मान था। "वेदों के पठन–पाठन का अधिकार उच्च वर्णों को ही प्राप्त था, शूद्रों को नहीं।[23] स्त्रियों की पति की सम्पत्ति के अतिरिक्त कुछ निजी सम्पत्ति भी होती थी, जैसे धूता के पास मायके से प्राप्त रत्नावली थी। मित्र की रक्षा के लिए व्यक्ति बड़े से बड़ा बलिदान कर सकता था। इस प्रकार सभी पात्रों के कार्य और व्यवहार अपनी–अपनी परिस्थिति के अनुसार दिखलाए गए हैं। यह विशेषता अन्य संस्कृत–नाटकों में नहीं मिलती।

इस प्रकार मृच्छकटिक में न केवल मुख्य अपितु गौण मानवाधिकार भी दृष्टिगोचर होते हैं। ये मानवाधिकार व्यक्ति की आवश्यकता हैं जिनके अभाव में व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और उसका जीवन एक मानव के लिए उपयुक्त नहीं माना जा सकता।[24]

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि– 'मानवाधिकार वर्तमान युग की एक मानवीय आवश्यकता है। इस के अभाव में एक व्यक्ति जीवन नहीं जी सकता। मानवीय अधिकार एक मनुष्य को मानव होने के नाते मिलते हैं। इस प्रकार मानव अधिकार यानी मनुष्य के अधिकार वे अधिकार जिनका सम्बन्ध आपसे हमसे और हम सबसे है। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन जीने का अधिकार ही मानव अधिकार है।[25]

मृच्छकटिक में लगभग सभी मानवाधिकारों का वर्णन किसी न किसी रूप में हुआ है। मानवाधिकार कोई नया शब्द नहीं बल्कि मानव के उद्भव से लेकर आज तक की प्रगति का द्योतक है।

***

---

२३. वही, ६.२१

२४. एस०एस० नारंग भारत में लोकतंत्र राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद नई दिल्ली जून, २००३

२५. जस्टिस आर०एल० आनन्द: अध्यक्ष पंजाब राज्य मानवाधिकार आयोग

दीप्तिशिखा श्रीवास्तव
लखनऊ

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्राणियों के प्रति प्रेम और दया–मानवाधिकार के परिप्रेक्ष्य में

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है–

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'[1]

तथा श्रीमद्रामचरितमानस की दृष्टि में–

'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभू मूरति तिन्ह देखी तैसी'[2]

इन दोनों ही पङ्क्तियों का भाव यही है कि अपने ईश को जीव जिस रूप में देखता है, वे परमात्मा उसी रूप में उसे प्राप्त हो जाते हैं। कुछ इसी प्रकार का भाव हम कविकुलशेखर कालिदास के कालजयी साहित्य के सन्दर्भ में पाते हैं। कविवर के साहित्यावगाहन की कुछ ऐसी विशिष्टता है कि रत्नाकरावगाहनवत् प्रत्येक विद्वान् इसमें अपनी रुचि के अनुसार भावरूप जगमगाते हीरे खोज ही लेता है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे यह ग्रन्थ विशेष उसी भावविशेष को दृष्टि में रखकर रचा गया हो। इस दृष्टि से प्रस्तुत शोधपत्र में कालिदास की रचनाओं में **'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'[3]** का अनुसरण करते हुए भारतीय संस्कृति के दिव्योज्ज्वल 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में मानवाधिकार के परिप्रेक्ष्य में प्राणियों के प्रति दया और प्रेम का ग्रहण किया गया है।

अन्न, आवास और वस्त्र जीवन की मूलभूत और अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। इनके अतिरिक्त सामाजिक जीवन की एक और आधारभूत आवश्यकता है– अधिकार– जिसके अभाव में समाज के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सामान्यतः समाज द्वारा मानव को प्रदत्त उन बाह्य सुविधाओं को अधिकार की सञ्ज्ञा दी जाती है जिनके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास सम्भव होता है। माता के गर्भ के बाहर आते ही मानव होने के नाते स्वस्थ वातावरण में

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता ४.११ पूर्वार्द्ध

२. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास (आचार्य बलदेव उपाध्याय) के पृ. ४६८ पर उद्धृत

श्वास लेना अर्थात् सम्पूर्ण मान–मर्यादा के साथ जीना प्रत्येक प्राणी का जन्मसिद्ध अधिकार है, जिसे व्यवस्थित रूप में 'मानवाधिकार' कह सकते हैं। मानवाधिकार की एकमात्र अर्हता है– प्राण धारण करना। इसके अनुसार प्रत्येक जीव चाहे वह उच्चकुलोत्पन्न हो अथवा नीचकुलोत्पन्न कोई भी मनुष्य हो, पशु हो अथवा पक्षी तथा इनसे इतर कोई वृक्ष, लता आदि वनस्पति हो, चूँकि सभी में चेतन हैं। अतएव सभी को यावदायु जीने का अधिकार है। इस प्रकार मानवाधिकार शब्द को मानवों तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए प्रत्युत यह समस्त जीवों से सम्बन्धित होने के कारण विस्तृत अर्थ में ग्राह्य है।

मानवाधिकार का यह दृष्टिकोण जितना अधिक आधुनिक है उतना ही अधिक पुरातन भी। तभी वेदों के युग से लेकर आज के वैज्ञानिक और मशीनरी युग में भी इसकी चर्चा होती आई है और आगे भी होती रहेगी। इस प्रसङ्ग में कविवर कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि मानवाधिकारों के प्रशंसक होने के साथ–साथ संरक्षक और पोषक भी थे। उक्त तथ्य को प्रमाणित करने के लिए शाकुन्तलम् के कतिपय उद्धरण व प्रसङ्ग यथामति प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

नाटक के आदि में कृष्णसार मृग को अपने वाणों से आहत करने को तत्पर नृप दुष्यन्त को रोकते हुए तपस्वीजन कहते हैं–

राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः[४]

अर्थात् आश्रम का यह मृग मारने योग्य नहीं है अतः नहीं मारना चाहिए। इसी क्रम में तपस्वी आगे कहते हैं–

तत्साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।।[५]

आश्रम के सात्त्विक वातावरण के प्रभाव से राजा दुष्यन्त मृगया से विमुख हो जाते हैं और सेनापति द्वारा की गई मृगया–विषयक प्रशंसा[६] का अनुमोदन भी नहीं करते। वह कहते हैं कि महिष, मृग तथा शूकर आदि वन्य पशु निर्भयतापूर्वक वन में विचरण करें, अर्थात् उन्हें मुझसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है–

---

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क पृष्ठ – १२२

५. वही, १.११

६. वही, २.५

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं

छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।

विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले

विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः।।[७]

इन उद्धरणों में नाटकार ने पात्रों के मुख से मृगया का जो विरोध दर्शाया है वह यह प्रमाणित करता है कि नृप को भी मात्र अपने आनन्द के लिए किसी निर्दोष पशु–पक्षी के प्राण हरने का अधिकार नहीं है।

'तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः' की पङ्क्ति वास्तव में बड़ी सटीक है। यदि कालिदास का सर्वस्व अभिज्ञानशाकुन्तलम् है तो उसका भी सर्वस्व यह चतुर्थ अङ्क है जिसमें पशु–प्रेम की भावना अपने चरम पर पहुँच गई है। तभी तो आश्रम से विदा होती हुई शकुन्तला गर्भिणी आश्रम–मृगी की चिन्ता में व्याकुल होकर अपने धर्मपिता से कहती है–

तात! एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूः यदा दानघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ।[८]

शाकुन्तलम् की शकुन्तला सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति तो है ही साथ ही, वात्सल्य की भी सजीव प्रतिमा है। इसका सङ्केत नाटककार ने चतुर्थाङ्क में महर्षि कण्व के मुख से कराया है। पतिगृह जाते समय शकुन्तला का अञ्चल पकड़कर मार्ग रोके वह मृगशावक खड़ा है जिसके मुख के घावों पर शकुन्तला द्वारा इङ्गुदी का तेल लगाया जाता था जो शकुन्तला के हाथों पालित–पोषित होने के कारण उसका कृतक पुत्र है।[९] मानव का पशु के प्रति तथा पशु का मानव के प्रति निश्छल, निष्कपट और अकृत्रिम प्रेम का ऐसा निदर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। प्रस्तुत स्थल पर मानव व पशु की जो परस्पर प्रेमभावना उजागर की गई है वह सिद्ध करती है कि हमें सभी प्राणियों पर आत्मवत् स्नेह रखना चाहिए।

नाटककार की शकुन्तला का वृक्ष, लतादिकों पर भी सहोदर स्नेह[१०], इसी प्रकार वृक्षादिकों को जल पिलाये बिना स्वयं जल ग्रहण न करना, आभूषणप्रिय होने पर भी वृक्ष–पल्लवों को न तोड़ना तथा पुष्पोत्पत्ति काल में उत्सव मनाते हुए हर्षित होना–

---

७. वही, २.६

८. वही, चतुर्थ अङ्क पृष्ठ २६१

९. वही, ४.१४ पृष्ठ २६३

१०. वही, प्रथम अङ्क पृष्ठ १३३

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः।।[११]

आदि वर्णन पूर्वोक्त तथ्य को और भी पुष्ट करते हैं।

यही नहीं विदा होते समय शकुन्तला उस वनज्योत्स्ना (वन लता) से भी अनुमति लेती है जिस पर उसका सहोदर भगिनी जैसा स्नेह है–

वनज्योत्स्ने! चूतसङ्तापि मां प्रत्यालिङ्गिताभिः शाखाबाहुभिः अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी भविष्यामि।[१२]

कितना अद्भुत है मनुष्य और उद्भिज्ज वनस्पतियों का आपसी प्रेम।

महाराज दुष्यन्त शकुन्तला के धीरोदात्त नायक हैं। क्षत्रिय होने के कारण भयोत्पादक राक्षसों तथा विघ्नकारी दैत्यों से साधारण जन की रक्षा करते हुए उन्हें अपने अस्तित्व को धारण करने के लिए भयमुक्त वातावरण प्रदान करना उनका धर्म है। नाटक के प्रारम्भ[१३] में ही आकाशभाषित द्वारा इसका सङ्केत दे दिया जाता है। इसी प्रकार पाँचवे अङ्क में जीवधारियों को छाया देकर उनके सन्ताप को दूर करने वाले वृक्ष के समान राजा दुष्यन्त की जन–कल्याण में सतत तत्परता हेतु वैतालिक उनकी प्रशंसा करते हैं–

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।।[१४]

उसी स्थान पर द्वितीय वैतालिक कहता है–

नियमयसि–कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्।।[१५]

---

११. अभिज्ञानशकुन्तलम्, ४.६
१२. वही, चतुर्थ अङ्क, पृष्ठ २६०
१३. वही, २.२४
१४. वही, ५.७
१५. वही, ५.८

राजा दुष्यन्त जैसे रक्षक के रहते सज्जनों की धार्मिक क्रियाओं में विघ्न नहीं आ सकता।[१६] इसी प्रकार जैसे सूर्य निशाकालीन अन्धकार को दूर नहीं कर सकता, उसे चन्द्र ही दूर करता है वैसे ही दानवों के समूह के निहन्ता महाराज दुष्यन्त ही हैं देवराज इन्द्र नहीं–

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्यः, तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।

उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः।।[१७]

शाकुन्तलम् के उपर्युक्त प्रसङ्ग यह सिद्ध करते हैं कि महाराज दुष्यन्त सभी प्राणियों के मूलभूत अधिकारों की रक्षा में तत्पर हैं। इस प्रकार सुस्पष्ट है कि सर्वभूतदया और प्रेम की भावना ही यहाँ प्रधानतया अभिव्यक्त है जिसके कारण सभी प्राणियों का यावज्जीवन जीने का नैसर्गिक अधिकार स्वतः ही सुरक्षित रहता है। यदि किसी मनुष्य का हृदय प्रेम और दया के भावों से आप्यायित होगा तो वह किसी अन्य के अधिकारों का हनन करने की बात सोचेगा भी नहीं। इस प्रकार सभी का स्वभाव–सिद्ध अधिकार सुरक्षित रहेगा।

प्रकृत स्थलों को छोड़कर शाकुन्तलम् में कतिपय ऐसे भी स्थल हैं जहाँ प्राणी के इन मौलिक अधिकारों का हनन दिखलाई देता है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम हमारी दृष्टि उस अबोध, निर्दोष और निसर्गकन्या शकुन्तला की ओर जाती है जो प्रारम्भ में राजा दुष्यन्त की ओर आकृष्ट होकर गान्धर्व–विधि से विवाह–बन्धन में बँध कर आपन्नसत्वा हो जाती है किन्तु बाद में राजा द्वारा स्वीकार नहीं की जाती। यहाँ तक कि राजा उसका प्रत्यभिज्ञान भी नहीं करता।[१८] यही नहीं वह शकुन्तला पर आरोप भी लगाता है–

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।

प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति।।[१९]

राजा दुष्यन्त का यह अपराध कुछ सीमा तक क्षम्य है क्योंकि वह महर्षि दुर्वासा के शापवशात् पत्नी शकुन्तला का प्रत्याख्यान करता है, जानबूझ कर नहीं और इसके लिए वह बाद में (शाप की अवधि समाप्त होने पर) घोर पश्चात्ताप भी करता है।

शकुन्तला के प्रति क्रूर व्यवहार करने वालों में महर्षि कण्व के शिष्य (शाङ्र्गरव

---

१६. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५.१४

१७. वही, ६.३०

१८. वही, ५.१३

१९. वही, ५.२२

आदि) भी पीछे नहीं रहते, वे भी उस पर आरोप लगाते हैं तथा पति–परित्यक्ता गर्भवती स्त्री को वहीं रोता–बिलखता छोड़ देते हैं–

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।।[२०]

यह है दुष्यन्त तथा अन्यों द्वारा किये गये एक स्त्री–विषयक मौलिक अधिकारों के हनन के कुछ दृष्टान्त। पतिवियोग से शून्यहृदया निरीह निर्दोष शकुन्तला पर तपस्वी महर्षि दुर्वासा का हृदय भी द्रवित नहीं होता तभी तो वे उसे पतिवियोग का दारुण शाप दे डालते हैं–

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यसि त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।।[२१]

इतने छोटे से अपराध के लिए मुनि का इतना बड़ा दण्ड देना किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। नायक–नायिका दोनों के लिए कष्टकारी उक्त शाप–प्रसङ्ग का एक अन्य पक्ष भी है और वह यह है कि यह शाप उन दोनों के आदर्श प्रेम की अग्नि–परीक्षा है, विशेषकर नायिका के लिए। उनका आदर्श प्रेम विविध मानसिक और कायिक क्लेशों की भट्टी में तपकर स्वर्णवत् निखर उठता है। वास्तव में कालिदास द्वारा शाप की कल्पना का यही उद्देश्य है और यही उनकी आदर्श प्रेम–विषयक मान्यता है।

इसके अतिरिक्त शाकुन्तलम् का षष्ठ अङ्क राज्याधिकारियों द्वारा अपने अधिकारों और शक्तियों के अनुचित प्रयोग को बड़े ही तर्कसङ्गत ढंग से दर्शाता है। मदिराव्यसनी राज्यकर्मचारी[२२] राजा की नामाङ्कित अङ्गुलीयक को लाने वाले पुरुष (मछुवारे) की वृत्ति का उपहास करते हैं,[२३] उसे चोर कहते हैं तथा उसके विषय में अनर्गल प्रलाप करते हैं।[२४] इसके साथ ही उस की पुरस्कार राशि में अपना भी भाग ग्रहण करना चाहते हैं–

इतोऽर्धं युष्माकं सुमनो–मूल्यं भवतु[२५]

---

२०. अभिज्ञानशकुन्तलम्, ५.२७
२१. वही, ४.१
२२. वही पृष्ठ – ३६६
२३. वही, पृष्ठ – ३६४
२४. वही, पृष्ठ ३६४ – ३६६
२५. वही, पृष्ठ ३६६

इससे विदित होता है कि आधुनिक समय में उच्चाधिकारियों द्वारा अपने अधिकारों का दुरुपयोग तत्कालीन समाज में भी व्याप्त था। अन्त में सार–रूप में हम यही कह सकते हैं कि जीवन को अत्याधुनिक सुविधाओं से सुसज्जित करने की स्पर्धा मुनष्य को जड मशीन बना रही है। भौतिक लिप्सा से दिन–प्रतिदिन मनुष्यों के नैतिक मूल्यों का हास हो रहा है जिसका परिणाम है मनुष्यों और पशुओं की नृशंस हत्याएं, अपहरण, उत्पीडन तथा अनाचार। इन पातकों से मानवता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि हम हमारी संस्कृति के पोषक और संरक्षक वाङ्मय का संरक्षण प्राप्त करें जिससे हमारे अन्तस् में दया, प्रेम, सहिष्णुता व समभाव के अङ्कुर प्रस्फुटित हों अर्थात् हम उन मानवोचित नैतिक मूल्यों का विकास करें जो स्वयं ही हमारे अधिकारों के भी रक्षक हों। अभिज्ञानशाकुन्तलम् का सत्यात्मक, शिवात्मक तथा सुन्दरात्मक दिव्य–सन्देश भी यही है। जैसा कि नाटकान्त में कामना की गई है–

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।[२६]

***

२६. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७.३४

डॉ० जितेन्द्र कुमार मिश्र
लखनऊ

महाकवि कालिदास की रचनाओं में मानवाधिकार

मानवाधिकार, जैसा कि नाम से स्पष्ट है मनुष्य मात्र के अधिकार को कुछ एक विकसित राष्ट्रों के द्वारा निर्मित माना जाता है।

मानवाधिकार राष्ट्रीयता, निवास, स्थान, लिङ्ग, राष्ट्रीय या नैतिक स्त्रोत, रङ्ग, धर्म, भाषा या किसी अन्य स्थिति से सभी से सभी व्यक्तियों में निहित अधिकार हैं।

हम सभी बिना किसी भेदभाव के अपने मानवाधिकार के समान रूप से हकदार हैं।

वे सभी बिन्दु जो मनुष्य को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, आत्मिक व मानसिक रूप से स्वस्थता प्रदान करें, मानवाधिकार कहलाने योग्य हैं। परन्तु ये कुछ एक विकसित राष्ट्रों द्वारा बनाये गये मानवाधिकार केवल अपनी स्वार्थ–सिद्धि, विकासशील राष्ट्रों का विकास न हो तथा अपनी सम्प्रभुता थोपने हेतु कानून मात्र हैं। ये आधुनिक मानवाधिकार अपराधियों के रक्षक–मात्र दिखाई देते हैं। अपराधी, अपराध करने के पश्चात् इन मानवाधिकारों का आश्रय लेकर कठोर दण्ड से बचने का प्रयास करता है, और बच भी जाता है, जिससे अपराध बढ़ते हैं और सामान्य नागरिकों का सुख–शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत करने का अधिकार बाधित होता है। प्रजा–मात्र को सुख–शान्ति–पूर्वक जीवन व्यतीत करने का अधिकार तभी प्राप्त होगा जब न्याय में कठोरता हो और अपराधी को अपराध के अनुसार उचित न्याय मिले और किसी भी प्रकार का किसी के साथ पक्षपात न किया जाय।.

'रघुवंश महाकाव्य' में प्रजा के इसी अधिकार का संरक्षण करता है–

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।

यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्।।[1]

अर्थात् जो (राजा दिलीप) नियम के अनुसार ही यज्ञ करते थे, जो माँगने वाले को मनचाहा दान देते थे, अपराध के अनुसार ही (अपराधियों) को दण्ड देते थे तथा समय के अनुरूप ही कार्य करते थे।

---

१. रघुवंशमहाकाव्य – १.६

अपि च–

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः।।
रेखामात्रमापि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः।।
प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।।[२]

अर्थात् राजा दिलीप से उनके सेवक डरते रहते थे क्योंकि वे न्याय में बड़े कठोर थे किन्तु जैसे समुद्र के सुन्दर और मनोहर रत्नों को पाने के लिए लोग समुद्र में पैठ ही जाते हैं वैसे ही राजा दिलीप इतने दयालु, उदार और गुणशाली भी थे कि उनके सेवक उनकी कृपा पाने हेतु उनका मुँह जोहते रहते थे। जैसे चतुर सारथी जब रथ चलाता है तब रथ के पहिये बाल भर भी लीक से बाहर नहीं हो पाते वैसे ही राजा दिलीप ने ऐसे अच्छे ढंग से प्रजा की देखभाल की कि प्रजा को कोई भी व्यक्ति नियमों से बालभर भी बहक कर नहीं चल सका। जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जो जल सोखता है उसका सहस्र गुना जल बरसाता है, वैसे ही राजा दिलीप भी प्रजा से जो कर लेते थे वह सब अपनी प्रजा की भलाई में ही लगा देते थे।

इस प्रकार का शासन और उसके द्वारा बनाये गये नियमों के आधार पर ही एक सुदृढ मानवोपयोगी व कल्याणकारी मानवाधिकार अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं।

अगर पश्चिमी देशों को वास्तव में मानवाधिकार मानव मात्र के कल्याण के लिए बनाना है तो सभी भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बना कर उसके साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचारित मात्र करना होगा। क्योंकि संस्कृत साहित्य में मानवाधिकार को कुछ इस प्रकार दिखाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति मानसिक रूप से बुरे कार्य न करने के लिए सङ्कल्पित हो जाये। मानवाधिकार कानून में स्त्री को पुरुष के समान स्थान दिये जाने पर बल दिया गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके यहाँ स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की तुलना में अवश्य हीन रही होगी। जबकि भारतीय संस्कृति से प्रभावित समाज के लिए इसकी कोई उपादेयता नहीं है। हम तो स्त्रियों को पुरुष के समान ही नहीं प्रत्युत पुरुषों से श्रेष्ठ मानते हैं।

---

२. रघुवंश महाकाव्य – १.१६, १७, १८

पुत्र उत्पन्न होने पर तो कहा जाता है कि पुत्र हुआ है परन्तु पुत्री उत्पन्न होने पर लोग कहते हैं कि लक्ष्मी आयी है।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् में कण्व ऋषि ने शकुन्तला के माध्यम से स्त्री मात्र को धन कहा है–

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।

जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।[3]

अर्थात् कन्या जो सचमुच पराई सम्पत्ति होती है। आज उसे पति के घर भेजकर मेरा मन वैसे ही निश्चिन्त हो गया है जैसे किसी की धरोहर लौटाने पर होता है।

समाज में जब हम किसी का सम्मान करेंगे तो क्या हमारा सम्मान नहीं होगा। जब मनुष्य इस प्रकार नारियों का सम्मान करता है तो यदि स्त्रियाँ अपने पति को परमेश्वर कहें तथा मनुष्यों का आदर–सम्मान करें तो क्या उनका अस्तित्त्व कम माना जाएगा।

मानवाधिकार कानून के अन्तर्गत युवक और युवतियों को विवाह करने तथा घर बसाने का अधिकार दिया गया है। क्या पहले हमें इसका कोई ज्ञान नहीं था या ऐसा कोई नियम नहीं था। यदि ऐसा कोई नियम नहीं था तो दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह कैसे हुआ–

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।

श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।।[4]

अर्थात् सुना जाता है कि बहुत से राजर्षियों की कन्याओं ने अपना–अपना गन्धर्व विवाह किया है उनके पिताओं ने उनका सदा समर्थन भी किया है।

संस्कृत वाङ्मय में युवक और युवतियों को अपने अनुरूप पति प्राप्त करने का अधिकार था परन्तु पिता की अनुमति आवश्यक मानी जाती थी–

उपात्तविद्यं विधिवद्गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम्।

श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पतिराचकाङ्क्ष।।[5]

अर्थात् जैसे शीलवती कन्या अपने इच्छा के अनुसार रूप, गुण वाले वर को

---

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४.२२

४. तदेव ३.२१

५. रघुवंशमहाकाव्य – ५.३८

चुनकर भी विवाह के लिए पिता की आज्ञा ले लेना चाहती है वैसे ही राजलक्ष्मी भी यद्यपि सुन्दर–युवा अज को स्वामी बनाना तो चाहती थी फिर भी वह रघु की आज्ञा की बाट जोह रही थी कि वे कब अज को राज्य सौंपे।

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः।

त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेने।।[६]

अर्थात् इनका कुल, रूप, यौवन और नम्रता आदि गुण सब तुम्हारे ही जैसे हैं। तुम इनसे अवश्य विवाह करो जिससे रत्न और सोने का ठीक–ठीक मेल बैठ जाय।

हम जिन नियमों को आज मानवाधिकार जैसे कठोर कानून के रूप में देखते हैं उसे पहले कर्त्तव्य के रूप में जाना जाता था जैसे प्रजा को यह अधिकार है कि राजा उसकी सुरक्षा व हित का ध्यान रखे, उसे संस्कृत साहित्य में राजा का कर्त्तव्य बताया गया है–

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम्।

यूथानि सञ्चार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः।।[७]

अर्थात् अपनी सन्तान जैसी प्रजा का कार्य करके, थक जाने पर यहाँ एकान्त में उसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं जैसे दिन की धूप से थका हुआ गजराज हाथियों के झुण्ड को चरने के लिए छोड़कर स्वयं ठण्डे स्थान में जाकर विश्राम करता है।

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।

ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति।।[८]

अर्थात् वहाँ जब आप देखेंगे कि ऋषि लोग निर्विघ्न होकर सब अपनी–अपनी क्रियाएँ किये जा रहे हैं तब आप जान भी जायेंगे कि धनुष की डोरी की फटकार से बने घट्ठों वाली आपकी भुजा कहाँ–कहाँ तक पहुँचकर रक्षा किये डाल रही है। इससे प्रजा को अपना कार्य निर्विघ्न और स्वतन्त्रता–पूर्वक पूर्ण करने का अधिकार द्योतित होता है।

मानवाधिकार में रक्षा का अधिकार वर्णित है। राजा को यह चाहिए कि तन, मन और धन से अपनी प्रजा की रक्षा करे। रघुवंश में वर्णित ये श्लोक इसी अधिकार को दर्शाते हैं–

---

६. रघुवंशमहाकाव्य – ६.७६

७. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५.५

८. तदेव १.१३

भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन।।
किमप्यहिंस्यस्तव चेम्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।।[९]

अर्थात् (राजा दिलीप ने सिंह से कहा) देखो भाई! तुम भी दूसरे के सेवक हो और बड़ी लगन से देवदारु के वृक्ष की रक्षा कर रहे हो। तुम यह जानते होगे कि जिसकी रक्षा का भार सेवक को मिलता है यदि वह नष्ट हो जाय और सेवक जीता रह जाय तो बताओ वह अपने स्वामी के आगे कौन मुँह लेकर जा पायेगा। यदि तुम किसी भी कारण मुझ पर दया करना चाहते हो तो मेरे यश की रक्षा कर लो, क्योंकि मुझ जैसे लोगों को पञ्चतत्त्व से बने इस नश्वर शरीर का तनिक भी मोह नहीं होता।

अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो कार्य किसी के अधिकार होते हैं वे ही कार्य किसी के कर्त्तव्य भी होते हैं। स्त्रियों को अपनी रक्षा का अधिकार मानवाधिकार की श्रेणी में आता है परन्तु उनके इस अधिकार की सुरक्षा कैसे होगी, इसका लाभ उन्हें कैसे मिलेगा। इसका उत्तर होगा कि राजा उनके इस अधिकार की सुरक्षा करेगा। अतः स्त्रियों का यह अधिकार राजा का कर्त्तव्य बन गया। कर्त्तव्यों का सम्यक् रूप से पालन ही वास्तविक मानवाधिकार है।

महाकवि कालिदास के रघुवंश महाकाव्य का यह श्लोक स्त्रियों के इस अधिकार को कितने सुन्दर ढङ्ग से दर्शाता है–

यस्मिन्महीं शासति वाणिनिनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।।[१०]

अर्थात् वे प्रतापी राजा (दिलीप) ऐसे अच्छे ढंग से अपना राज चलाते थे और उनका ऐसा दबदबा था कि उपवनों में मद पीकार सोई हुई स्त्रियों के वस्त्रों को वायु भी नहीं सरका सकता था, तो उन्हें हटाने का साहस भला करता ही कौन?

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः।।[११]

अर्थात् अज ने अपने पिता के मन्त्री को तो यह आज्ञा दी कि थोड़े ये योद्धा

---

९. रघुवंश महाकाव्य – २.५६, ५७
१०. तदेव – ६.७५
११. रघुवंश महाकाव्य – ७.३६

साथ लेकर तुम इन्दुमती की रक्षा करो और वे स्वयं उस सेना को रोककर उसी प्रकार खड़े हो गये जैसे बाढ़ के दिनों में ऊँची तरङ्गों वाला शोणनद गङ्गा की धारा को रोक लेता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में तलाक (विवाह–सम्बन्ध–विच्छेद) को मानवाधिकार की कुक्षि में स्थान दिया गया है जो कि सवर्था अनुचित और निन्दनीय है। अतः मानवता पर एक कलङ्क है जो कि दुष्यन्त के इस कथन से स्पष्ट है–

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।

कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धराः काल इवोप्तबीजा।।[१२]

अर्थात् जैसे समय पर बोई हुई पृथ्वी फल देती है वैसे ही मुझसे गर्भ धारण करके, जो मेरे कुल को चलाने वाली धर्मपत्नी थी उसे भी मैंने निरादर करके छोड़ दिया।

पत्नी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने पति के घर में ही रहे और पति का भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को अपने घर में सम्मान पर्वूक रखे–

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।

अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः।।[१३]

अर्थात् जो सुहागिन स्त्री अपने पिता के घर रहती है वह चाहे जितनी भी पतिव्रता हो फिर भी उसके सम्बन्ध में लोग बड़ी उलटी–सीधी बातें उड़ा दिया करते हैं। इसलिए कोई युवती चाहे वह सबकी दुलारी ही क्यों न हो, पर उसके भाई–बन्धु लोग तो यही चाहते हैं कि वह अपने पति के पास ही रहे।

और भी (महर्षि कण्व का यह कथन)–

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चाप्मन–

स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया

भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः।।[१४]

अर्थात् कहाँ तो हम सीधे–सादे तपस्वी लोग और कहाँ आप ऊँचे घराने के राजा। फिर भी आपने अपने आप इस कन्या से विवाह कर लिया है। इन सब बातों

---

१२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६.२४

१३. तदेव ५.१७

१४. तदेव ४.१७

का ध्यान करके आप कम से कम इतना अवश्य कीजिएगा कि दूसरी रानियों के समान शकुन्तला का भी आदर हो इससे बढ़कर इसे जो सौभाग्य मिले वह तो इसके भाग्य की बात है। उसके लिए हम कन्या के बान्धव लोग भला क्या कह सकते हैं।

रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप के साथ सुदक्षिणा का रहना पत्नी को पति के साथ रहने का अधिकार ही था–

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।

तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय।।[१५]

अर्थात् कुलपति वशिष्ठ ने जो पर्णकुटी बनाई उसी में राजा दिलीप ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए रानी सुदक्षिणा के साथ कुशा की चटाई पर ही सो गये और प्रातःकाल ही जब बशिष्ठ ने अपने शिष्यों को वेद पढ़ाना प्रारम्भ किया तब उसकी ध्वनि कान में पड़ते ही राजा दिलीप उठ बैठे।

इसके साथ ही बुजुर्गों को सेवा व सम्मान पाने का अधिकार तथा स्त्रियों को बड़े ही आदर पूर्वक उनकी सेवा करने का कर्त्तव्य भी निहित है–

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,

पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।

भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,

यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयोः वामाः कुलस्याधयः।।[१६]

अर्थात् यहाँ से पति के घर पहुँचकर घर के बड़े–बूढ़ों की सेवा करना, अपनी सौतो से सखियों जैसा प्रेम रखना, पति निरादर भी करे तो क्रोध करके उनसे झगड़ा मत करना, दास–दासियों को बड़े प्यार से रखना और अपने सौभाग्य पर बहुत मत ऐंठना। जो स्त्रियाँ घर में इस प्रकार चला करती हैं वही सच्ची गृहणियाँ होतीं हैं और जो इसका उल्टा करती हैं वे खोटी स्त्रियाँ अपने कुल की नागिन होती हैं।

यतः शिक्षा एक ऐसा माध्यम हैं जिससे व्यक्ति अपना सम्पूर्ण विकास सुनिश्चित कर सकता है, अतः प्रत्येक बच्चे को शिक्षा अर्जित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसे शिक्षा का अधिकार नाम देकर मानवाधिकार की कोटि में रखा गया है। महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में इसी अधिकार की व्याख्या की है–

---

१५. रघुवंशमहाकाव्य – १.६५

१६. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४.१८

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्द्धके मुनिवृत्तिनाम् योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।[१७]

अर्थात् वे बचपन में पढ़ते थे, युवावस्था में सांसारिक विषयों (भोगों) का आनन्द लेते थे, बुढ़ापे में मुनियों के समान तपस्या करते थे और अन्त में योग के द्वारा अपने शरीर को त्याग देते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान परिदृश्य में मानवाधिकार का जो स्वरूप हमारे सामने है उससे कहीं अधिक सुष्ठु रूप में यह संस्कृत वाङ्मय में पाया जाता है।

माना कि यह मानवाधिकार बुद्धिमानों के द्वारा बनाये गये हैं फिर भी देश, काल, वातावरण और संस्कृति व सभ्यता के आधार पर इनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन अवश्य होना चाहिए, तभी ये अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं और मानवता के विकास का कारण बन सकते हैं।

***

१७. रघुवंशमहाकाव्य – १.८

६. संस्कृत-वाङ्मय-खण्ड

Dr. Shalini Awasthi
New Delhi

Human Rights, Caste And The "Vajrasūcī"

Human Rights are rights which all persons hold by virtue of the human condition. These rights are not dependent upon grant or permission of the state and they cannot be withdrawn by fiat of the state while laws under different national legal systems may vary. Human rights to which each person is entitled are rights in international law. Very few human rights are absolute with reference to other human beings as also the state. The balance between the rights of the individuals and the legitimate concerns of the state are met by 'permitted limitations". These "permitted limitations" must also be justified, and can be imposed only in times of national emergency, for reasons of public order, public health or state security. However, certain rights of individuals cannot be withheld or denied even during the above mentioned exceptions and these inalienable rights which cannot be derogated are the individual's freedom of thought and conscience; freedom of religion; lastly, even emergency conditions do not justify torture on human beings.

The origin of Human Rights is traced to the Eurocentric traditions emanating from the classical traditions of the Greco-Roman natural law doctrines of stoicism, which held that a universal force pervades all creation and that conduct should, therefore, be judged according to the law of nature, and in the *jus gentium* ('law of nations'), where certain universal right were extended beyond the rights of Roman citizenship. These concepts taught more of duties than rights, however, and allowed for slavery and serfdom. It was during the period from the Renaissance until the seventeenth century that the beliefs and practices of the society so changed that the idea of human (or natural) rights could take hold as a general social need and reality"[1]. The writings of Thomas Aquinas and Hugo Grotius, the Magna Carta, the Petition of Right of 1628, and the English Bill of Rights (1689) were reflective of the increasing concern of the political thinkers and social jurists to ensure civic and political to all

---

1. Encyclopedia Britannica, 15th Edition, 1998.

individuals. The English Bill of Rights guaranteed the Right to trial by jury; freedom from civil and unusual punishment, and restriction on excessive bailouts. John Locke championed the concept of the **inherent rights of man**. These two centuries by their social writings and political discourse reflected the view that human beings are endowed with certain eternal and inalienable rights. This modernist conception of natural law as meaning natural rights was elaborated in the seventeenth and eighteenth centuries by writers as Rene' Descartes, Gottfried Leibnitz, Benedict de Spinoza, and Francis Bacon.

In the eighteenth and nineteenth centuries the benchmark for human rights was provided by the French Revolution slogan of *'La Liberate Ou La Mort'* (Liberty or Death), which in turn, influenced Thomas Jefferson, who in the Declaration *of Independence* (1775), included **'Life, Liberty and Pursuit of Happiness'** as the *'inalienable rights'* of man.

From this period onwards, the efforts to protect the human rights assumed multifarious forms--such as the abolition of slavery, labour laws, popular education, trade unionism, universal suffrage. Human rights and their protection achieved universal acceptance in the twentieth century with the establishment of the United Nations, when it pledged to achieve, through its participating member-countries "universal respect for, observance of, human rights and fundamental freedoms for all without distinction as to race, sex, language or religions". The commitment was reaffirmed in documents as the Universal Declaration of Human Rights; the Genocide Convention passed by the U.N. General Assembly in December 1948, at its Paris Session. Since then a number of international legislations have been enacted, namely the Geneva Conventions of 1949 on Protection of War Victims, and the two Covenants of 1966 on Economic, Social, Cultural, Civil and Political Rights. These legislations brought about the globalization of Human Rights, which in turn spawned the criticism that "The Universal Declaration of Human Rights made in 1948 is therefore universal only in pretension, not in practice, since it is in a charter of an idealist European philosophy."[2] Thus relativism in the context elements of their perception and acceptance of human rights are necessary towards creating a more flexible and globally acceptable conception of human rights.

---

2. Wilson, Richard A; Human Rights, Culture and Context; Anthropological Perspectives, Introduction, p.4, Pluto Press Chicago, 1997.

The World Conference on Human Rights, which took place in Vienna in 1993 reinforced that Human Rights should be reflective of cultural plurality and force the participating nations to accept, adopt and implement a concept of Human Rights which represented western cultural imperialism. Article 5 of the Vienna Declaration, which was adopted by consensus, states that, 'while the significance of national and regional particularities and various historical, cultural and regional backgrounds must be borne in mind, it is the duty of states regardless of their political, economic and cultural systems, to promote and protect all human rights and fundamental freedoms." Article 57 is significant in that states clearly that the role of regional arrangements is not to detract from universal standards, but to reinforce them.

Human rights, then by its evolutionary development extends to **civil and political rights** (such as universal suffrage); **economic rights** (such as right to housing); and, social and cultural rights, (such as right to education). The question which then arises as a natural corollary is, 'Which of the rights is more important?' Ian Martin, Secretary General, Amnesty International, contended that, "It is sometimes argued that development, the right to food, housing and other economic rights are more important than freedom of expression, the right not to be arbitrarily detained or even the right not to be tortured. We reject this view. We regard civil and political rights on the one hand and economic, social and cultural rights on the other, as of equal importance".

As the philosophy of Human Rights has evolved it has been provided with a ***"generational classification"***[3]. *The first-generation rights are those civil* and political rights, which provide for basic guarantees for an individual in relationship to the state; and involve the inviolability of the individual against any invasive action by the state. The *second-generation rights* are those rights which generally require action by the state to provide certain basic needs or amenities to individuals. The *third-generation rights* are those which provide for the relationship between individuals, the collectivity, and the State, and, these include the right to self determination; right to development; right to participate in and benefit from the common heritage of mankind; and, the right to a healthy

---

3. Introducing Human Rights: An Overview of Gender Justice, Enviournmental and Consumer Law; South Asian Documentation Centre, Oxford University Press, New Delhi, 2006.

environment, amongst many other collective rights.

World over the need to guarantee human rights and extend their application to large segments of society is gaining importance. India, as a responsible country in the community of nations, also aspires to adopt, enact and implement these rights for her citizens. It is contended that in India the biggest hurdle to guaranteeing human rights in the social context to its citizens is due to the vice-like grip of the "caste-system" which permeates at each and every.level of an individual's in India, be it social, religious, political, matrimonial, etc.

The aim of this paper is to present briefly the popular perception of the caste-system today vis-avis its genesis and early phase, to establish that contrary to present understanding caste was not exploiting human rights but was a singularly successful of the collectivity of individuals to ensure continuity and survival of the civilization.

The modern and widely held view about the caste-system of India is that it can be understood *"as hierarchy' in the literal sense of the term because ritual considerations form the basis of differentiation. It is true that generally speaking the higher caste are also better off castes, and the lowest caste are among the poorest, but a ranking on principally economic or political considerations would produce a stratification some what different from that based on ritual considerations".*[4] The above statement's self-contradiction is illustrative of the fact that the conception of the caste framework must be understood in chronological context of evolutionary civilizational development before being condemned and consigned in history as exploitative and violative of human rights and human dignity.

The cornerstone of Hindu social organization is the *'varṇāśrama-vyavasthā'*; *varṇa* implying social orders, and, *āśrama* indicative of training/nurture of the individual through specially provided environments at different stages of an individual's life. To understand this principle of organization one must go back to the time of hoary antiquity of composition of ***Puruṣasūkta hymn***[5] when the social divisions among the humans were conceptualized, and the four castes emanating from

---

4. Srinivias, M.N. Varna and Caste in Modern India and other Essays. 1962 (Reprinted in Social Stratification by Dipankar Gupta).
5. Satvalekar, Dr. S. D. Rig Veda: Mandala X, 90, Svādhyāya Maṇḍala, Pardi District, Valsara. 1985.

Puruṣa were assigned duties and responsibilities. The first three castes, that is the Brāhmaṇas, Kṣhartiyas and Vaiśyas were grouped as the *'dvija'* (i.e. twice born and ritually pure, born from the mouth, arms, and thighs of the *Puruṣa* respectively), in contrast to the Śūdras, (born from the feet of *Puruṣa*), who were universally assigned the single (sole) duty of *'Śuśrūṣām anasūyayā'.* Gautama Dharma Sūtra states that the Śūdras are assigned the function of service to the higher castes and 'from them he shall seek to obtain his livelihood'. The acceptance of this creed is seen to be echoed in the Āpastamba Dharma Sūtra and the Manu Smṛiti. Modern sociologists and anthropologists on the basic of the above have concluded that in the caste system, human dignity is not a basis human right, but is distributed unevenly by a system of social stratification.

The premise that the powerful castes are ranged against the weaker social sections of society, to exploit the latter and deny them basic rights has been further strengthened when the caste system in India is usually described as that what "...............divides the whole society into a large number of hereditary groups distinguished from one another and connected together by three characteristics: *separation* in matters of marriage and contact, whether direct or indirect (food); *division of labour*, each group having, in theory only within certain limits; and finally *hierarchy*, which ranks the group as relatively superior or inferior to one another[6].

The understanding of Bougle on caste is supported by Louis Dumont when he comments that, ".......... the orders/divisions among the caste groups, differ in their sources of income, which correspond to *optional* activities or occupations; in this field, the Brāhmaṇa has the privilege of teaching, performing sacrifices and receiving gifts; the Kṣatriya of protecting all creatures; the Vaiśya of living from land, commerce, grazing and usury.......... It can be seen that the ancient conception has been preserved in its essentials; the order of increasing status comprises service, economic activity, political dominion and priesthood. " Based on the above limited understanding of the caste system by a segment of scholars, the social organization of caste has been established in the collective memory of contemporary Indians as a

---

6. **Bougle, C. Essais Sur le regime des Castes, P. 4, Eng. Trans of the contributions to Indian Sociology II, 1958.**

system which has utter disregard for the dignity and rights of the weaker and downtrodden sections of society, who were also condemned as the ritually impure sections of society, namely the Śūdras.

Hence, from the arguments above it is held that the caste system is ranged against the principle of equality. The conception of equality is connected fundamentally with individualism which deems that the whole of humanity is present in each man and that man is free and equal. Equality and individualism are the two great ideals of modern age, but as soon as a collective end is adopted by several men, then liberty is restricted and their equality is brought into question, on which Louis Dumont surmises that, "The caste system comprises the specialization and interdependence of the constituent groups. Specialization entails separation between these groups, but it is oriented towards the needs of the whole. This relationship to the whole, which must be repeatedly emphasized, links the division of labour with hierarchy".[7] This concept that caste divisions are the bane of individual liberty, human progress and egalitarianism has continued to receive wide spread acceptance, and indicates that with such a system in place social justice and correspondingly violation of human rights has reached a deadend in contemporary India, so much, so that 'An obsession with caste as a category tends to obscure other axes of inequality that operate independent of and within castes[8]. On the contrary, caste division and their respective duties did not entail hatred towards a group or community, neither did it attempt to inculcate a sense of inequality among individuals by laying down an arbitrary barriers between man and man, or attempted to create an artificial gulf between the classes and masses on the basis of ritual purity/imputiy. The caste system had its origin in recognition of the principle of cooperation and reciprocity among individual members of the community.

To fully understand the conceptualization of the caste divisions, it is imperative to once again examine the genesis of its origin as contained in the *Puruṣasūkta* hymn and its allegorical significance, relating firstly to the origin of the Universe, and, secondly to the creation of the varṇas. The *Puruṣa* is described as being himself, 'this whole Universe,

---

7. Dumont, Louis; Homo Hierarchius. P. 69, The Caste System and its implications, 1970, Oxford India Paperbacks, 1998.
8. Mehta, Pratap. 'My Caste and I', Indian Express, May 12,2010.

whatever has been and whatever shall be' (*puruṣa evedaṁ sarvaṁ yad bhūtaṁ yach ca bhāvyaṁ*). Further, it says that the moon sprang from his mind (manas), the Sun from his eyes, Indra and Agni were created out of his mouth, and air or wind from his breath. From his naval arose the atmosphere (*antarikṣham*), from his head the sky, from his feet the earth (*bhūmi*), and from ear the four quarters (*diśah*). And in this manner the universe was created. Similarly, the Puruṣa consists of the Brāhmaṇāś in the mouth, Kṣatriyas in the arms, Vaiśyas in the entire regions of the stomatch and thighs, and Sūdraś in the feet. Both the allegories represent the organic and interdependence of the various components of the universe and the social orders emanating from the same source, without even a hint of any form of hierarchy among the constituent units.

This unity and in interdependence of the social orders has been expounded in the *Bṛthadāraṇyaka Upaniṣad* (1,4,11-15), which narrates on the origin of the *varṇas* as follows. "In the beginning there was ***Brahman*** only. But alone, he could not prosper well (*na vyabhavat*). Therefore, he created a form (*rūpam*) with a view to welfare (*śreyo*), viz. the ***Ksharta***; this consisted of the Gods *Indra, Varuṇa, Soma, Rudra, Parjanya, Yama, Mitra and Īśana*.........Still, however Brahman found that it could not fare satisfactorily; therefore, it created the ***Vaiśya***-hood (*viśam*) in the form of the Gods Vasus, Rudras, Ādityas, Viśva-devas and the Maruts. Even then, Brahman could not make good progress; so it created the ***Śūdra*** varṇa in the form of God Pūṣan. Inspite of these creations, again Brahman did not develop well; therefore, he still further created the form (*rūpam*) of ***Dharma*** (duties) for welfare (of the human beings)." The *Puruṣasūkta* hymn and the *Bṛihadāraṇyaka Upaniṣhad* thus make it clear that there is no reference to any idea of 'status' or an idea of 'higher or lower' involved in the *varṇas*, but indicate a unity of purpose, organization and reciprocity.

The *varṇas* were not conceived as watertight compartments, where membership was based on heredity or descent, but were 'open classes' where membership to a group was contingent upon individual traits. The Ṛg-vedic hymn IX, 112,3 illustrates this idea, wherein Brāhamaṇa *ṛṣi* says, "I am a poet, my father is a physician, my mother is a grinder of corn. With our different views, seeking after gain, we ran as after cattle." The *Śukra-nīti* (1,75-76) gives a similar basis of the openness of the four *varṇa* orders, "Not by birth are the Brāhamaṇa, Kṣatriya, Vaiṣya, Śūdra and Mlecchha differentiated, but by their respective qualities and deeds."

In the next two verses it goes on to classify men in accordance with what they do, and not their duties in accordance with predetermined position by accident of birth. Thus, one who can protect men, who is valorous, is a Kṣatriya; and similarly other *varṇas*. Thus ***guṇaś*** (tendencies and energies innate in the biological and pshchological make-up of an individual) and ***śrama*** (effort) as the basic governing for entry into a social order and not biological birth. The *Rāmāyaṇa* and the *Mahābhārata* record the story of Viṣvāmitra, a Kṣatriya, becoming a Brāhamaṇa by the dint of his efforts (*balāt*).

The idea of social contract and dignity of human effort for the collective welfare of the community enshrined in the idiom of *varṇāśrama-vyavasthā* was accepted even by the renowned Buddhist scholar Aśvaghoṣa, who has in a Sanskrit text ***'Vajrasūchī'*** authored by him in the second century A.D. emphasized and accepted the principle of reciprocity and social contract evident in the caste system. Aśvaghoṣa opines that, 'humanity is one single class, there are no social division and stratification' (*paśyāma ekavarṇo, nāsti cāturvarṇyam*), as also, 'there are no social differentiation and specialty, hence the entire humanity is one single class' (*Aviśesādeka eva varṇah*). The basis for the oneness of mankind stems out of the fact that all humans are 'born of the Father God, and the human beings do not show any difference' (*narāṇāmapi nāsti bhedaḥ, ekapuruṣotāpannatvād*), which is like the fact of, 'The fruits growing on different parts of the jackfruit (udumbara) and fig (panasa) trees, their twigs (*śākhā*), trunk (*danḍa*), branches (skandha), root (*mūla*) do not differ as they grow from the same tree'. Likewise there is no difference in men as they are born of one *puruṣa* (*ekapuruṣotpannatvāt*). Aśvagoṣa does not believe in the superiority of any one social group over the other, as he records that, 'Brāhmaṇahood is not superior on account of birth or physical attributes but because of the presence of attributes of vows (*vrata*), austerity (*tapas*), voluntarily religious observances (*niyama*), fasting (*upavāsa*), donation (*dāna*), self-restraint (dama), mental quiteness (*śāma*), and restraint (*samyama*), and that 'through austerities the Śūdras become Brahmaṇas (*Tapasā brāhmaṇo jātastasmājjātirakāraṇam*) and he is *Brāhmaṇa* who is endowed with good conduct and purity (*Sitaśauchamayam Brahma*). Hence, there is only one varṇa, but on account of their difference in action (*kriyā-viśeṣa*) the Cāturvarṇya is established.

The Vedic seers much before the modern proponents of the slogans

recognized the principles of the equality of all mankind, of the dignity of human effort, and of the need for coordinated efforts to attain the welfare of its community. This was founded on the firm recognition that unqualified equality is not possible in a group, and that the dominant guṇa and śrama are the basis of responsibilities, duties and a set of group specific rights. This ancient dictum is echoed by Jean Jacques Rosseau, the father of equality, who at the end of Book I of the 'Social Contract' defines equality as a political norm, and goes onto say that ***'inequality is inevitable and that true equality consists in proportion'***. From the statement it emerges that there can be no absolute equality, nor should equality be confused with uniformity. Judicial action is a vehicle of implementing human rights, when violation do occur, and in doing so it accept that absolute equality is impossible. This was echoed by Chief Justice Subba Rao who as Chief Justice of the Andhra Pradesh High Court, recorded, "In a society of unequal basic structure, it is well nigh-impossible to make laws suitable in their application to all persons alike". (Pichayya vs. Govt. of Andhra Pradesh, A.I.R., 1957, Andhra Pradesh 136, at pg. 136-137, Para 5). This then intrudues the concept of "reasonable classification" which maintains, that, "A reasonable classification is not only permitted but is necessary if society should progress. But such a classification cannot be arbitrary but, must be based upon differences pertinent to the subject in respect of and the purposes for which at is made." (Pichayya vs. Govt. of Andhra Pradesh A.I.R. 1957, Andhra Pradesh, 136, at pg. 137. para 4).

Reasonable classifications is, therefore, permissible. The Supreme Court has also upheld reasonable classification, in the case of Charanit Lal vs. Union of India, it is enshrined that, "the inhibition of the Article that the state shall not deny to any person equality before law or equal protection of the laws was designed to protect all person against legislative discrimination against equals and prevent any person or class of persons from being singled out as a special subject for discrimination and hostile legislation. It does not, however, mean that every law must have universal application for all persons who are not by nature, attainment or circumstances in the same position. The varying needs of different classes of persons often require separate treatment and, it is, therefore, established by judicial decisions that the equal protection clause of the Fourteenth Amendment of the American constitution does not take away from the state the power to classify persons for legislative purposes. This classification may be on different basis. It may be

geographical or according to objects or occupations or the like. If a low deals equally with all of a certain well-defined class, it is not open to the charge of denial of equal protection". (A.I.R. 1951, S.C. 41 at P. 65. para 83).

Given the fact that caste originated in principle of co-operation it should not be visualized as divisive and destructive, and not made a matter for politics and human rights violation, neither should it be perceived as a crisis of Indian liberalism. As put lucidly by Yogendra Yadav, in the context of inclusion of caste into the Census enumeration, he writes, "If the recording of race in the U.S. Census has not reduced their sense of self, why should caste do so in India...............Is there a way out? I believe there is. It lies in recognizing caste as one, but only one, legitimate social division that finds articulation in politics. Once it is allowed normal play, it achieves partial success, is made to run against other divisions and ends up either redefining itself or building alliances or simply exhausting itself. The spectre of caste disappears when it is treated as a routine fact of politics, like any other social division. Enumeration of OBC's is crucial step in that directions'[9].

In conclusion, it can be said that the organization of the orders in the caste-system was an acceptance of the fact that universal equality was not possible in a social order, hence it broadly organized the individuals into four broad distinctive categories with assignment of specific duties based on the qualities of psychological make-up and effort of the individual, to guarantee economic prosperity and social continuity of the civilization. The cognitive, the protective, the sustentive and the operative functions are vitally essential to the continuance of each individual organism. As in the human-body, so in the body-politic is the substance of the caste-divisions. A man or a being, in order to live, must think and reason, and desire and work. He must have some faculty within him to anticipate his wants, to profit by lessons of the past, to co-ordinate his innumerable relations with his environments, and to develop the deeper possibilities of his nature, and to this function or principle, the ancient seers gave him the name of Brāhamaṇas. Similarly, there must be in man some function exclusively set apart for combating the hidden foes of this organism, to help accelerate a cure in the case of disease; and the other function was to store up and manufacture energy from

---

9. Yadav, Yogendra, 'Caste in Doubt', Indian Express May 17, 2010.

ingredients of nature, and yet another function to ungrudgingly and unremittingly serve the other three in the discharge of their works, i.e. **ideation** (Brāhamaṇa), **protectiveness** (Kṣhatriya), and **sustentive** (Vaiśya) function. Śūdratvam is held with *karmatvam* work, **action or service**. Originally a Śūdra implied service to mankind, and his feet were representative of the terra-firma of the social ideation. The allegory to the feet in Hindu traditions are fraught with immense potential, as a disciple acquires knowledge sitting at the feet of the *guru*; of a genere of Vedic literature (i.e. Upaniṣads);, respect to elders is demonstrated by touching their feet, and that the veneration of the deities commences with the *charaṇa-vandana*.

The noble intentions of the seers of ancient India who through the caste-system created order in society; ensured the continuity and longevity of the Indian civilization; provided a form of self identity to the individuals; should be acknowledged. The caste-orders were the sub-systems of an organic and cohesive system was a path-breaking concept, which in a single stroke solved the issue of capital and labour.

***

जितेन्द्र कुमार त्रिपाठी
लखनऊ

संस्कृत–वाङ्मय में राज्य की उत्पत्ति और मानवाधिकार

वर्तमान में संयुक्त–राष्ट्र–संघ का 'मानवाधिकार' अन्ताराष्ट्रिय विधान का विषय है, जो भारत में धर्मशास्त्र के अर्न्तगत आता है। लगभग एक शताब्दी पूर्व विधि–विशेषज्ञ श्री मुल्ला ने हिन्दू–विधि के अपने स्थूलकाय ग्रन्थ के प्रारम्भ में धर्मशास्त्र के मूल–स्रोत के सन्दर्भ में यह उद्धृत किया है कि:

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।[१]

अतः मानवाधिकार के मूल स्रोत भी यही हैं।

अन्ताराष्ट्रिय विधान के आज के प्रसिद्ध रचनाकारों ओपेनहेम व फेनविक ने अपने ग्रन्थों का जिन खण्डों में वर्गीकरण किया है, ठीक उसी प्रकार का वर्गीकरण लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व की 'हितोपदेश' नामक संस्कृत की एक रचना, जिसे भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने की इच्छुक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने, अपने योरोपीय अधिकारियों की संस्कृत–शिक्षा के लिए प्रथम पुस्तक स्वरूप चुना और प्रकाशित कराया, इस विषय पर स्वयं में एक पूर्ण तथा विश्व का कदाचित् प्रथम, पृथक् ग्रन्थ है, जिसकी पुष्टि ग्रन्थ के प्रारम्भ के एक श्लोक के मात्र एक चरण से सिद्ध है।

मित्रलाभः सुहृद्भेदः विग्रहः सन्धिरेव च।

इस ग्रन्थ का रूपान्तरण योरोप की सभी भाषाओं में एक हजार वर्ष पूर्व हो गया था।

संयुक्त–राष्ट्र–संध के मानवाधिकारों के सम्बन्ध में चर्चा करने से पूर्व, प्रथमतः हमे 'मानव' और 'अधिकार' व 'संयुक्त–राष्ट्र–संघ' को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। अन्य भाषाओं और परम्पराओं में मानव की उत्पत्ति की जो भी अवधारणा हो, भारत में मनु से सम्बन्ध रखने वाली मनुष्य जाति 'मानव' है। प्रारम्भिक ऐतिहासिक

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृति, १.७

काल से लेकर आज तक की क्रमशः परिवर्तित परिस्थितियों में यह मानव, अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत रहा है। भारत में ब्रिटिश लोगों द्वारा लागू किए गये भारतीय दण्ड–विधान के आलेख के प्रारम्भ में ही उल्लेख है कि 'आत्म–संरक्षण प्रकृति का आधार–भूत सिद्धान्त' है।

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।

प्रकाशं वा ऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति।।[२]

मानव की आत्म–रक्षा का अधिकार मनु ने अक्षुण्ण माना है।

राज्य की उत्पत्ति इसी मानवाधिकार के आधारभूत सिद्धान्त पर हुई, जिसमें मानव के अस्तित्व के लिये जीवन–रक्षा, भोजन और आच्छादन की आवश्यकता का अनुभव किया गया। पश्चात्य देशों में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो प्रमुख सिद्धान्त हाब्स, लॉक और रूसो ने कुछ शताब्दियों पूर्व प्रतिपादित किये, डेढ दो हजार वर्ष पूर्व भारत में वे भलीभाँति स्थापित थे। वही वास्तव में 'मानवाधिकार' के मूल–स्रोत हैं। प्राचीन व अर्वाचीन काल में जो सम्पन्नता पाश्चात्य सभ्यता के दो प्रमुख भागों में बढ़ी हैं, वह मानवाधिकारों हनऩ द्वारा गुलामों द्वारा सृजित की गई है।

'अधिकार' शब्द, अधि+कृ+घञ् से निष्पन्न है, जिसका कोष में अर्थ है–अधीक्षण, प्रभुत्व, कर्तव्य, कार्यभार, स्वत्व, सत्ताधिकार का पद। उदाहरणार्थ–'नैमित्तियोऽयं प्रायश्चित्ताधिकार' इति मिताक्षरा, स्वामित्वं यथा सर्व्वे स्युरधिकारिणे इति स्मृतिः, निजाधिकार, भिन्नाधिकार, तस्य शास्त्रे अधिकारों अस्मिन् ज्ञेयो न अन्यस्य कस्यचित् मनुः। उदाहरण स्वरूप–द्वीपिनस्तॉम्बूलाधिकारो दत्तः, (पञ्चतन्त्र), स्वाधिकारात् प्रमतः, (मेघदूत)।[३] 'अधिकार–सुख कितना मादक किन्तु सारहीन है'।[४]

स्पष्ट है कि आज 'अधिकार' शब्द जिस भाव में रूढ गया है, उससे भिन्न 'कर्तव्य' अर्थ में भी संस्कृत–साहित्य में इसका बहुत प्रयोग है।

अधिकार के अस्तित्व के लिए दो पक्षों का होना आवश्यक है, एक तो अधिकार का लाभार्थी या भोक्ता और दूसरा उस अधिकार के फलीभूत होने के लिए दायित्व का निर्वहन करने वाला। इस दूसरे पक्ष के अभाव में अधिकार का कोई अर्थ नहीं है। इसी अधिकार को शिष्टाचार में हम दूसरे पक्ष का कर्त्तव्य भी कह सकते हैं। वैसे भी

---

२. मनुस्मृति, ८.३५१

३. शब्दकोष, वामनशिवराम आप्टे

४. स्कन्दगुप्त, जयशङ्कर प्रसाद, पृ. १

अंग्रेजी भाषा के सरकारी पत्राचार में श्री राज्यपाल या सरकार जो भी आदेश देते हैं उसमें आदेश नहीं अपितु उनकी प्रसन्नता या अपेक्षा की बात कही जाती है, आदेश की नहीं। आदेश के लिये स्पष्टतः 'आदेश' लिखा जाता है। वस्तुतः 'अधिकार' शब्द के 'कर्त्तव्य' अर्थ को ध्यान में रखे बिना, उसे मात्र उसके लाभार्थी के एक पक्षीय अर्थ पर ही सामन्यतः बल दिये जाने से, 'अधिकार' शब्द के पूरे भाव का बोध नहीं होता, अपितु वह विधि–लिङ्ग के अर्थ तक ही सीमित रह जाता है।[५]

जहाँ तक 'संयुक्त राष्ट्र संघ' नाम की संस्था का सम्बन्ध है, यह सभी राष्ट्रों का मिलकर बनाया हुआ एक गठन प्रतीत होता है। प्राचीन काल में भारत, चीन, मेसोपोटामिया और इजिप्ट के इतिहास के दौत्य–व्यवहार, सन्धियों और सम्बन्धों, ग्रीक के नगर–राज्यों व रोमन–साम्राज्य आदि के अनन्तर १३०५ में क्रिश्चियन शक्तियों के संगठन व १६०३ में हेनरी चौथे के 'ग्रैण्ड डिज़ाइन', सहित वियाना कांग्रेस के उदाहरण, अन्ताराष्ट्रिय संगठन के विकास के क्रम में दिये जा सकते हैं। किन्तु, पहली बार १८६६ की हेग कानफ्रेन्स में छोटे–बड़े सभी राज्यों को स्वतन्त्रता और समान भागीदारी के रूप में स्वीकार किया गया। प्रथम विश्व–युद्ध के पश्चात् स्थापित लीग ऑफ नेशन्स के काल में, पराजित देशों के ऊपर थोपी गई अपमानजनक शर्तों के कारण द्वितीय विश्व युद्ध हुआ। इस युद्ध के मित्र राष्ट्रों, क्षेत्र–भ्रष्ट राज्यों व उनके उपनिवेशों तथा प्रथम विश्व युद्ध के अनन्तर न्यास रूप उन्हें सौपे गये क्षेत्रों के सदस्यों द्वारा 'संयुक्त–राष्ट्र–संघ' नामक संस्था का गठन किया गया। ब्रिटिश कामनवेल्थ के देशों की बैठक लन्दन में इसके लिए अप्रैल १६४५ में हुई। इसमें सम्मिलित आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूज़ीलैंड, साउथ–अफ्रीका और ग्रेट ब्रिटेन के प्रतिनिधियों तथा बेल्जियम चेकोस्लावाकिया, ग्रीस, लुकस्म्बर्ग, नीदरलैण्ड, नार्वे, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया और फ्रांस की क्षेत्रभ्रष्ट सरकारों ने जून ४१ में 'संयुक्त–राष्ट्र–संघ' की स्थापना की। इसमें २६ युद्धरत मित्र राष्ट्र थे। २० लैटिन अमेरिकी देशों ने भी मैक्सिको सिटी में इसके गठन में हस्ताक्षर किये। इस प्रकार सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में ५० राज्यों ने भाग लिया। इसमें चार राष्ट्रों को विशेष अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार मित्र राष्ट्रों और उनके नियन्त्रणाधीन उपनिवेशों (जैसे भारत) का यह संयुक्त–संगठन प्रजातान्त्रिक व सार्वभौमिक न होकर केवल उसका छद्म–वेशी मुखौटा मात्र बन कर सामने आया जो हिटलरवाद के विरुद्ध सभी सैन्य और आर्थिक सहायता के लिये प्रतिबद्ध थे।

'संयुक्त–राष्ट्र–संगठन' नाम की इस संस्था ने अपने उद्देश्यों के सन्दर्भ में १० दिसम्बर १६४२ की अपनी सामान्य–सभा में सार्वभौम मानवाधिकारों को

---

५. मानवाधिकारों का सार्वभौम–घोषणा–पत्र, अनुच्छेद–२६ (१) भी स्पष्टतः कर्तव्यों का उल्लेख करता है।

अङ्गीकृत घोषित किया जिसमें ३० अनुच्छेद हैं।

संयुक्त–राष्ट्र–संघ में मानवाधिकारों के पट्टालेख के अतिरिक्त, निम्नलिखित और भी पट्टालेख जारी किये गये है :–

१. आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों पर अन्ताराष्ट्रिय कावनेन्ट १६६६

२. नागरिक सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अन्ताराष्ट्रिय कावनेन्ट १६६६

३. नागरिक और राजनैतिक अधिकारों पर अन्ताराष्ट्रिय कावनेण्ट पर वैकल्पिक प्रोटोकाल

४. महिलाओं के विरुद्ध सभी विभेदकारी रूपों को समाप्त करने का प्रोटोकाल

५. शिशुओं/बच्चों के अधिकारों की घोषणा, १६५६

६. जातीय भेदभावों के सभी स्वरूपों को समाप्त करने का अन्ताराष्ट्रिय कन्वेंशन, १६६६

७. विकास के अधिकार की घोषणा

इन घोषणाओं से पृथक् दो महाद्वीपों के भी अपने अलग पट्टालेख है :

१. मानवाधिकारों पर अमेरिकी कन्वेंशन (इसमें ३२ अनुच्छेद हैं, वंश/जाति के नाम का अधिकार भी है)

२. मानव व लोगों के अधिकार का अफ्रीकी पट्टालेख, इसमें २६ अनुच्छेद हैं।

आस्ट्रेलिया की राजधानी क्षेत्र की सेलेक्ट कमेटी ने एच.वी.आई. और नशीली चीजों की अवैध तस्करी व वेश्या–वृत्ति के अधिकारों की रक्षा पर विशेष चर्चा की है।

ऊपर अङ्कित समानता के जिन अधिकारों के पट्टालेखों का उल्लेख किया गया है, उनके बारे में यह स्मरण करने योग्य है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्', क्योंकि इस समानता की आड़ में भारत में समलैङ्गिक सम्बन्धों और समलैङ्गिक विवाहों की वैधानिक स्वीकृति देने का सरकार लगभग मन बना चुकी थी, किन्तु एक धार्मिक वर्ग द्वारा इसका विरोध करने पर, सरकार ने सत्ता की राजनीति के कारण अपना कदम रोक दिया। विश्व के एक महत्त्वपूर्ण देश ने अपनी सेना में भी समलैङ्गिक सम्बन्ध को मान्यता की पहल की, किन्तु विपरीत प्रभाव पड़ने के कारण उसे समाप्त करने पर विचार करने लगा। यही स्थिति शारीरिक लैङ्गिक सम्बन्धों को बनाये रख कर, जीवन में बिना किसी विवाह के रहने की सरकारी मान्यता के दृष्टिकोण की है, जो प्राच्य व भारतीय दृष्टिकोण में अनाचार–दुराचार की श्रेणी में आता है। अतः पूर्वी–गोलार्ध व अफ्रीका की अपनी पृथक् संस्कृति की,

योरोप से भिन्न होने के कारण, अपनी मान्यताओं के अनुरूप वहाँ के देशों ने पृथक् मानवाधिकारों की घोषणा की। अतः ऐसी स्थिति में एक वास्तविक संयुक्त–राष्ट्र–संघ का गठन करना अभीष्ट है, जिसमें राष्ट्रों की जनसंख्या और क्षेत्रफल के अनुसार, प्रति व्यक्ति एक वोट के आधार पर, न कि प्रति राष्ट्र एक वोट के आधार पर, प्रजातन्त्र के आधार–भूत सिद्धान्त पर, समानता के अनुसार, बिना किसी विटो के अधिकार के हो।

'संयुक्त–राष्ट्र–संगठन' नामक संस्था के उद्‌भव व विकास का यह संक्षिप्त विवरण यहाँ इसलिए दिया गया है कि समकालीन संस्कृत–वाङ्मय में मानवाधिकारों और आज के तथा–कथित मानवाधिकारों का सापेक्ष विश्लेषण हो सके। किन्हीं अधिकारों का किसी अभिलेख में अङ्कन हो जाना नितान्त निरर्थक है, जब तक कि उसे व्यवहार में लाने के लिये कोई समुचित व्यवस्था न हो। अतः मानव के अधिकारों की रक्षा–हेतु मनु का राजा, वास्तव में समर्थ है।

संस्कृत–वाङ्मय में मानवाधिकार

मानव के जीवन व भोजनाच्छादनादि के आधारभूत अधिकारों की रक्षा और उनकी अवहेलना करने वाले के लिए दण्ड की व्यवस्था हेतु ही मनु ने दैवी सिद्धान्तानुसार राज्य और राजा की उत्पत्ति की अवधारणा की :–

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।।[६]

इस लोक में सर्वत्र अराजकता से भय फैल जाने के कारण व्याकुलता होने से सबकी रक्षा के लिये प्रभु ने राजा पद का सृजन किया। मनु का मानवाधिकारों का यह राजा ऋग्वेद के विधान पर आधारित है–

सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णि बृह॒स्पते॒रनु॑मत्या उ॒ शर्म॑णि।

तवा॒हम॒द्य म॑घव॒न्नुप॑स्तुतौ धात॒र्विधा॑त क॒लशाँ॑ अभक्षयम्।।[७]

राजा के इन गुणों को मनु ने इस प्रकार लिपिबद्ध किया है–

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।

चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती।।[८]

---

६. मनुस्मृति, ७.३, द्रष्टव्य – संयुक्त–राष्ट्र–संघ मानवाधिकार–घोषणा का अनुच्छेद–३

७. ऋग्वेद, १०.१६६.३

८. मनुस्मृति, ७.४

इन्द्र, अनिल (वायु), यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और वित्त को पूरा करने वाले स्वाभाविक, गुणों के अंशों के सार से राजा का निर्माण किया। इस राजा को ही मानवाधिकारों की रक्षा करनी है, इसलिए मनु ने उसे बड़ा शक्तिशाली बनाया हैं–

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।

स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः।।[९]

वह अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, अर्क (सूर्य), सोम (चन्द्रमा), धर्मराट्, कुबेर, वरुण और इन्द्र है। यह राजा चाहे बालक ही क्यों न हो, यह बहुत बड़ा शक्तिमान् देवता है।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।।[१०]

इस राजा का क्रोध कुल सहित सञ्चित द्रव्य, व पशुओं का सर्वनाश कर देता है:–

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।

कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम्।।[११]

यह राजा देश और काल के तत्त्व के अनुसार, धर्म (कानून) के पालन–रक्षण के लिये, कार्य, शक्ति को, बार–बार नाना प्रकार के रूपों में धारण करता है।

कार्यं स चावेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।

कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः।।[१२]

इस तेजयुक्त राजा की प्रसन्नता में लक्ष्मी, और पराक्रम में विजय व क्रोध में मृत्यु वास करती है।

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।

मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः।।[१३]

इस राजा से यदि कोई अज्ञान–वश द्वेष करता है, तो निःसन्देह वह विनाश को प्राप्त होता है क्योंकि, राजा उसके विनाश के लिए शीघ्र मन लगाता है :–

---

९. मनुस्मृति, ७.७

१०. तत्रैव, ७.८

११. तत्रैव, ७.९

१२. तत्रैव, ७.१०

१३. तत्रैव, ७.११

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम्।

तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः।।[१४]

मानवाधिकारों के रक्षक इस राजा को निरङ्कुश नहीं रखा गया है, जिससे कि वह स्वयं भी मानवाधिकारों का उल्लङ्घन न कर सके। जिस कानून का यह निर्धारण करे अथवा निषेध करे, उसका स्वयं उल्लङ्घन न करे।

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु व्यवस्येन्नराधिपः।

अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्।।[१५]

मानवाधिकारों की रक्षा करने के लिए ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में ही सब प्राणियों की सुरक्षा करने वाले ब्रह्मतेजोमय धर्मात्मज दण्ड की रचना का विधान भी किया :—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।

ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः।।[१६]

उस दण्ड के भय से ही सब स्थावर व जङ्गम प्राणी अपने मानवाधिकारों को माँगने में समर्थ होते हैं, और अपने धर्म से विचलित नहीं होते हैं :—

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।

भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च।।[१७]

यह दण्ड ही पुरुष, राजा, न्याय का प्रचार–कर्ता, शासन–कर्ता, व चार वर्ण और चार आश्रम के धर्म अर्थात् मानवाधिकार की प्रतिभू, जमानत या गारन्टी करने वाला है :—

स राजा पुरुषो दण्डः नेता शासिता च सः।

चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभू स्मृतः।।[१८]

यदि राजा अतन्द्रित होकर आलस को छोड़ कर, मानवाधिकारों की रक्षा के लिये दण्ड का प्रयोग न करे तो शक्तिशाली लोग दुर्बल लोगों को, जैसे लोहे की

---

१४. मनुस्मृति, ७.१२

१५. तत्रैव, ७.१३

१६. तत्रैव, ७.१४

१७. तत्रैव, ७.१५

१८. तत्रैव, ७.१७

सीकों से मछलियों को भूनते हैं वैसे ही भून डालें :–

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।

शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः।।[१९]

और कौवे पुरोडाश को खा जायें तथा कुत्ते हवि को चाट जायें और किसी का किसी चीज पर अधिकार न रहे, सब उल्टा–पुल्टा हो जाये, अर्थात् धूर्तों, दुष्टों का वर्चस्व हो जाये :–

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।

स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम्।।[२०]

सब लोग दण्ड के वशीभूत होकर ही भोगों, कर्तव्यों का पालन और दण्डों को भोगते है, स्वाभाविक रूप से पवित्र अर्थात् ईमानदारी से कर्त्तव्यों का पालन करने वाले दुर्लभ ही होते है :–

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।

दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते।।[२१]

वर्तमान परिप्रेक्ष्य के लिए मनु कहते है कि देश, काल, शक्ति और विद्या (अपराध) का ठीक ठीक विचार कर अन्याय करने के प्रति यथायोग्य दण्ड को प्रयुक्त करे :–

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।

यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु।।[२२]

किन्तु यदि राजा ही मानवाधिकारों का हनन करने लगे तो मनु के अनुसार–

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।

धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्।।[२३]

राजा को उसके बान्धवों सहित समाप्त करने का प्राविधान है। मानवाधिकारों की रक्षा व उनकी अवहेलना के सन्दर्भ के उपसंहार में मनु कहते है–

---

१९. मनुस्मृति, ७.२०

२०. तत्रैव, ७.२१

२१. तत्रैव, ७.२२

२२. तत्रैव, ७.१६

२३. तत्रैव, ७.२८

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।

वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता।।[२४]

अर्थात् अपने अपने धर्मों, मान्यताओं, कर्तव्यों, अधिकारों में संलग्न क्रमशः सब वर्णों और आश्रमों को सुरक्षा प्रदान करने वालों के रूप में राजा को बनाया।

केवल राजतन्त्र में ही नहीं, अपितु गणतन्त्रात्मक/प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में भी, मानवाधिकार–रक्षा को ही राज्य की उत्पत्ति के आधार राजा के चुने जाने का स्पष्ट विवरण कौटिल्य ने इस प्रकार दिया है–

'मात्स्यन्यायाविभूता प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे।

धान्य–षड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः।

तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः।।[२५]

जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार बलवान् लोगों ने निर्बलों का जीना दूभर कर दिया। इस अन्याय से पीडित हुई प्रजाओं नें अपनी सुरक्षा और कल्याण के लिए विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया, और अपनी खेती की उपज का छठा भाग, व्यापार से आय का दसवाँ भाग तथा कुछ सुवर्ण, राजा को कर के रूप में देना निश्चित कर दिया। इस कर को पाकर राजाओं ने प्रजाओं की सुरक्षा और कल्याण (मानवाधिकार) की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

युद्ध के नियमों में भी मानवाधिकार को सुरक्षित रखने के लिए, वर्तमान काल में अन्ताराष्ट्रिय नियम हैं कि युद्ध में किसको–किसको नहीं मारा जायेगा तथा किन–किन आयुधों का प्रयोग वर्जित है, इनका स्पष्ट और विस्तृत उल्लेख मनु ने किया है (मनु ६वां अध्याय –९०–९३)। वर्तमान काल में युद्ध के अन्ताराष्ट्रिय नियमों में वर्जित 'ए' (एटामिक), 'बी' (बायोलाजिकल), 'सी' (केमिकल) युद्ध की भाँति मनु ने भी मानवाधिकारों की रक्षा के लिए प्रावधान किये है :–

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।

न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः।।[२६]

धोखायुक्त शस्त्रशास्त्रों, कर्णिभिः (आगे नुकीली मध्य में चौडे), (दिग्धैः) विषबुझे

---

२४. मनुस्मृति, ७.३५

२५. अर्थशास्त्र, द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – ३

२६. मनुस्मृति, ७.९०

और जिनका फलक अग्नि से तप रहा हो उन वाणों से भी न मारे :–

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्।।
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुद्ध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्।।
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षितम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्।।[२७]

युद्ध के समक्ष में, न इधर–उधर खड़े, न नपुंसक, न हाथ जोडे हुए, न जिसके सिर के बाल खुल गये हो, न बैठे हुए, न 'मै तेरी शरण में हूँ' ऐसे कहने वालों को, न सोते हुए को, नु मूर्छा करते हुए को, न नग्न हुए, न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुए देखने वालों को, न शत्रु के साथी को, न आयुघ के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए को, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए को, न पलायन करते हुए पुरुष को, और न सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए को योद्धा लोग मारें।

विदेशी यात्रियों ने भी प्राचीन भारत में युद्ध के समय भी मानवाधिकारों की रक्षा में इसके व्यवहार की पुष्टि की है।

श्रमिकों के मानवाधिकार

श्रमिकों के मानव–अधिकारों को जिस प्रकार आज सूचीबद्ध किया गया है, मनु ने तभी व्यवस्था कर रखी थी। सवेतन चिकित्सा अवकाश का स्पष्ट उल्लेख है–

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम्।।[२८]

यदि सेवक स्वस्थ रहता हुआ, जैसा पहले कहा था, निश्चित हुआ था, उसके अनुसार ठीक–ठीक काम करता रहे तो बीमार होने पर भी वह उस लम्बे समय के वेतन को पाने का अधिकारी होता है।

राजकार्यों में लगे लोगों, स्त्रियों (स्त्रीणाम्) और प्रेष्यजन (सेवक) वर्ग की कर्म के अनुरूप प्रतिदिन की 'स्थानं वृत्तिं कल्पयेत्' कर्मस्थान और जीविका निश्चित कर दें:–

---

२७. तत्रैव, ७.९१–९३, द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – ५
२८. तत्रैव, ८.२१६, द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – २४

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्य जनस्य च।

प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः।।[२९]

न्यूनतम वेतन (का अधिकार) और सर्वोच्च वेतन में १:६ का अनुपात हो और छः माह पर पहनने और ओढ़ने के वस्त्र और प्रतिमाह ६४ सेर अन्न देय है। मनु के अनुसार–

पणो देयोऽवकृष्टस्य षड्त्कृष्टस्य वेतनम्।

शाणसिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः।।[३०]

धन और भूमि दोनों ही वृत्ति के रूप में दी जा सकती थीं किन्तु इस प्रतिबन्ध के साथ कि भूमि न बेची जा सकती थी, न गिरवी की जा सकती थी, जैसा कि आज अनुसूचित जाति के व्यक्ति को आवंटित भूमि न तो उसके द्वारा बेची और न किसी के द्वारा खरीदी जा सकती है।

आर्थिक शोषण से संरक्षित रखने के लिए ब्याज की दर ६% निर्धारित करने के साथ ही मूलधन से दूनी से अधिक धनराशि ब्याज रूप से वह चाहे जितनी अवधि की हो, लेने पर रोक लगा दी गई थी :–

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहता।[३१]

बिना दोष सिद्ध हुए दण्डित न किये जाने का अधिकार–

अदृष्टदोषे किं कुर्मो वयमत्राधिकारिणः।

नान्यस्मिन्नपि दण्डस्य प्रसङ्गोऽनिश्चतागसि।।[३२]

व्यक्ति के गौरव, जिसका उल्लेख हमारे संवधान की प्रस्तावना में है, की रक्षा के मानवाधिकार की अवहेलना करने या लंगडे को वैसा कहने पर, कम से कम एक कार्षापण दण्ड की प्राविधान मनु ने किया। राजा को साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक दण्ड होना चाहिए :–

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।

तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा।।[३३]

---

२९. मनु. ७.१२५, द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – २३

३०. तत्रैव, १.१२६ द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – २३

३१. तत्रैव, ८.१५१

३२. राजतरङ्गिणी, चतुर्थस्तरङ्ग ६५, ६६, द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद–७, ६, १० और ११

३३. मनु.८.३३६, ८.३३६, द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – ५

अपराध में यदि ब्राह्मण सम्मिलित हो तो उसे अधिक दण्ड में मानव–अधिकारः–

ब्राह्मणतश्चैषां ज्येष्ठं नियम्येत–कौटिल्य प्र. ६१ /अ १०

मानवाधिकारों में व्यक्ति के जीवन की रक्षा सर्वोपरि है, किन्तु इसमें **'नाततायि–वधे दोषो'**[३४] में मानव की आत्मरक्षा का अधिकार भी सुरक्षित है। विप्र को मृत्युदण्ड वर्जित किया है, जैसा कि आज भी बड़े वैज्ञानिकों, (पाकिस्तान के एटमी वैज्ञानिक) सामाजिक, परिवर्तन के उद्घोषकों (जैसे म्यामार में) सबको मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता है। उन्हें देश निकाला या नजरबन्द किया जाता है।

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।

राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह।।[३५]

जीवन की रक्षा के बाद, मानवाधिकार के क्रम में आता है कशिपु अर्थात् आहार और आच्छादन।

१. आहार और आच्छादन

आहार के बारे में तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में उल्लिखित है–

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत।

तदव्रतम् तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात।

अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम।[३६]

२. आवास के अधिकार के सम्बन्ध में द्रविड देश से आये एक विद्वान् के लिए आवास उपलब्ध कराने का दृष्टान्त महत्वपूर्ण और सर्वविदित है, जब एक जुलाहे को अपना आवास खाली करने का आदेश राज्य के आमात्य ने दिया, तो उस जुलाहे ने महाराज के सम्मुख उपस्थित होकर आवास खाली न करने के लिये अकाट्य तर्क प्रस्तुत किया–

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि।

यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि।

---

३४. मनुस्मृति, ८.३५१

३५. मृच्छकटिकम्, ६.३६

३६. तैत्तिरीयोपनिषद, १०.१ दृष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – २५

भूपालमौलिकमणिमण्डितपादपीठ।

हे साहसाङ्क कवयामि वयामि यामि।[३७]

३. यह उदाहरण न केवल समानता व सम्पत्ति के अधिकार की, अपितु शिक्षा की स्थिति और एक साधारण व्यक्ति की राज्य के सर्वोच्च न्यायालय तक अबाध पहुँचने के मानवाधिकारों की पुष्टि करता है।[३८]

४. भूमि के स्वामित्व के अधिकार के लिए संस्कृत भाषा के एक हजार वर्ष पूर्व के प्रसिद्ध प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ के अनुसार एक मन्दिर–निर्माण हेतु चुने गये स्थल में एक चमार की झोपड़ी भी आ गई। उस चमार द्वारा अपनी झोपड़ी न हटाने, और उस भूमि का मुआवजा लेकर खाली कर देने से भी मना कर देने पर अधिकारियों ने महाराज को स्थिति बताई। महाराज उन अधिकारियों पर अप्रसन्न हुए कि उसकी भूमि को छोड़कर मन्दिर–निर्माण का कार्यक्रम क्यों नहीं बनाया गया। महाराजा ने उसे बुलवाकर झोपड़ी हटा लेने और उसके लिये अधिक स्थान और धन दिये जाने का आश्वासन दिया। चमार ने कहा कि 'महाराज जितना प्रिय आपको आपका महल है, फूटी मटकी जैसी मेरी झोपड़ी भी मुझे उतनी ही प्रिय है, मैं इसे न दे सकूँगा। महाराजा ने तब उससे वह झोपड़ी दान में माँगी, तो चमार ने उत्तर दिया कि इस प्रकार बुलावाकर दान नही माँगा जाता। अन्ततोगत्वा महाराज उसकी झोपड़ी पर गये, चमार ने यह कहते हुए झोपड़ी हटा ली कि महाराज आप काकुस्थ से बड़े नहीं है और मैं कुत्ते से छोटा नहीं हूँ।[३९] समानता व न्याय के अधिकार का यह एक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

---

३७. भोजप्रबन्ध, पंडित श्री विल्लाल विरचित श्लोक ८८, द्रष्टव्य– संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – ७, १७ और ८

३८. संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – १०

३९. राजतरङ्गिणी ४–५५ से ७७, द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – १ व २

तस्य त्रिभुवनस्वामिप्रासादारम्भकर्मणि। चर्मकृत्कोऽपि न प्रादात्कुटीं क्षेत्रोपयोगिनीम्।।
शश्वत्प्रतिश्रुतार्थानां नवकर्माधिकारिणाम्। नैसर्गिकाग्रहग्रस्तः सूत्रापातं न चक्षमे।।
विज्ञापितोऽथ तैरेत्य तमर्थं पृथिवीपतिः। तानेव सागसो मेने चर्मकारं न तं पुनः।।
सोऽभ्यधात्तान्धिगेतेषामप्रेक्षापूर्वकारिताम्। प्रागेव यैरपृष्ट्वा तं प्रविष्टं नवकर्मणि।।
नियम्यतां विनिर्माणं यद्वाऽन्यत्र विधीयताम्। परभूम्यपहारेण सुकृतं कः कलङ्कयेत्।।
ये द्रष्टारः सदसतां ते धर्मविगुणाः क्रियाः। वयमेव विदध्मश्चेद्यातु न्याय्येन कोऽध्वना।।
इत्युक्तवति भूपाले प्रेषितो मन्त्रिपर्षदा। पार्श्वात्पादूकृतस्तस्य दूतः प्राप्तो व्यजिज्ञपत्।।

संयुक्त–राष्ट्र–संघ तथा उसके अन्य सङ्गठनों द्वारा की गई घोषणाओं और कन्वेंशनों के अस्तित्व पर अधोलिखित दो बिन्दुओं द्वारा प्रश्न चिह्न लग जाता है :–

१. पैगम्बर मुहम्मद के अनुसार प्रत्येक शिशु का जन्म ही इस्लाम में होता है। कुरान पृथ्वी पर ईश्वर के वाइसराय की तरह, मानवता को निर्देशित सर्वोत्तम और सभी अन्य धर्मों पर विजय का भविष्य है। कुरान यह भी कहती है कि पृथ्वी अल्लाह की है, और वह उसे अपने सेवकों को उत्तराधिकार में देता है। अतः सारी पृथ्वी ईश्वर या पैगम्बर के माध्यम से मुसलमानों की है। सभी भूमि हमारी है क्योंकि यह भूमि हमारे ईश्वर की है।[40] यह नियम जिहाद में गैर मुसलमानों

इच्छति स्वामिनं द्रष्टुं स च ब्रूते न चेन्मम। युक्तः प्रवेश आस्थाने बाह्यावसरेऽस्तु तत्।।
अन्येद्युरथ भूपेन स बहिर्दत्तदर्शनः। पुण्यकर्मणि नो विघ्नः किं त्वमेवेत्यपृच्छ्यत।।
प्रतिभाति गृहं तच्चेद्रम्यं तत्र ततोऽधिकम्। तदर्थ्यता धनं वापि भूर्येवं चाभ्यधीयत।।
तूष्णीं स्थितं ततो भूपं चर्मकारो व्यजिज्ञपत्। दन्तांशुसूत्रैस्तत्सत्त्वमानं ज्ञातुमिवोद्यतः।।
राजन्विज्ञाप्यते किंचिद्यदस्माभिर्यथाशयम्। न स्थेयमवलिप्तेन तत्र द्रष्ट्रा सता त्वया।।
नाहमूनः शुनो नास्ति काकुत्स्थात्पार्थिवः पृथुः। क्षुभ्यन्तीवाद्य त्वत्सभ्याः संलापेस्मिन्किमावयोः।। आप्तस्य जन्तोः संसारे भङ्गुरः कायकञ्चुकः। अहंताममताख्याभ्यां शङ्कुभ्यामेव बध्यते।।
कङ्कणाङ्गदहारादिशोभिनां भवतां यथा। निष्किंचनानामस्माकं स्वदेहेऽहंक्रिया तथा।।
देवस्य राजजान्येषा यादृशी सौधहासिनी। कुटी घटमुखानद्धतमोऽरिस्तादृशी मम।।
आ जन्मनः साक्षिणीयं मातेव सुखदुःखयोः। मटिका लोठ्यमानाऽद्य नेक्षितुं क्षम्यते मया।।
नृणां यद्वेश्महरणे दुःखमाख्यातुमीश्वरः। तद्विमानच्युतोऽमर्त्यो राज्यभ्रष्टोऽथ पार्थिवः।।
एवमप्येत्य मद्वेश्म सा चेद्देवेन याच्यते। सदाचारानुरोधेन दातुं तदुचितं मम।।
इति तेनोत्तरे दत्ते भूभृद्गत्वा तदास्पदम्। कुटीं जग्राह वित्तेन नाभिमानः शुभार्थिनाम्।।
अवोचच्चर्मकारस्तं तत्र स व्यञ्जिताञ्जलिः। राजन्धर्मानुरोधेन परवत्ता तवोचिता।।
श्वविग्रहेण धर्मेण पाण्डुसूनोः पुरा यथा। धार्मिकत्वं तथा तेद्य मयाऽस्पृश्येन वीक्षितम्।।
स्वस्ति तुभ्यं चिरं स्थे धर्म्या वृत्तान्तपद्धतीः। दर्शयन्नीदृशीः शुद्धाः श्रद्धेया धर्मचारिणाम्।।

40. **According to the Prophet, every child is born in Islam, but its parents make it a non-Muslim (Bukhari, I, Kitab al-Jana'iz, H. 1295). The Qur'ān declares the Muslims to be the best community and raised up to guide and govern humanity {Al 'Imran (3) 10} as viceregents of God on earth, {An-Nur (24) 55; an-Naml (27) 62} and Islam to be the chosen religion {Al 'Imran (3) 19, 85; al-Ma' idah (5) 3} destined to trimph over all other religions, {Al-Tawbah 9) 33; al-Fath (48) 28; as-Saff (62) 9} The Qur'an also says that 'the earth belongs to Allah. He causes it to be inherited by whom of His servants He will.'{Inna 'l-arda li-'llah-i llah-i; yurithu-ha man yyasha'u min 'idadi-hi" Al-A' raf (7) 128} On the basis of it all the Prophet rules that all land belongs to God or himself, {"A 'lamu ann al-arda li 'llah-i wa rasul-ihi." Bukhari, II Kitab al-Jihad wa's Siyar, H. 406} the natural corollary being that all land belongs,**

की भूमि हड़प लेने के नैतिक अधिकार की सत्यता को प्रमाणित करता है। मुसलमान पृथ्वी के ऊपर एक दैवी अधिकार का उपयोग करते है, जिहाद इसे मात्र पुनः स्थापित करता है।

२. एशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका के मूल आवासियों की सम्पन्न सभ्यता व संस्कृति के अपने–अपने स्थान पर बने रहते हुए भी, पूरी पृथ्वी का बँटवारा पोप ने सन् १४६३ ई० में बुल आफ डिमार्केशन से एजोरेस द्वीप समूह के ६०० लीग पश्चिम की एक काल्पनिक रेखा की गैर–ईसाइयों की सारी भूमि पुर्तगालियों के लिये, और पूर्व की सारी भूमि स्पेन के लिए ईसाईकरण हेतु आवंटित कर दी।[४१]

अन्ततः, बिना स्वयं विचार किये किसी अथवा किन्हीं देशों की हाँ मिलाना, कोई अर्थ नहीं रखता।

यस्यामतं तस्य मतम् मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।[४२]

इन दो बिन्दुओं के सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि–

विचार और धर्म–परिवर्तन, उसके उपदेशों, व्यवहार और उपासना–पद्धति के क्रम अपने धर्म के पालन और उसके प्रचार–प्रसार के मानव के अधिकार की आड़ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रशासन द्वारा उस समय से ही लोभ व आर्थिक लाभ के द्वारा, स्थानीय लोगों के धर्म–परिवर्तन का जो कार्य किया कराया जा रहा था, और जो स्वतंत्रता के बाद भी चलता रहा और जिसका उल्लेख मिशनरी गतिविधियों की रिर्पोट में अंकित है, तथा चर्च का यह दावा कि बाइबिल ईश्वर के उद्घाटित शब्द हैं और केवल उन्हीं के माध्यम–मात्र से ही जीवन–मुक्ति हो सकती है, और जो अन्य कारणों सहित १८५६ के प्रथम स्वतंत्रता–संग्राम का एक आधार बना, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर आज भी यथावत् चल रहा है। महात्मा गांधी जी ने ऐसे धर्म प्रचारकों से बड़ी विनम्रता से कहा कि "आपकी कठिनाई अन्य धर्मों को असत्य या इतना अपमिश्रित, कि वह असत्य जैसा है, मानने के कारण है।[४३]

---

through God and the Prophet, to the Muslims. - Harsh Narain, Jizyah and The Spread of Islam, page 1 (Voice of India, New Delhi, 1990)

४१. डिस्कवरी आफ इण्डिया के Discovery of sea-roots (जवाहर लाल नेहरू) पृष्ठ २८०, द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद–१७ (i) और (ii)

४२. केनोपनिषद्, २–३, द्रष्टव्य – संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा का अनुच्छेद – १६

४३. रिर्पोट आफ द क्रिश्चियन मिशनरी एक्टीविटीज इन्क्वायरी कमेटी, गवर्नमेण्ट प्रिंटिग प्रेस, नागपुर, १६५६, खण्ड १, पृष्ठ सं. ४६–१

किन्तु "कदाचित् आप यह नहीं कह सकते कि जो आपके लिए सर्वोत्तम है वह सभी के लिए सर्वोत्तम है.............और क्या यह मान लेना कि आनन्द और शान्ति की कुञ्जी केवल आपके ही पास है, यह अतीव हठी–अहङ्कारी नहीं है, और क्या किसी अन्य धार्मिक विश्वास का पालन करने वाला अपने धर्मग्रन्थों के अध्ययन से वह उसे उसी मात्रा में नहीं प्राप्त कर सकता।"[४४]

ऐसी अतीव हठी–अहङ्कारी धार्मिक–स्वतन्त्रता का मानवाधिकार क्या भिन्न संस्कृति के कुछ राष्ट्रों के अस्तित्व के लिये सङ्कट नहीं है?

आज के बहुचर्चित वैवाहिक सम्बन्धों के क्रम में धर्मशास्त्र के आठ वर्ग, भेदभाव मूलक नहीं, अपितु तथ्यात्मक हैं, क्यों कि उसके अन्तिम चार वर्ग परिवारों अतिरिक्त अनुलोम–प्रतिलोम विवाहों और उनके एक साथ रहने के स्पष्ट उदाहरण संस्कृत–वाङ्मय में उपलब्ध है।

वर्तमान मानवाधिकार के सन्दर्भ में उपर लिखे संस्कृत–वाङ्मय के कुछ सन्दर्भ केवल सङ्केत–मात्र हैं। यदि समय, सुविधा और साधन उपलब्ध हों तो विश्वस्तरीय ग्रन्थ लिखा जा सकता है।

***

---

४४. मिशनरीज़ इन इण्डिया, कन्टीन्यूटीज़, चेन्जेस, डेलेमास – अरुणशौरी पृष्ठ २३८– महादेव देसाई – संग्रह ६५, पृष्ठ ४७–८, खण्ड ६०, पृष्ठ ३२३

डॉ० राम सुमेर यादवः
लखनऊ

संस्कृतवाङ्मये मानवाधिकारस्यावधारणा

संस्कृतवाङ्मये मानवाधिकार इति विषयस्य विवेचनात्प्राग् अधिकारपदविवेचनं सुसङ्गतम्भवति। अधिकारो नाम तत्सर्वं कृत्यजाले यदर्थं राजशासनेन दण्डार्हतानिषेधः परिकल्प्यते। अधिकारोऽयं बहुधा वर्गीकृतो भवितुं प्रभवति। वैयक्तिकोऽधिकारः सामाजिको राष्ट्रियो वाऽधिकारः।

अधिपूर्वकं कृधातोर्भावे घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नोऽधिकारशब्दः योग्यक्रियापरः। दृश्यन्ते च पाणिनिसूत्रे कानिचन सूत्राणि अधिकाराख्यानि तानि सर्वाण्यपि तदुत्तरवर्तियोगोपकारकाणि इति तत्र अधिकारशब्दः सम्बद्धार्थपर एवेति निश्चयो भवति उत्तरोत्तरगमनाधिकार इति सूरिभिः स्वीकृतत्वात्। अधिकारस्तु योगे योगे उपतिष्ठत इति महाभाष्यकारेणोक्तत्वाच्च।

मीमांसाशास्त्रेऽपि अधिकरणशब्दो बहुधा प्रयुक्तः। तत्रापि अधिपूर्वककृधातोर्भावे ल्युटि तच्छब्दसिद्धिरिति तत्राधिकरणाधिकारयोः न भवति कोऽपि भेद इति तत्रापि अधिकारशब्दः सम्बद्धपर एवेति निश्चयो भवति। पाणिनिना तु आधारस्य अधिकरणत्वेन स्वीकृतत्वात् प्रकृतार्थभिन्नता तत्र दृश्यते।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" इति गीतायाः प्रसिद्धेयमुक्तिः अधिकारपदं कर्मपदं च स्वस्मिन् आत्मसात्करोति। अत्र तु कर्मपदार्थो-ऽधिकारपदार्थाद् भिन्न एव। अत्र क्रियाफलशालित्वकर्मार्थस्याऽभावः फलशब्दस्य तत्र कर्मपदार्थभिन्नत्वेन स्वीकृतत्वात्। अतोऽत्र कर्मपदं क्रियामात्रपरं तथा च पूर्वोक्ताधिकारशब्दस्य क्रियामात्रपरकत्वादुभयोः समानार्थकत्वेन अत्र अप्रासङ्गिकत्वाद् भवति च अधिकारशब्दस्य क्रियामात्रपरत्वाद् भिन्नोऽर्थ इति निश्चेतुं शक्यते।

स्वाधिकारात् प्रमत्तः इति मेघदूतप्रथमश्लोकस्याधिकारशब्दस्य कर्तव्याच्च्युत इत्यर्थसामञ्जस्यपटुः कविः अधिकारकर्तव्ययोर्भेदाभावमेवाभिप्रैतीति नाविदितं विद्वत्तल्लजानाम्।

कृधातोः कृत्येन तव्यता निष्पन्नस्य कर्तव्यशब्दस्य क्रियामात्रपरकत्वमिति शाब्दिकार्थस्य सत्वेऽपि कदाचिद् योग्यक्रियामात्रत्वेन कदाचिच्च भविष्यत्सम्पाद्यमानक्रियात्वेन नानाविधास्यार्थस्य सम्भावनामाकलयन्ति धीराः।

यदि सूक्ष्मतया विचार्यते तर्हि ज्ञातुं शक्यते यदस्मिन् लोके जीवितुं भवति सर्वेषामधिकारः। मात्स्यन्यायश्च तद्विरोधी। अत एतदपि वक्तुं शक्यते यत्... यत् यत् मात्स्यन्यायविरोधि तत्सर्वमपि कृत्यं न्याय्यं कर्तव्यम् अधिकृतम् इत्यादिपदभाष्यम्। एतदेव पुण्यं सत्यं ऋतम् धर्माः इति नामभिरपि अभिधातुं शक्यते।

इत्थमधिकारशब्दस्य नानाविधार्थकत्वात् प्रकृते मानवाधिकारपदे कीदृशोऽर्थः स्वीकृतः इति चेत् तत्सर्वं कृत्यजातं येन विना मानवः स्वातन्त्र्ये विघ्नमनुभवेद् येन चाऽन्यस्य स्वातन्त्र्ये विघ्नो न स्यादधिकार इत्युच्यते।

अतः परपारतन्त्र्यप्रतियोगिस्वस्वातन्त्र्यानुयोगिव्यापारसमूहोऽधिकारः। अत्र परपारतन्त्र्यप्रतियोगित्वनिवेश उच्छृङ्खलस्वातन्त्र्यस्य निरासाय। एतदेव कर्तव्यपदेन समग्रे संस्कृतवाङ्मये बाहुल्येन चर्चितं भवति।

"कः पौरवे शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।

अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु।।"[1]

इत्यभिज्ञानशाकुन्तले प्रथमाङ्के मानवाधिकारसंरक्षणजागरूकस्य देशस्य विधिन्यायकार्यपालिकाप्रमुखस्योद्घोषः कस्य मनो नावर्जयति। अत्र वनवासिसामान्यस्त्रीजनानां स्वातन्त्र्येण वने विहरणरूपाधिकारे अनधिकृतत्वेन प्रविष्टस्य यस्य कस्यापि कृते दण्डदानाय उद्यतो राजा मम राज्ये स्वातन्त्र्येण प्रकृतिप्रदत्तसौविध्यानामुपयोगे भवति सर्वेषां जनानां समानोऽधिकार इत्येव ख्यापयति।

पुनश्च षष्ठेऽङ्के–

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।

स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।।[2]

दुष्यन्तस्येयमुक्तिः सम्पूर्णमानवतासम्पादनाय यस्य यस्य भवति आवश्यकता तेन तेन यदि कोऽपि ऊनः, तत्तल्लब्धुं भवत्यधिकारः प्रजाया इत्येव ख्यापयति।

तत्रैव पञ्चमाङ्के

"कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि"[3]

इति वनवासिजनोक्तिरनुचितकार्यादृते सर्वत्र क्रियाया भवति स्वातन्त्र्यं सर्वजनसामान्यस्य इत्येव व्यनक्ति। अस्मिन्नेव क्रियास्वातन्त्र्ये सर्वेषामद्यत्वे

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.२२

२. तत्रैव, ६.२६

३. तत्रैव, ५.१४

विद्यमानानां मानवाधिकाराणामन्तर्भावो भवति। सर्वेषामपि मानवानां यथेच्छं कर्म कर्तुं भवत्यधिकारो यावत्पर्यन्तं तेन कर्मणा कस्याप्यायऽधिकारस्याऽतिक्रमणं न भवति।

अतोऽयं मानवाधिकारः सर्वातिशायी मानवाधिकारः। अद्यत्वे अस्माकं मृत्यौ स्वातन्त्र्यं न भवति। अयं भवति कश्चन दण्डनीयोऽपराधः किन्तु पूर्वोक्तदिशा प्राचीनकाले तत्रापि जनानां आसीद् अधिकारः।

विवाहेऽपि प्राचीनकाले दृश्यते महानधिकारः। गान्धर्वविवाहस्य चर्चया समग्रमपि वाङ्मयमाप्लावितं भवति। अनुलोमप्रतिलोमविवाहानां मान्यता स्मृतिग्रन्थेषु बहुशो दृश्यते। वरस्य वध्वा वा स्वेच्छया चयनस्य अधिकारादृते अनुलोमप्रतिलोमविवाहकथाऽपि न भवितुं प्रभवति। अतो ज्ञायते पूर्वस्मिन् काले स्वेच्छाविवाहस्याऽधिकार आसीदिति। महाभारते बलात् समानीतापि अम्बा पुनःस्वस्निग्धं प्रति प्रेषिता न तु तया सह बलात् विवाहः कस्यापि कारितः इत्यनुभूयते जनानां वैवाहिक्याः स्वतन्त्रताया अधिकारोऽक्षुण्ण असीदिति।

अभिव्यक्तेः स्वातन्त्रतायाः पराकाष्ठा भवति एकेन रजकेन देशाधिपस्य सम्प्रभुसम्पन्नस्य विषयेऽपि आरोपस्थापनं यत् परगृहवासा पत्नी कथमिव न्यायपालेकन अङ्गीकृतेति। अत्राप्यङ्गीकारानङ्गीकारविषयक एव प्रश्नो न तु तत्र तस्याः कृते दण्डाधानस्य। एकेन सामान्यनागरिकेण देशस्याऽधिपस्योपरि आक्षेपः कर्तुं शक्यते इति प्राचीनकालीनाऽभिव्यक्तिस्वतन्त्रता अतिशेते। अद्यत्वे यदि एतादृश आक्षेपः स्याच्चेत् कदाचित् जिह्वाकर्तनम् कदाचित् समूलवंशनाश इत्यादयोऽनेके उपद्रवाः शासकसम्बद्धैः कृता भवेयुः।

धर्माचरणस्वतन्त्रताऽपि प्राचीनकालीना अपूर्वेति प्रतिभाति। कोऽपि वेद–मङ्गीकरोति कोऽपि पुराणवाङ्मयं सर्वस्वं मनुते। कोऽपि स्मृतिशास्त्रविरोधि कार्यं करोति। कोऽपि त्रिदेवोपासनां करोति। कोऽपि शिवं प्रमुखं मनुते। कश्चन विष्णुम्। कश्चन कमपि नाङ्गीकरोति कश्चन सर्वानङ्गीकरोति। यो यत् कर्तुमभिलषति तत्करोतु, अहन्तु एतदेव करिष्यामीति धिया स्वेच्छारूपेणैव कोऽपि धर्ममङ्गीकरोति स्म। अतो धार्मिकस्य एकस्यापि उन्मादस्य कथा प्राचीने वाङ्मये न दृश्यते। तत्र वसिष्ठोऽपि ऋषिः जाबालिरपि, विश्वमित्रोऽपि ऋषिः तथा च चार्वाकोऽपि। इत्थं वक्तुं शक्यते धार्मिकाचरणस्वातन्त्र्यरूपाधिकारः प्राचीनकाले सर्वेषामासीदिति।

इत्थं विचार्यते चेदनुभवो भवति प्राचीनकाले निश्सीमो मानवाधिकार आसीद् इति। स चायं निःसीमोऽधिकारः कदाचित् उच्छृङ्खलताया रूपं न गृह्णीयादित्यत्र विशालः कर्तव्यभारो जनैः स्वस्मिन् स्वयमारोपितः। कर्तव्यबद्धो जनः कस्याप्य–धिकारक्षेत्रं नाऽतिक्रमेदित्येवासीत् तत्र भावना। स्वयं स्वस्स्याऽधिकारस्य रक्षणे नासीत् कोऽपि यतमानः, अपितु कर्तव्यपाशबद्धः सन् परकीयाधिकाररक्षण एव ते व्यग्रा दरीदृश्यन्ते। बहुत्र कर्तव्यानुपालने कदाचिद् राजकीयस्य दण्डस्याऽभावेऽपि

स्वयमेव प्रायश्चित्तं कुर्वते स्म। त्रिकालसन्ध्यायां नित्येऽनुष्ठाने जनाः रात्रिकृतपापजन्यं प्रायश्चित्तं प्रातः, प्रातः कृतपापजन्यं प्रायश्चित्तं मध्याह्नकाले, पुनः तत आसायं कृतपापजन्यं प्रायश्चित्तं सायं कुर्वन्ति स्म। समग्रमपि धर्मशास्त्रं दुरितध्वंसनाय कर्तव्यानां प्रायश्चित्तानां समावेशनेन पृथुतां गतं भवति। किं बहुना, मीमांसकशिरोमणिः कुमारिलभट्ट एव प्रायश्चित्तरूपेण स्वीयं देहं त्यक्तवान् इति नाविदितं तच्छास्त्रजुषाम्। यत्र स्वकीयानुशासनस्यैव भवति प्रभावस्तत्र पराधिकारप्रवेशस्य का वा कथा स्यात्।

कर्तव्यं प्रति जागरूकत्वादेव कर्तव्यशब्दः कदाचित् धर्मापरपर्यायोऽभूत् स्त्रीधर्मः, राजधर्मः, ब्राह्मणधर्मः इत्यादिषु तस्य तस्य कर्तव्यस्यैव धर्मत्वेन दर्शनात्। अत्र सर्वत्र धर्मशब्दः कर्तव्यमात्रपरः। अस्मिन्नेव कर्तव्ये बद्धः सन् कोऽपि राजा राज्यरक्षणप्रजापालनरूपस्वीयधर्मात् प्रच्युतो न भवति स्म। यदि कश्चन उच्छृङ्लाधिकारं प्राप्तुं यतते स्म, स राजा वेन इव स्वपदात् प्रजया भ्रष्टः क्रियते स्म। कर्तव्यपराङ्मुखस्य जनस्य समाजे आदरो न भवति। सर्वे यशःकायेन जीवितुं यतन्ते स्म। भौतिकसुखं क्षणिकमिति मन्वानः जनाः **"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः"**[४] इति स्मरन्तो न्यूनायामपि भौतिकसमृद्धौ तृप्ता आसन्।

याज्ञवल्क्यस्मृतेर्व्यवहाराध्यायस्य तत्रत्यमिताक्षराव्याख्यानस्य च परिशीलनेनाऽवगन्तुं शक्यते यत् तस्मिन् काले समानस्य न्यायस्याधिकार आसीत् समेषाम्। न्यायाधिकरणे पक्षप्रतिपक्षसाक्ष्यानां प्रत्येकं आरोपप्रत्यारोपाणां सम्यक् परिशीलानानन्तरमेव भवति स्म कश्चन निर्णयः। तत्र नीरक्षीरविवेकचतुराः सभ्या अधर्मभयात् सत्यान्वेषणे एव व्यग्रा आसन् सत्यस्यैव जय आसीत्। तत्र तेषां निर्णये इदानीन्तनस्य न्यायस्य निष्पक्षतायाः पराकाष्ठा द्रष्टुं शक्यते। अतः समानस्य न्यायस्याऽधिकारः सर्वेषां सुरक्षित आसीत्।

'सर्वसाधारणानि खलु वनलताः फलपुष्पमूलानि नदीजलानि च। अतः किं निमित्तं यः कोऽपि कुप्यति।'[५] इति भास्करकवेरुन्मत्तराघवीयस्य नाटकस्योक्ति–र्वनस्थानां सर्वेषामपि तत्त्वानां नदीनाञ्चोपरि सर्वेषां आबालवृद्धानां आपामरज्ञानवृद्धानां आराजप्रजानां आगृहस्थयतीनां भवति समानोऽधिकारः। अद्यत्वे अस्माभिरेतदुररीक्रियते चेद् बहूनां समस्यानां समाधानं स्यात्। प्राकृतिकं यत् तत् समेषां न तु नृपाणाम् एवेति समानप्रकृत्युपयोगरूपः कश्चन अपूर्व एवोऽधिकार इदानीन्तनापरिचितः आसीत् तस्मिन् काल इत्यवगन्तुं शक्यते।

'दुर्लभं मानुषं जन्म' इति मन्वाना अस्मत्प्राचीना ऐहिकेन भोगेन सन्तृप्ताः सन्तः पारलौकिकभोगसम्पादनाय सर्वदा चेष्टमाना यत्किमपि अकृत्यं अनार्यं तत्सर्वमपि

---

४. यजुर्वेदः, ४०.१

५. उन्मत्तराघवः, ६ के बाद (पृ० ३)

जहन्त आत्मन उन्नत्यै यतमानाः सन्तः क्षुण्णकर्तव्यमार्गात् तिलमात्रमपि अनटन्तः परोक्षरूपेण परकीयाऽधिकारमेव सुरक्षितं कुर्वन्त आसन्।

राजा जनको योगिराडिति पदभाक्। कालिदासस्य राजा दिलीपश्च राज्याश्रममुनिरिति उपाधिभाग् एतदर्थमासीत् यत् ते इदानीन्तनकाले प्राचुर्येण प्रचलितस्योपभोगवादस्य सर्वतोभावेन उपेक्षां कुर्वन्तः स्वीयं समग्रमप्यधिकारं कर्तव्यत्वेन परिगणय्य राज्यशासनमकुर्वन्। कालिदासस्य दिलीपस्तु स्वीये राज्ये सन्तुष्टानां प्रजानां श्रेयः अपि स्वीयाय गुरवे वशिष्ठाय समर्पणे सन्तोषमनुभवति।

पितुरिच्छायाः पूर्तिरेव परमं कर्तव्यं मन्वानः पुत्रः स्वीयं राज्यमप्यानन्देन हातुं सज्जित आसीत्। महनीयो भीष्मः पितुस्तोषाय तज्ज्ञानेन विना सत्यवत्याः पितुर् अग्रे महतीं प्रतिज्ञां कृत्वा आत्मानं भाव्यराज्याधीशत्वाद् विमुखीकृत्य तस्य च राज्यस्य आजीवनं रक्षायै धृतव्रतः कर्तव्यस्य कमप्यपूर्वमेव उदाहरणं प्रास्तौत्।

सति ज्येष्ठे राज्यस्य मुख्यत्वेनात्मानमनधिकृतं मन्वानो दाशरथिर्भरते ज्येष्ठस्य पुनरागमनं यावत् तत्पादुके सिंहासने संस्थाप्य राजधान्या नातिदूरे नन्दिग्रामे स्थितः चतुर्दशवर्षपर्यन्तं व्रती सन् राज्यं पालयामास।

पुरुषोत्तमो रामोऽपि पित्रा दत्तस्य वरस्यामोघतायै, सूर्यवंशस्थानां राज्ञां चयनस्य सत्यताख्यापनाय, मातुः कैकेय्या इच्छायाः पूर्त्यै च कर्तव्यपाशबद्धः सन् चतुर्दशवर्षाणि वनं निनाय।

भ्रातृस्नेहशुद्धान्तःकरणः लक्ष्मणो ज्येष्ठस्य भ्रातुरनुगमनं परमं कर्तव्यं मन्वानः स्वीयां प्राणप्रियाम् जायां अपि अविगणय्य राजकीयं सुखं मातृस्नेहं च तुच्छीकृत्य चतुर्दशवर्षाणि यावच्छायेवाग्रजं अनुगच्छन् तदीयं समग्रमपि दुःखं दूरीकर्तुं यतमानः कर्तव्यस्य किमपि अदभुतमेव उदाहरणं प्रस्तौति।

भारतीया संस्कृतिः त्यागमूला। अत्र त्यागस्य महत्त्वम्। त्यागश्च भौतिकसंसाधनोपयोगस्य। भौतिकं ऐश्वर्यं प्रति उदासीनानां प्राक्कालीनभारतीयानां कृते स्वाधिकारसंवर्द्धनचेष्टापेक्षया परकीयाधिकारसंरक्षणमेव महत्वपूर्णमासीत्। तत् तु ऋते कर्तव्यं असम्भवम्। अतः कर्तव्यपराणां अस्मत्पूर्वजानां कृते स्वीकारपरके भौतिकसंसाधनसमुपभोगप्रवृत्तिमूलके स्वीयाधिकारे भवति स्म महती उदासीनता इति संस्कृतवाङ्मयालोडनेन सम्यगवगन्तुं शक्यते।

इत्थमस्मिन् लघौ प्रबन्धे संस्कृतवाङ्मये मानवाधिकार इति विषयमधिकृत्य विशालाद् वाङ्मयात् लवरूपो विषयः प्रस्तुतः। अधिकारकर्तव्ययोः प्राचीनानां जागरूकता विस्मयाविष्टं करोति। यस्मिन् काले विश्वस्मिन् विश्वे सभ्यताया दीपोऽपि न ज्वलितस्तस्मिन् काले अस्मिन् संस्कृतवाङ्मये मानवाधिकारविषय एतादृशो विशदो गहनश्च विचारो भवति स्मेति स्मारं स्मारं मोदते मनः।

***

डॉ० गीता देवी गुप्ता
कानपुर

संस्कृत–वाङ्मय में स्त्रियों के अधिकार

जडचेतनात्मक इस सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रचना है **'मानव'** और मानव का सर्वोपरि धर्म है 'मानवता'। मानवता के धर्म को सार्वभौमिक करने के उद्‌देश्य से संयुक्त–राष्ट्र–संघ द्वारा सन् १९४८ ई० में मानव–अधिकारों की सार्वभौम घोषणा की गई। यद्यपि मानवाधिकारों की चर्चा और उसकी विवेचना सम्बन्धी आयोग, कुछ दशक पूर्व ही अस्तित्व में आये प्रतीत होते हैं पर मानवाधिकारों की चर्चा के बीज–मन्त्र तो संस्कृत–वाङ्मय के गर्भ से ही उद्‌भूत होकर पुष्पित और पल्लवित हुए हैं।

संस्कृत–वाङ्मय को विश्व–वाङ्मय का प्राचीनतम एवं विशालतम वाङ्मय होने का गौरव प्राप्त है। वेद इस वाङ्मय के प्राचीनतम अभिलेख हैं। भारतीय दार्शनिक विचारधारा में वेद को स्वतःसिद्ध प्रमाण स्वीकार किया गया है, जो मानव–सृष्टि के सुव्यवस्थित सञ्चालन के लिए देवादेश रूप है, अतः मानव के कर्त्तव्यों का निर्धारण करने वाले 'वेद' से मानवाधिकार कैसे अछूता रह सकता है? वस्तुतः वैदिक–काल से लेकर पुराण–इतिहास और लौकिक–साहित्य; काल–चक्रों के सभी खण्डों में मानवाधिकार की चर्चा किसी न किसी रूप में पायी जाती रही है।

'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श हमारी विचारधारा के वे आधार हैं जिन पर मानवाधिकार रूपी वर्तमान भवन निर्मित हुआ है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' तथा 'गृहणी गृहमुच्यते' द्वारा स्त्री के सम्मान और अधिकार को इङ्गित किया गया है– वैदिक ऋषिका 'मैत्रेयी' से लेकर 'पार्वती' तथा 'विद्योत्तमा' सभी का वैदुष्य स्त्री–शिक्षा के अधिकार को द्योतित करता है। इसी प्रकार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तथा 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' द्वारा मानव मात्र के समानाधिकार की बात कही गई है। 'धिगस्तु परवश्यताम्' द्वारा आत्मनिर्णय तथा आत्म–स्वातन्त्र्य की महत्ता निरूपित की गई है। इसी प्रकार योगवाशिष्ठ में 'युक्ति–युक्त वचन बालक से भी ग्रहण करनी चाहिए' यह बात कही गई है तथा चाणक्य–सूत्र में 'बालस्याप्यर्थवद्वाक्यमुपयुञ्जीत् पण्डितः' द्वारा बालकों के अधिकार को स्वीकार किया गया है। श्रीमद्‌भागवत के 'यावद् भ्रियेत् जठरं' द्वारा सभी को समानाधिकार की बात स्वीकार की गई है। वेद

की ऋचाएं शूद्रों के प्रति उदारता एवं सम्मान अभिव्यक्त करती हैं इसी प्रकार 'मनुर्भव' का उद्घोष अमानवीय व्यवहारों से सुरक्षा के अधिकार की सूचना देता है।

अतः हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि ज्ञान–विज्ञान की देदीप्यमान रश्मियों द्वारा सम्पूर्ण विश्व को आलोकित करने वाले संस्कृत–वाङ्मय में मानवाधिकार के वे बीज–बिन्दु; सदा से स्पन्दित होते आए हैं जो आज कर्त्तव्य और अधिकारों की भूमि में, मानव–संरक्षण की वारि–धारा, तथा आवश्यकताओं की रश्मियों से प्रस्फुटित होकर, मानवाधिकारों के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्त्रियों के अधिकार की चर्चा हो या बालकों के अधिकार की विवेचना, धार्मिक सहिष्णुता का भाव हो या अस्पृश्यता–उन्मूलन का उद्घोष सभी के मूल मन्त्र संस्कृत–वाङ्मय में प्राप्त होते है।

उक्त सन्दर्भ में संस्कृत–वाङ्मय में स्त्रियों के अधिकार सम्बन्धी कुछ विचार इस प्रकार है :–

किसी समाज या राष्ट्र की उन्नति में स्त्री तथा पुरुष दोनों की सहभागिता अपेक्षित होती है। पुरुष वर्ग यदि राष्ट्र का निर्माता है तो स्त्री उस राष्ट्र की भाग्य विधात्री; क्योंकि कर्मठ, सुयोग्य तथा संस्कारवान् नागरिकों का निर्माण मातृशक्ति के कर–कमलों द्वारा ही सम्भव होता है। नारी–शक्ति के इसी गौरव–गान को हमारे ऋषि मुनियों द्वारा इस प्रकार उजागर किया गया है–

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।[1]

सम्भवतः मातृशक्ति की इसी जीवनदायिनी शक्ति से नतमस्तक हो; मनु महाराज कह उठते हैं कि :–

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः[2]

जब समाज की एक छोटी इकाई 'परिवार' के दम्पती अर्थात् पति–पत्नी को गृहस्थी रूपी गाड़ी के दो पहिए कहा जा सकता है तो राष्ट्र रूपी गाड़ी के अग्रसारित होने में नारी–शक्ति की सार्थक सहभागिता से मुँह कैसे मोड़ा जा सकता है? यही कारण है कि संस्कृत–वाङ्मय के विविध कालखण्डों में रचित साहित्य सदा से स्त्री–अधिकारों से स्पन्दित रहा है।

वर्तमान में सभी क्षेत्रों को समान अधिकार एवं समान अवसर प्राप्त हैं, वैदिक

---

१. दुर्गासप्तशती, ५.३२, ३३, ३४
२. मनुस्मृति, ३.५६

समाज में भी नारी को वे अधिकार और अवसर प्राप्त थे। पत्नी के लिए प्रयुक्त अर्धाङ्गिनी, गृहलक्ष्मी तथा सम्राज्ञी जैसे शब्द उसके (नारी के) माहात्म्य को ही उजागर करते हैं। पति तथा पत्नी दोनों के लिए प्रयुक्त **'दम्पती'** शब्द भी स्त्री के समानाधिकार को ही इङ्गित करता है। हमारी संस्कृति की आस्था के प्रतीक सीता–राम, राधा–कृष्ण, लक्ष्मी–नारायण जैसे शब्द–युग्म भी स्त्री–महिमा का वर्णन करते हैं।

स्त्री–शिक्षा का अधिकार : व्यक्ति–विशेष के सर्वांगीण विकास में शिक्षा की महती भूमिका रहती है। संस्कृत–वाङ्मय के गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि वेदकाल से लेकर आधुनिक काल तक रचित साहित्य में स्त्री–शिक्षा का सम्यक् प्रावधान था।

वेदों में अनेक मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्होंने अनेक सूक्तों की रचना की– **यथा–विश्ववारा, अपाला, लोपाद्रुमा, घोषा आदि।** उक्त ऋषिकाओं द्वारा सूक्तों की रचना से उनके वैदुष्य का ज्ञान होता है और सूक्त–रचना सम्बन्धी ज्ञान, बिना 'शिक्षा–दीक्षा' के सम्भव नहीं। अतः सिद्ध होता है कि वैदिक–समाज में स्त्रियों को शिक्षा का पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

ऋग्वेद का यह कथन **'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविंथ'**[3] स्त्री के वैदुष्य का सूचक है। एक अन्य स्थल पर स्त्री को ज्ञानयुक्त वक्तृता देने का उल्लेख है। **'विदथमा वदासि'**।[4] ऋग्वेद के ही दशम मण्डल के एक सौ उनसठवें सूक्त में **'अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचंनी'** द्वारा उसके ज्ञानवती और शत्रुनाशिनी होने की सूचना दी गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदुषी गार्गी द्वारा महर्षि याज्ञवल्क्य से ऐसे गूढ प्रश्नों की जिज्ञासा रखी गयी कि महर्षि को अपनी प्रतिष्ठा संरक्षण में बहुत आयास करना पड़ा[5]। महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी का वैदुष्य विश्व–प्रसिद्ध है।

अथर्ववेद में ब्रह्मचर्यपूर्वक कन्याओं द्वारा उचित वर प्राप्त करने की कामना **'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'**[6] से ज्ञात होता है कि वेद काल में कन्याओं की शिक्षा–दीक्षा की समुचित व्यवस्था थी। **गोभिलगृह्यसूत्र** में स्त्री को यज्ञोपवीती बताकर उसके उपनयन संस्कार का उल्लेख प्राप्त होता है–**'प्रावृत्ता यज्ञोपवीतनीम्**

---

३. ऋग्वेद ८.३३.१६
४. वही १०.१५६.२
५. वृहदारण्यकोपनिषद् ३.६.१, ३.८.१
६. अथर्ववेद ११.५.१८

अभ्युदानय् जपत् सोमोऽददद् गन्धर्वाय'[७] इसी प्रकार **काठकसूत्र** में कन्या के ब्रह्मचर्य समाप्ति पर किए जाने वाले संस्कार का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिससे तत्कालीन समाज में स्त्री–शिक्षा के प्रति जागरूकता का सन्देश प्राप्त होता है।

दशवार्षिकब्रह्मचर्यं कुमारीणां द्वादशवार्षिकं वा.......।[८]

वाल्मीकि रामायण की कौशल्या द्वारा वेदमन्त्रों के उच्चारणपूर्वक यज्ञ सम्पन्न करने का उल्लेख भी स्त्री के शिक्षा सम्बन्धी अधिकार की सञ्चेतना को ही स्पष्ट करता है। **'अग्निं जुहोतिस्म तदामन्त्रत्.......हावयन्तीं हुताशन'**[९] दूसरी ओर महाभारत की द्रौपदी को साक्षात् पण्डिता के रूप में वर्णित किया गया है **'प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता पतिप्रिया'**। महाकवि भारवि ने तो अपने **'किरातार्जुनीयम्'** में द्रौपदी की असाधारण प्रतिभा को देवगुरु वृहस्पति को भी चमत्कृत कर देने वाली कहा है। महाकवि भवभूति के **'उत्तररामचरित'** के द्वितीय अङ्क में आत्रेयी और वनदेवता के परस्पर संवाद से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ भी वेदादि का सम्यक् अध्ययन किया करती थीं–

'अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति......

तेभ्योऽधिन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि'[१०]

कविकुलगुरु कालिदास के **'कुमारसम्भवम्'** की पार्वती यज्ञ करने वाली कही गयी हैं। कृताभिषेकां हुता जातवेदसं इसी प्रकार **'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'** की शकुन्तला द्वारा नलिनीपत्र पर सन्देश–प्रेषण के उल्लेख से स्त्री–शिक्षा का ज्ञान होता है। **रघुवंश** की नारी के सचिवतुल्या, हितोपदेशिका तथा प्रियशिष्या– ये विशेषण भी स्त्री–शिक्षा के अधिकार का सञ्ज्ञान कराते हैं। **'सङ्गिनी सचिवतुल्या हितोपदेशिका सखी प्रिया शिष्या'**[११]।

कादम्बरी के रचनाकार महाकवि वाणभट्ट गन्धर्व–कन्या 'महाश्वेता' को ब्रह्मसूत्र से पवित्र काया वाली बताते हैं। उक्त उद्धरणों के आधार पर हम कह सकते है कि संस्कृत–वाङ्मय में स्त्री–शिक्षा के सूत्र सदा से प्राप्त होते आए हैं।

---

७. गोभिलगृह्यसूत्र १.१.१६
८. काठकगृह्यसूत्र १६.२–३
६. वाल्मीकीरामायण (अयोध्याकाण्ड)
१०. उत्तररामचरित २.३
११. रघुवंश ८.६६

समानता का अधिकार : ऋग्वेद में पति–पत्नी को रथ के दो पहियों के समान बताकर स्त्री को समानता का अधिकार प्रदान किया गया है **जायेव पत्ये तन्वोरिरिच्या विचिंदबृहेव रथ्येव चक्रा**[१२] शतपथब्राह्मण में पति के बिना पत्नी और पत्नी के बिना पति की अपूर्णता की बात कही गयी है **'अर्धं ह वा एष....अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ तर्हि सर्वो भवति'**[१३]। बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णन आता है कि ब्रह्म का ही आधा भाग नर और शेष भाग नारी रूप में विभक्त हो गया। स्त्री–जाति के लिए समानता के अधिकार का इससे प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है कि यजमान को एकाकी (अपत्नीक) यज्ञादि सम्पन्न करने के अधिकार से ही वञ्चित कर दिया गया। **अयज्ञो वा एषः योऽपत्नीकः**[१४] पत्नी की अनुपस्थिति में स्त्री की स्वर्ण–प्रतिमा का स्थानापन्न रूप वाल्मीकि रामायण में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में 'गृहिणी गृहमुच्यते' द्वारा स्त्री को एक प्रकार से सर्वाधिकार प्रदान किया गया है। इसी प्रकार वही **'जा॒येदस्तम्'**[१५] के माध्यम से जाया ही घर है ऐसा कहकर, पत्नी के समानता के अधिकार को भी सुरक्षित किया गया है।

पति–पत्नी के लिए प्रयुक्त दम्पती, मातरौ, पितरौ, आदि शब्द स्त्री के समानाधिकार को ही इङ्गित करते है। द्वन्द्वसमासात्मक मातापितरौ शब्द में माता का प्रथम उल्लेख तो स्त्री की महिमा को और भी गुणन्वित कर देता है। महाभारत में मातृशक्ति को अतुलनीय कहकर उसे सर्वोच्चता प्रदान की गई।

'नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः।

नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया।।'[१६]

स्त्री–स्वातन्त्र्य तथा वर–चयन का अधिकार भी संस्कृत साहित्य में द्रष्टत्यं है। ऋग्वेद में कन्याओं द्वारा स्वयं योग्य वर–चयन के प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में स्त्री–स्वातन्त्र्य को प्रधानता दी जाती थी। **'स्व॒यं सा मि॒त्रं वंनुते॒ जनेचित्'**[१७] विवाहित स्त्रियों का मन्दस्मितानन से अन्य गृहों एवं उत्सवों में जाने के उपलब्ध प्रसङ्गों से ज्ञात होता है कि उस काल में पर्दा–प्रथा जैसी कोई प्रथा नही थी।

यदि किसी कन्या से एक से अधिक युवक विवाह की इच्छा रखते थे तो कन्या

---

१२. ऋग्वेद १०.१०.७

१३. शतपथब्राह्मण ५.२.१.१०

१४. वही ५.१.६.१०

१५. ऋग्वेद ३.५३.४

१६. महाभारत (शान्तिपर्व) २६६.३१

१७. ऋग्वेद १०.२७.१२

को स्वैच्छिक वर–चयन का अधिकार प्राप्त था[१८]। एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि जैसे नदियाँ समुद्र को प्राप्त करती हैं वैसे ही युवतियाँ युवकों को **'तमस्मैरा युवतयो॒ युवा॑नं मर्मृ॒ज्यमा॑नाः॒ परि॑ य॒न्त्यापः॑'**[१९]। वेद में स्त्रियों की सेना का अस्तित्व, **'स्त्रियो॒ हि दा॒स आयु॑धानि च॒क्रे किं मा॑ करन्नब॒ला अ॑स्य सेनाः॑'**[२०] उनका रथ पर सवार होकर घूमना,[२१] तथा सैर के लिए जाना आदि प्रसङ्ग स्त्री की स्वतन्त्रता के परिचायक हैं। योग्य वधू की खोज उस उसम की सामाजिक पद्धति रही है। अश्विनी ने अपने पुत्र सोम के लिए सूर्या के माता–पिता से सूर्या को प्रदान करने हेतु प्रार्थना की थी ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।[२२] स्त्रियाँ पति के साथ धार्मिक आयोजन में ही शामिल नहीं होती थी अपितु पति की अनुपस्थिति में स्वयं धार्मिक कृत्यों को सम्पादित भी करती थीं।

'ऋग्वेद में नारी' नामक ग्रन्थ में डॉ० श्रीमती कमला लिखती है कि गृह्य सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कन्याएँ सजधज कर 'समन' नामक उत्सवों में भाग लेती थीं जहाँ उनका मुख्य उद्देश्य उचित जीवन–साथी का चयन होता था। वेदोक्त स्वयंवर तथा प्रेम–विवाह के प्रसङ्ग भी स्त्री–स्वातन्त्र्य की सूचना देते हैं। कन्या द्वारा अभीप्सित वर–चयन (विवाह) में माता–पिता की सहमति हुआ करती थी। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की नायिका शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ गान्धर्व–विवाह स्त्री के स्वातन्त्र्य का ही परिचायक है। कुमारसम्भव की गौरी द्वारा शङ्कर के लिए घोर तपस्या तथा श्री हर्ष की दमयन्ती द्वारा राजा नल का आतिथ्य आदि प्रसङ्ग इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि स्त्री के निर्णय को पर्याप्त सम्मान दिया जाता था। विदुषी विद्योत्तमा द्वारा वर–चयनार्थ भ्रमण तथा सावित्री द्वारा सत्यवान् को प्राप्त करने की दृढता आदि प्रसङ्ग भी नारी की स्वतन्त्रता के अधिकार का ही भान कराते हैं।

अन्ततः निष्कर्षत्वेन कहा जा सकता है कि त्यागप्रधान भारतीय संस्कृति में अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक बल दिया जाता है तथापि इस सत्य से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि संस्कृत–वाङ्मय की विविध विधाओं में मानवाधिकारों के वट–बीज सदा से स्पन्दित होते रहे हैं जो आज तथाकथित विविध सङ्गठनों की छत्रच्छाया तले मानवाधिकार–आयोग के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हैं।

***

---

१८. ऋग्वेद १०.२७.१२

१९. वही २.५४.४

२०. वही ५.३०.६

२१. वही ४.४३.२

२२. वही १०.८५.६

डॉ० (श्रीमती) शालिनी अग्रवाल
कानपुर

सनातन धर्म और मानवाधिकार

सनातन धर्म से तात्पर्य है सार्वकालिक, नित्य, शाश्वत, तथा सार्वभौमिक धर्म। सनातन धर्म को किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। यह सदैव अपने मूल स्वरूप में समस्त मानव जाति को प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का उपदेश देता रहता है। अथर्ववेद सनातन शब्द की परिभाषा निम्नवत् देता है :—

> **स॒ना॒तनमेनमाहुरुताद्य स्या॒त् पुनर्णवः।**
>
> **अ॒हो॒रा॒त्रे प्रजायेते अ॒न्यो अ॒न्यस्य रू॒पयोः।।**[1]

तात्पर्य यह है कि सनातन मूल्य वे होते हैं जो कभी पुराने न हों सदैव नवीन रहें जैसे रात दिन का चक्र सदा नवीन रहता है। महाभारत के वन—पर्व में कहा गया है—

> **अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।**
>
> **अनुग्रहश्च दानञ्च सतां धर्मः सनातनः।।**[2]

तात्पर्य यह है कि सभी प्राणियों के प्रति कर्म से, मन से अथवा वाणी से द्रोहरहित होना, तथा सज्जनों को दान देना ये सनातन धर्म है। यह नीतिपरक उपदेश किसी दैशिक अथवा सामयिक बन्धनों से मुक्त होकर मनुष्यमात्र को नैतिकता की ओर प्रवृत्त करता है।

व्याकरण की दृष्टि से सनातनधर्म शब्द में षष्ठी तत्पुरुष समास है। सनातनस्य धर्म इति सनातनधर्मः अर्थात् सनातन का धर्म। कर्मधारय समास द्वारा विग्रह करने से सनातनश्चासौ धर्मः अर्थात् सनातन रूप से रहने वाला धर्म। दोनों ही विग्रहों से यह स्पष्ट है कि सनातन अर्थात् नित्य रूप से विद्यमान रहने वाला धर्म ही 'सनातन धर्म' की सञ्ज्ञा से अभिहित किया जाता है।

धर्म शब्द धारणाद् धर्मः इस व्युत्पत्ति से यह अर्थ द्योतित करता है कि संसार को धर्म ने ही धारण कर रखा है। महाभारत में वर्णित है कि —

---

१. अथर्ववेद १०.८.२३

२. महाभारत (वनपर्व) २६७.३५

धारणाद धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजा।

यत् स्याद् धारणासंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः।।[3]

अर्थात् धर्म सभी प्राणियों की रक्षा करता है, सभी को सुरक्षित रखता है तथा सृष्टि का अस्तित्व बनाए रखता है। महर्षि कणाद भी कहते हैं :–

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्‌सिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् शक्ति तथा सफलता प्राप्ति का एकमात्र मार्ग धर्म है।

प्राचीन–साहित्य में सदाचार को धर्म का लक्षण बताया गया है। मनुस्मृति में धर्म के चार स्त्रोत्र कहे गए हैं–वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मतुष्टि।[4] प्राचीन शास्त्रकारों ने वेद, स्मृति आदि धर्म ग्रन्थों में जो कर्तव्य विहित है उनके निष्ठापूर्वक पालन करने को ही धर्म बताया है। वस्तुतः धर्म से तात्पर्य आचरण की उस संहिता से है जिसके माध्यम से मनुष्य नियमित होता हुआ विकास करता है।

सनातन धर्म के मूल्यों का उल्लेख वेद, रामायण, महाभारत, स्मृतिसाहित्य आदि ग्रन्थ करते हैं।

मानवाधिकार शब्द का अर्थ है "मानवता का अधिकार" अर्थात् समस्त मनुष्यों को श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिए प्रदत्त अधिकार ही मानवाःधिकार हैं। अधिकार वे मानदण्ड हैं जिनके न होने पर मनुष्य का सामाजिक जीवन अव्यवस्थित रहता है तथा ये अधिकार ही व्यक्ति के जीवन को शुद्ध, परिष्कृत तथा निर्धारित स्वरूप प्रदान करने में क्षम है। अधिकारों की चर्चा नवीन नहीं है। अधिकारों की प्राचीनता संस्कृति की तथा सभ्यता की प्राचीनता से सम्बद्ध है। रामायण आदि ग्रन्थ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अधिकारों का उल्लेख करते हैं। आधुनिक रूप में अधिकारों का पूर्णतया लिखित रूप में प्रारम्भ बारहवीं शताब्दीं में हुआ। सर्वप्रथम ब्रिटेन की प्रजा ने १२१५ में सम्राट् जॉन को स्वतन्त्रताओं को मान्यता प्रदान करने हेतु मैगनाकार्टा पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य कर दिया। अमेरिका के मूल संविधान में मूल–अधिकारों का उल्लेख अधिकार–पत्र के रूपमें १६७१ में हुआ। विस्तृत रूप में मानवाधिकारों को वैश्विक स्तर पर संयुक्त–राष्ट्रसंघ ने १० दिसम्बर १६४८ में घोषित किया।

संयुक्त–राष्ट्रसंघ द्वारा घोषित मानवाधिकार के अन्तर्गत ३० अनुच्छेद हैं जो मनुष्यों में स्वतन्त्रता का अधिकार न्याय का अधिकार आदि अधिकारों के विचारों से

---

३. वही (क.प.) १०६.५८

४. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्थ्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणाम्।। (मनुस्मृति २.१२)

सम्बद्ध है। मानवाधिकारों के घोषणा पत्र की प्रस्तावना में वर्णित है कि सामाजिक विकास के लिए तथा पारिवारिक विकास के लिए स्त्री पुरूष दोनों को सम्मान अधिकार दिए जाने चाहिए। प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि समस्त मानव–समूह जन्म से स्वतन्त्र है तथा अधिकारों में भी उनकी स्थिति समान है।

अनुच्छेद ३ से १८ में सामाजिक अधिकारों का उल्लेख है। अनुच्छेद १६ से २२ में राजनीतिक अधिकारों की चर्चा है। अनुच्छेद २३, २४ तथा २५ में आर्थिक अधिकार वर्णित हैं। अनुच्छेद २६, २७ तथा २८ शैक्षिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों का उल्लेख करते हैं।

सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों के अन्तर्गत वर्णित अधिकारों को सनातन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित दृष्टिकोण से सम्बद्ध कर सकते है :—

जीवन स्वतन्त्रता तथा रक्षा का अधिकार : जीवन की स्वतन्त्रता तथा रक्षा का अधिकार प्राचीनतम परम्परा से अविच्छिन रूप से विद्यमान है। बाल्मीकि रामायण में वर्णित है कि प्रजा के दुःख के निवारणार्थ तथा अपनी रक्षा करने के लिए वध करने में कोई पाप नहीं है। क्षत्रिय का यही कर्तव्य है।[५] इस कथन के माध्यम से रक्षा का अधिकार स्पष्ट ही है तथा स्वजीवन के रक्षार्थ वध को भी रामायण स्वीकार करती है। यह व्यक्ति के रक्षा रूपी अधिकार को वर्णित करता है। मनुस्मृति में वर्णित है कि राजा की रचना ही प्रजा की रक्षा के लिए की गयी है।[६]

आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार का उल्लेख ऋग्वेद में है। एक ऋषि का कथन है कि मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है तथा मेरी माता अन्न पीसने का कार्य करती है। साधन भिन्न हैं। किन्तु सभी धन की कामना करते हैं।[७] यह उल्लेख आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार को द्योतित करता है।

दासत्व से मुक्ति का अधिकार स्मृति प्रदान करती है। स्मृति–ग्रन्थों के अनुसार एक निश्चित अवधि तक सेवा करने तथा ऋण चुका देने पर दास स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। नारदस्मृति में सर्वप्रथम दासत्व से मुक्ति प्राप्ति का विधान प्रस्तुत किया गया है।

---

५. पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा।
राज्यभारनियुक्तानमेष धर्मः सनातनः।। (रामायण बालकाण्ड १.२६)

६. अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।। (मनुस्मृति ७.३)

७. का॒रुर॒हं त॒तो भि॒षगुं॑पलप्र॒क्षिणीं॑ न॒ना।
नानां॑धियो वसू॒यवोऽनु गा इं॑व तस्थि॒मेन्द्रा॑येन्द्रो॒ परिं॑ स्रव (ऋग्वेद ६.१२.३)

शोषण के विरुद्ध अधिकार भी सनातन है, क्योंकि रामायण में रावण द्वारा शोषित सीता की रक्षा के लिए राम द्वारा रावण का वध किया जाना शोषण के विरुद्ध अधिकार को स्पष्ट करता है।

समान न्याय–प्राप्ति का अधिकार – न्याय के प्रारम्भ के विषय में स्मृतिकार मनु का मन्तव्य है कि ईश्वर ने सब कार्यों को सत्य तथा न्याय युक्त रखने के लिए तथा जीवों की रक्षार्थ पहले ही दण्ड का प्रबन्ध किया।[८] न्याय–व्यवस्था का विस्तृत तथा व्यवस्थित रूप मौर्य–काल से दृष्टिगत होता है, किन्तु इसकी प्राचीनता वैदिक काल से प्राप्त होती है। उत्तर वैदिक काल में सभा तथा समिति के अधिकारों का उल्लेख है। अथर्ववेद में सभा तथा समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है।[९] विद्वज्ज्नों का विचार है कि सभा में पुरोहित तथा कुलीन वर्ग के लोग तथा समिति में जनसामान्य के प्रतिनिधि बैठते थे। ऋग्वेद राजा तथा समिति के बीच पूर्ण सहमति पर बल देता है।[१०] न्याय–व्यवस्था सबके लिए समान हो इस ध्येय से मौर्य काल में न्यायालय को दो भागों में विभक्त किया गया– धर्मस्थलीय तथा कष्टकशोधन।

उपर्युक्त उल्लेखों से समान न्याय प्राप्ति का अधिकार तथा राजनीति में समान रूप से भाग लेने के अधिकारों की पुष्टि होती है।

पारिवारिक स्वतन्त्रता का अधिकार भी अत्यन्त प्राचीन है। परिवार का मुखिया सदैव ही पिता को स्वीकृत किया गया। भारतीय–संस्कृति व सामाजिक–व्यवस्था प्रारम्भ से ही पितृसत्तात्मक है। पति के अधिकार व शक्ति प्राचीन–काल में भी असीमित थे। परिवार की स्वतन्त्रता अथवा महत्ता को प्रत्येक युग में स्वीकार किया गया है कि सामाजिक महत्त्व की दृष्टि से कोई भी संगठन परिवार का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

विवाह तथा सम्पत्ति को एकत्रित करने का अधिकार – ऋग्वैदिक समाज में विवाह एक पवित्र बन्धन माना जाता था। शतपथब्राह्मण में पत्नी को पति की अर्धाङ्गिनी कहा गया है। पत्नी से रहित व्यक्ति यज्ञ करने का अधिकारी नहीं था। ऋग्वेद में 'जायेदस्तम' अर्थात् पत्नी ही गृह है, कहकर उसके महत्त्व को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है, मनुस्मृति के अनुसार सभी आश्रमों में गृहास्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ

---

८. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः।। (मनुस्मृति ७.१४)

९. स॒भा च॑ मा॒ समितिश्चावतां प्र॒जाप॑तेर्दुहि॒तरौ॑ संविदा॒ने। (अथर्ववेद ७.१२.१)

१०. संग॑च्छध्वं सं व॑दध्व॒ं सं वो॒ मनां॑सि जानताम्। (ऋग्वेद १०.१९१.२)

है।[११] गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् विवाह करने से ही होता है।[१२] अतः प्रकारान्तर से विवाह के अधिकार का ही स्पष्टीकरण किया गया है। तैत्तिरीय–ब्राह्मण के अनुसार अकेले व्यक्ति का जीवन पत्नी से ही पूर्ण होता है।[१३] याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि अविवाहित हैं तो कर्म के योग्य नहीं हैं[१४]। सम्पत्ति के अधिकार का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। इस काल में परिवार की सम्पत्ति पर पिता का अधिकार स्वीकार किया गया है। मनुस्मृति के अनुसार पिता की सम्पत्ति पर सर्वप्रथम ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार है।[१५] इसी प्रकार स्त्रीधन की चर्चा भी प्रासङ्गिक प्रतीत होती है। कन्या की विदाई के समय उपहार एवं द्रव्य दिये जाने को वैदिक काल में 'वहतु' कहा जाता था। मनु ने स्त्रीधन की अधिकारिणी पुत्री को माना है।[१६] मनु के अनुसार पिता, माता अथवा भाई द्वारा पाणिग्रहण के समय दिया गया धन स्त्रीधन है।[१७] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा द्वारा कोष के रूप में सम्पत्ति सङ्ग्रहण का विधान किया है।[१८]

उपर्युक्त वर्णन सम्पत्ति के अधिकार को व्यक्ति के जीवन का महत्त्वपूर्ण अधिकार प्रामाणित करते हैं।

शिक्षा का अधिकार – शिक्षा की महत्त्ता के कारण ही आश्रम–व्यवस्था तथा संस्कार व्यवस्था में क्रमशः ब्रह्मचर्य–आश्रम तथा वेदारम्भ–संस्कार का प्रतिपादन किया गया। ब्रह्मचारी का जीवन सभी धर्मों में श्रेष्ठ तथा आदर–युक्त है जिसका अनुसरण करने वाले परमपद को प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य शब्द का उल्लेख धार्मिक विद्यार्थी के जीवन के रूप में हुआ है। प्राचीन ग्रन्थों में शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु भी निर्धारित की गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए क्रमशः

---

११. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वाश्रमाः।। (मनुस्मृति ३.७७)

१२. गुरूणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।। (वही ३.४)

१३. अथो अर्द्धो वा एव आत्मनः यत्पत्नी। (तैतिरीय ब्राह्मण)

१४. अपत्नीको नरो भूयः कर्मयोग्यो न जायते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यः शूद्रोऽपि वा नृपः।। (याज्ञवल्क्यस्मृति १.५१)

१५. ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैवं पितरं तथा।। (मनुस्मृति ६.१०५)

१६. मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एवं सः। (वही ६.१३१)

१७. अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्।। (वही ६.१६४)

१८. कोशमकोशः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्ः सङ्गृह्णीयात्।। (अर्थशास्त्र २.१०.१)

८, ११ व १२ वर्ष की आयु निर्धारित की गयी। ज्ञान को मनुष्य का तृतीय नेत्र माना गया है। 'ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रम्'। ईशावास्योपनिषद् में विद्या के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति की चर्चा है–

विद्ययामृतमश्नुते

भर्तृहरि मानते हैं कि–

विद्या ददाति विनयं विनायद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमप्नोति धनाद् धर्मः ततः सुखम्।।

आचार्य मनु कहते हैं कि जो द्विज वेद का अध्ययन किये बिना ही अर्थशास्त्र आदि में परिश्रम करता है वह जीता हुआ ही वंश सहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है। प्रकारान्तर से स्पष्ट ही है कि शिक्षा का अधिकार सनातन है।

इन अधिकारों की समसामयिकता क्या है अथवा ये वर्तमान परिवेश में मानव जाति के जीवन को प्रभावित करते हैं या नहीं इस विषय पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अधिकार सदैव मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास में सहायक हैं। सनातनकालिक अधिकारों को भारतीय संविधान में भी उल्लिखित किया गया है। मूलतः भारतीय संविधान में ७ अधिकार थे। इनमें से सम्पत्ति का अधिकार ४४वें संशोधन से विधिक अधिकार में आ जाने से मूल अधिकारों की सङ्ख्या ६ हो गयी। मूल अधिकारों की चर्चा संविधान के तृतीय भाग में २३ अनुच्छेदों में की गयी है।

वर्तमान परिवेश में अधिकारों का सम्यग्रूपेण औचित्य तभी सम्भव है जब प्रत्येक मनुष्य अधिकारों के साथ–साथ अपने कर्तव्यपथ का भी अनुसरण करें। जहाँ अधिकार हमें समाज से कुछ ग्रहण करने की ओर उन्मुख करते हैं वहीं कर्तव्य हमें सुष्ठुरूपेण अपने कर्मों के निर्वाह के प्रति सचेत करते हैं, वस्तुतः अधिकार तथा कर्तव्य सर्वथा अन्योऽन्याश्रित हैं। यद्यपि वर्तमान परिवेश में स्वार्थवश अधिकारों के प्रयोग में दुष्टता का अंश परिलक्षित होता है, तथपि सर्वोपरि हितकारी स्वरूप से युक्त होने के कारण अधिकारों की महत्ता निर्वचनीय है। मानव–समाज के सर्वाङ्गीण विकास में चिरकाल से सहायता करने वाले अधिकार सनातन काल से मार्गदर्शक के रूप में अवस्थित हैं।

***

प्रो० रहसबिहारी द्विवेदी
जबलपुर

मानवाधिकारा वैदिकं वाङ्मयं सत्कवयश्च

वैदिके वाङ्मये संहिता ब्राह्मणग्रन्थाश्च कर्मकाण्डकोटौ गण्यन्ते किन्तूपनिषदो ज्ञानकाण्डरूपाः सन्ति। भारतीयजीवनपद्धति–धर्म–दर्शनप्रभृतीनि औपनषदि–कैस्तत्त्वसिद्धान्तैः प्रभावितानि सन्ति। उपनिषदां विचारशक्तिराध्यात्मिकतत्त्वजि–ज्ञासून् प्रेरयति। भारतस्य प्राकृतिके परिवेशे यादृशं जीवनयापनमौचित्यमावहति तथा विधमृषिभिः स्वानुभवैः प्रकाशितम्। लौकिकसाहित्येऽपि यद् ऋषीणामाश्रमाणां वर्णनं प्राप्यते तत्र न केवलं मानवा अपितु पशुपक्षिणोऽपि पारस्परिकं वैरमपहाय सहिष्णुतया निवसन्त आसन्। साम्प्रतिका मानवाधिकारविधयः समता–सहयोग–सम्मान–विकासादि–दिशा मानवाय सुखशान्तिसन्तोषमयजीवनस्यावसरं प्रदातुं समुद्घोषितास्सन्ति। यद्यपि संस्कृतवाङ्मयं विशेषरूपेण मानवकर्त्तव्यमुपदिशति रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदित्याद्युक्तयस्तथ्यमिदं पुष्णन्ति। कर्त्तव्यबोधक –कथनेषु क्वचिदधिकाराभियाचनावाक्यान्यपि प्राप्यन्ते। यथा कालिदासकृतस्य रघुवंशस्य चतुर्दशे सर्गे तपोवनं प्रेषितायाः सीतायाः सन्देशवाक्यम्–

'नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।

निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया।।'[1]

यद्यपि – उपनिषदां मुख्यतया प्रतिपाद्या विषयाः –

(१) ब्रह्मस्वरूपम् (२) ब्रह्मात्मनोरैक्यम् (३) ब्रह्मप्राप्तिसाधनं (ज्ञानम्) (४) ब्रह्मप्राप्तिः–प्रभृतयः सन्ति। विवेचनेऽस्मिन् क्वचिन्मानवाधिकारोऽपि विचारपथमायाति। मानवाधिकाराणां विश्वव्यापिनी घोषणा विनाशकारिणां महायुद्धानां सन्तापात् सन्त्रस्तानां मानवानामधिकारस्य रक्षणाय १६४८ ई० वर्षे संयुक्त–राष्ट्रसङ्घतो व्यधायि। मानवाधिकारेषु केन्द्रितः समस्तोऽपि विमर्शस्तां घोषणामाश्रित्य प्रवर्तितः। एवं मानवाधिकारविधानं विंशशताब्द्या मध्यभागे परिकल्पितम्। कालिदासादिषु–'अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः' 'यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियोपलभ्याय' प्रभृतिवाक्यानि प्राप्यन्ते। अत्र–'अधिकार'–शब्दः प्राप्यते, धर्मशब्दतः कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधो भवति किन्तु स्पष्टतो मानवाधिकारविषये नात्र प्रतिपादनम्। भवतु नाम, तथापि संस्कृतवाङ्मये

---

१. रघुवंशे – १४.६७

निरूपितैर्मानवधर्मप्रसङ्गैराधुनिको मानवाधिकारो विचारणीयो नाऽत्र विप्रतिपत्तिः। मानवाधिकारविषय उपनिषदां सन्दर्भाणां विवेचनात्प्राङ् मानवाधिकारस्याधारीभूता १६४८ खिस्ताब्दे संयुक्तराष्ट्रसङ्घतः कृता धोषणाऽवलोकनीया। अत्र त्रिशंदनुच्छेदाः सन्ति तेषां साराश एवं सङ्कलितः–

१. स्वतन्त्रा जन्मतः सर्वे चाधिकारेऽपि ते समाः।

२. जातिं धर्मञ्च लिङ्गं च भाषां चाश्रित्य जन्मिनाम्।
विभेदो नैव मान्यः स्यादधिकारे समुन्नतौ।।

३. जीवने प्रतिरक्षायां स्वातन्त्र्येऽधिकृताः समे।

४. न कश्चित्पराधीनो न च दासो भवेदिति।

५. यातना वा तिरस्कारः दण्डाधीनता च न।
निर्ममो व्यवहारश्च कस्मैचिदपि नो मतः।।

६. विधेः समक्षं सर्वत्र चैका व्यक्तिर्हि मानवः।

७. विधेः समक्षं प्रत्येकं समो भेदो न सङ्गतः।

८. स्वाधिकारे ह्यतिक्रान्ते न्यायाधिकरणं प्रति।
गत्वा मानवो न्यायं प्राप्तुर्हति सर्वतः।।

६. न कश्चिद्बन्धितो रुद्धो निर्वास्यो हि निरङ्कुशैः।

१०. स्वमारोपं निराकर्तुं न्यायं प्राप्तुं नरोऽर्हति।।

११. दण्डस्यारोपमात्रेण न दोषी कोऽपि मन्यताम्।
यावन्न्यायालयेनास्य दोषः सिद्धो भवेदिति।।

१२. कस्याप्येकान्तिके वासे वंशे गार्हस्थ्यनिर्णये।
पत्रादिलेखने क्वापि हस्तक्षेपो न सम्मतः।।
विख्यातौ चास्य सम्माने नाघातो विधीयते।
एवं चेन न्यायसम्प्राप्तेरधिकारः सुरक्षितः।।

१३. स्वराज्ये कुत्रचिद् गन्तुं निवासश्चापि सम्मतः।
देशं त्यक्त्वा बहिर्गन्तुमागन्तुं चार्हति स्वतः।।

१४. उत्पीडनात्स्वरक्षार्थं शरण्यं गन्तुर्हति।
देशमन्यं यदा न स्यादपराधी स मानवः।।

१५. तस्य राष्ट्रियता चैका ह्यधिमान्या सुसङ्गता।

तस्याः स वञ्चितो न स्यादन्या स्वीकृत्य वार्यते।

१६. राष्ट्रजात्यादिभेदेऽपि वयस्कौ महिलानरौ।
सहमत्या विवाहाय स्वतन्त्रो न नियन्त्रणम्।।

१७. सहभागे स्वसम्पत्तिरक्षणमत्र सम्मतम्।
बलात्कस्यापि सम्पत्तिहरणं नैव युज्यते।।

१८. विचारे च विवेके च धर्मे न नियन्त्रणम्।
स्वधर्मस्योपयोगे च तत्त्यागे नास्ति बन्धनम्।।

१९. अभिव्यक्तिर्विचाराणां सूच्यादानं च प्रेषणम्।
केनचिन्माध्यमेनापि कर्तुमर्हति मानवः।।

२०. जनानां शान्तिपूर्णस्य सङ्गमस्यात्र सम्मतिः।
कस्याँचिदपि संस्थायां प्रवेशार्थं न बाध्यता।।

२१. प्रत्यक्षे वा परोक्षे वा मतदानेऽस्य पात्रता।
निर्वाचनेन नेतृत्वमपि कर्तुं समर्थितम्।
लोकसेवासु सर्वस्याधिकारोप्यत्र रक्षितः।।

२२. सामाजिक्याः सुरक्षायाश्चाधिकारोऽस्य विद्यते।
सांस्कृतिकोऽधिकारोऽपि विकासार्थं सुनिश्चितः।

२३. कार्यं स्वाभिमतं कर्तुं चेतुञ्चाऽपि नियोजनम्।
समकार्ये च वृत्तौ च समानं वेतनं मतम्।
कृतश्रमकृते प्रोक्ता पारिश्रमिकपात्रता।।

२४. विश्रामे ह्यवकाशे चाधिकारोऽप्यत्र रक्षितः।

२५. परिवारस्य रक्षाया अधिकारोऽपि सम्मतः।
मातृत्वं शैशवं चापि रक्षणीयमितीरितम्।।

२६. शिक्षाया अधिकारस्तु सर्वेषां कृते मतः।
तत्र प्राथमिकी शिक्षा ह्यनिवार्याऽभिवर्णिता।।
या शिक्षा मानवनां स्याद् व्यक्तित्वे प्रभामयी।
स्वकं परं च कल्याणं तन्वती च हितावहा।।

२७. स्वतन्त्रो मानवो नूनं संस्कृतौ च कलासु च।
स्वामित्वं च तस्यैव तत्कृतग्रन्थवस्तुषु।

२८. सर्वस्मै च समाजस्य ह्यन्ताराष्ट्रियघोषणा।
व्यवस्थाः सन्ति सोद्देश्याः स्वातन्त्र्यं चापि स्वीकृतम्।

२६. समुदायहितं कर्त्तुं कर्त्तव्यं तस्य विद्यते।
येन तस्य विकासोऽपि सम्भवो नात्र संशयः।।
संयुक्तराष्ट्रसङ्घस्य सदुद्देशस्य पूर्तये।
तद्विरोधेऽधिकाराणां विधानं नैव सम्मतम्।।

३०. घोषणापत्रनिर्देशा व्याख्यातव्या न हीदृशाः।
येन तस्य सदुद्देशो बाधितो वा भवेन्मुधा।।

डॉ. रामदेवभारद्वाजस्य 'भारत और आधुनिक विश्व' इति–नाम्नः (मध्यप्रदेशहिन्दी–ग्रन्थाकादमीतः प्रकाशितस्य) ग्रन्थस्य ३८० तः ३६१ पृष्ठं यावदुद्धृतस्य मानवाधिकारघोषणापत्रस्य संस्कृतपद्यात्मको भावानुवादोऽत्र सङ्कलितः। अग्रिमासु पङ्क्तिषु प्रमुखोपनिषत्सु कर्त्तव्यमुखेन प्रतिपादिताः मानवाधिकारसन्दर्भा अत्र विमृश्यन्ते। भारतीयाध्यात्मस्य वैशिष्ट्यमेतद् यदीशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगदिति मन्यतेऽतो ह्यौपनिषदिक आध्यात्मे न केवलं ज्ञानदिशाऽपितु जीवनयापनविचारदिशा यः सम्पृक्तः स कदापि कस्मिन्नपि मानवे वस्तुनि वा घृणाभावं न धत्ते तथ्यमिदं मया स्वकाव्येष्वपि बहुधा प्रत्यपादि यथा–

'भारताध्यात्मवैशिष्ट्यमेवं श्रुतं, मन्यते हीशवासः सदा सर्वतः।
तेन चाध्यात्मनिष्ठो जगत्यां जनो, रागमुक्तो जुगुप्सां न धत्ते क्वचित्।।'[2]

यद्यपि उपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया निरूपणमस्ति क्वचिच्च मानवकर्तव्यान्यपि –अभिव्यञ्जितानि तथापि मानवाधिकारघोषणाया यत्प्रयोजनं तदर्थमुपनिषत्सु प्रतिपादितानि तथ्यान्यद्य प्रासङ्गिकानि सन्ति। यथाक्रमं त्रिंशदनुच्छेदानानां यत्कथ्यं वरीवर्ति तत्सदृशसन्दर्भा अत्र प्रस्तूयन्ते –

(१) सर्वे समानाः –

'समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ।।'[3]

---

२. सारस्वतसङ्गमे पृष्ठसङ्ख्या – ३४०

३. ऋग्वेदे – १०.८५.४७

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।'[४]
'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।'[५]
'समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनासदतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा।।'[६]

(२) भेदाभावः –

'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्चतः।।'[७]

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।[८]

(३) जीवनं तद्रक्षणञ्च –

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।'[९]
'ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।।'[१०]
'अप्यग्रणीमन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धेः कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यामिवोष्णरश्मेः।।'[११]
'प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।।'[१२]

---

४. ईशावास्योपनिषदि–६
५. श्रीमद्भगवद्गीतायाम्– ६.८
६. रघुवंशे ८.६
७. ईशावास्योपनिषदि–७
८. श्रीमद्भगवद्गीतायाम् – ३.११
९. ईशावास्योपनिषदि, ७
१०. केनोपनिषदि शान्तिपाठः
११. रघुवंशे–५.७
१२. रघुवंशे–१.२४

(४) पराधीनता दासता वा नेष्टा –

'असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वत प्रषतं समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या विभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राधतां नः।।'[१३]

'न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।।'[१४]

(५) यातना तिरस्कारो वेति नोचितम् –

तद्ब्रह्मेत्युपससीत। ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येण म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परियेऽप्रिया भ्रातृव्याः।[१५]

'अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एव'[१६]

'यद्येमां वाचं कल्याणीं मा वदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च'[१७]

तुलनीयम्–

१. (क) 'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।'[१८]

रामायणे वस्तुस्थितिरपि तथाविधा –

'सर्वे वर्णो यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृता।
न चावज्ञा प्रयोक्तत्या कामक्रोधवशादपि।।'[१९]

'न कृपणा प्रभवव्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता।।'[२०]

---

१३. अथर्ववेदे–१२.१.२
१४. श्वेताश्वतरोपनिषदि–६.८
१५. तैत्तिरीयोपनिषदि–१०
१६. अथर्ववेदे–३.३०५
१७. शुक्लयजुर्वेदे–२६.२
१८. महाभारते
१९. बाल्मीकिरामायणे, बालकाण्डम्
२०. रघुवंशे–६.८

(६) प्रत्येकमस्तित्वयुतो मानवः–

'अहं राष्ट्रस्यामि वर्गे निजीभूयासमुत्तमम्'[२१]

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।[२२]

'अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।

उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्।।'[२३]

(७) विधिसमक्षं सर्वे समानाः –

'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासे महसा विवावृधुः।

सुजातसो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्त्या आनो अच्छा जिगातन।।'[२४]

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु पश्यतः।।[२५]

'सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः।'[२६]

(८) अधिकारातिक्रमणे न्यायप्राप्ति :–

कठोपनिषिद् न्यायं प्राप्तुं नचिकेता यमं प्रति गच्छति। तत्र तस्य भावनानुरूपेण निर्णयो भवति। यद्यपि प्रसङ्गोऽयं ब्रह्मविद्यायास्तथापि न्यायाधिपतिरूपेण यमस्य कथनं महत्त्वमर्हति–

'यथा पुरस्तात् भविता प्रतीत औदालिकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।

सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रयुक्तम्।।'[२७]

'नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः।

प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।।'[२८]

---

२१. अथर्ववेदे–३.५.२
२२. कठोपनिषदि–३.१२
२३. रघुवंशे–८.८
२४. अथर्ववेदे–५.५८.६
२५. ईशावास्योपनिषदि, ७
२६. अभिज्ञानशाकुन्तले–५.६
२७. कठोपनिषदि–१.११
२८. अभिज्ञानशाकुन्तले–५.८

(९) न बन्धनं नैव निर्वासनम्–

'असम्बाधो मध्यतो मानवानाम्।'[२९]

'भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।'[३०]

(१०) आरोपमात्रेण नापराधी सिद्धदोष एवापराधी –

'अद्य यदि ते कर्मचिविकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकायाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकायाः स्युः यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः।'[३१]

(११) एकान्ततायां गार्हस्थिकव्यवहारे सम्मानप्राप्तौ न हस्तक्षेपा नैवाघाताः

'महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या।'[३२]

(१२) स्वराष्ट्रे गमनागमनस्वातन्त्र्यम्, देशपरित्यागः पुनरागमनं चानुमतम्–

'यस्या पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्याविकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रथ्यां नः कृणोतु।'[३३]
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी जायताम्।'[३४]

रघुवंशे परशुरामो रामं वक्ति–

'तद्गतिं मतिमयां वरेप्सिता पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे।
.....राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन् समस्पृशत्।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये।।'[३५]

(१३) उत्पीडनात् त्राणाय शरण्यदेशगमनम्–

'अग्निरगामि भरतः वृत्रहा पुरुचेतनः।

---

२९. अथर्ववेदे–१२.१.२
३०. तदेव–१२.१.७३
३१. तैत्तिरीयोपनिषदि अनुवाक्–११
३२. तैत्तिरीययोपनिषदि अनुवाक्–७
३३. अथर्ववेदे–१२.१.४४
३४. यजुर्वेदे–२२.२२
३५. रघुवंशे–११.८७,८८

दिवोदासस्य सत्पतिः।[36]

'वुः विश्वमित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्'।[37]

आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।

अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना।।'[38]

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।'[39]

(१४) एका राष्ट्रियता –

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वविदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं नदाल्मै देवा उपसन्गन्तु।।[40]

'प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिं वृद्धिं ददातु मे।'[41]

ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिमत्यमेहि।'[42]

(१५) वयस्कमहिलापुरुषयोर्विवाहे जातिधर्मराष्ट्रभेदत्वं न बाधकम् –

जनं विभ्रती वहुधा विवाचसं नाधर्माणं पृथिवी यथौकसाम्।

सहस्रधारा द्रविणस्य मे द्रुहां ध्रुवेण धेनुरनुपस्फुरन्ती।।[43]

'कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः।

त्वमात्मनस्तुल्यगुणं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन।।'[44]

(१६) विचार–विवेक–धर्माधिकारः –

'प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।

---

३६. ऋग्वेदे–६.१६.१८
३७. तदेव–३.५३.१२
३८. रामायणे, युद्धकाण्डे–१८.२८
३८. तदेव–८.२०
४०. अथर्ववेदे–१८.४१.६
४१. ऋग्वेदे, खिलसूक्तम्–२.४.७
४२. अथर्ववेदे–१०.१२४.५
४३. तदेव–१२.१.४५
४४. रघुवंशे–६.७१

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।।'[४५]

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।'[४६]

'कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति।।'[४७]

(१७) अभिव्यक्तिस्वातन्त्र्यम् –

'ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु,
तद्वक्तारमवतु, अवतु माम् अवतु वक्तारम्।'[४८]

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यवधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।[४९]

(१८) सङ्गमस्वातन्त्र्यम् –

'सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।'[५०]

'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।।'[५१]

(१९) निर्वाचन–नेतृत्व–सेवासु समेषां पात्रत्वम् –

'अभिगोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाढयुक्तोऽस्माकं सेना अवतु प्रयुत्सु।'[५२]

'प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिं बृद्धिं ददातु मे।'[५३]

---

४५. केनोपनिषदि–२.४
४६. ईशावास्योपनिषदि, ११
४७. अभिज्ञानशाकुन्तले–५.१४
४८. तैत्तिरीयारण्यके–१
४९. यजुर्वेदे– ४०.८
५०. ऋग्वेदे– १०.१९.२
५१. शुक्लयजुर्वेदे– २०.२५
५२. तत्रैव– १७.३९
५३. ऋग्वेदे, खिलसूक्तम्– २.७.४

'ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि ।'[५४]

(२०) समाजसुरक्षायां सांस्कृतिके च विकासेऽधिकार :–

'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः
शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।'[५५]

'यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपस्त सह ।।'[५६]

ध्रुवायते समिति कल्पतामिह ।।[५७]

(२१) स्वाभिमतं कार्यनियोजनं समकार्ये समवेतनम्–

'आवाहन्ती वितन्वाना कुर्वाणा चीरमात्मनः। वासांसि मम गावश्च। अन्नवपने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा ।।'[५८]

(२२) विश्रामावसरः –

'सदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
वृद्धिश्च न विचेष्टयति तामाहुः परमां गतिम् ।।'[५९]

(२३) परिवाररक्षा विहिता –

'मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्या नो रुद्र मामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ।'[६०]

(२४) हितकारिणी शिक्षा, साक्षरताऽनिवार्या –

'अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्त्येवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्। इत्यधिविद्यम्। आ मायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विभायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा,

---

५४. अथर्ववेदे– १०.२४.५
५५. यजुर्वेदे– २२.२२
५६. यजुर्वेदे– १२.१.३६
५७. अथर्ववेदे– ६.८८.३
५८. तैत्तिरीयोपनिषदि– १.१४
५९. कठोपनिषदि– २.३.१०
६०. श्वेतश्वतरोपनिषदि ४.५.१

दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रहाचारिणः स्वाहा।।[६१]

'तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनोनियोगक्रिययोत्सुकं मे।

अप्याज्ञया शाशितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभाववितुं वनान्माम्।।'[६२]

'गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्तकामम्।

गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत् परीवादनवावतारः।।'[६३]

हितकारिणी शिक्षां प्रति चक्रवर्तिनश्चिन्ता तथा च– तत्कृतः प्रयासोऽत्राभिव्यञ्जितः।

(२५) संस्कृतिकलासु स्वातन्त्र्यम्, कृतिष्वधिकार :–

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।[६४]

ईशावास्यादिमाध्यमेन 'त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनमिति सिद्धान्तः प्रतिपादितः तस्या उपनिषदो व्याख्यारूपा श्रीमद्भगवद्गीताऽपि वक्ति –कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' अतः कृतिष्वधिकार इति मानवाधिकार–सिद्धान्तोऽध्यात्मदिशा न सङ्गच्छते। तथापि भारतीया संस्कृतिकलासु प्रयतमाना आसन्। अतएव भारतीयाः कलाः सुरक्षिता दृश्यन्ते।

(२६) एतेऽन्ताराष्ट्रियनियमाः –

'सं जानीध्वं संपृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्'।[६५]

'भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।[६६]

'विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशिनी'।[६७]

(२७) समुदायहितं स्वस्य च कल्याणम् –

'सत्यं वृहद् ऋतमुग्रदीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।[६८]

---

६१. तैत्तिरीयोपनिषदि– १.३, ५
६२. रघुवंशे– ५.११
६३. तदेव– ५.२४
६४. कठोपनिषदि– १.२.२
६५. अथर्ववेदे– ३.८.५
६६. तत्रैव– १२.१.६६
६७. अथर्ववेदे– १२.१.६
६८. तदेव – १२.१.१

'स्वस्ति न इन्द्रो बृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्ताक्ष्र्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु।'[६९]

(२८) नियमावहेलनं न विधेयम् –

'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो–इतराणि।

'एष आदेशः एष उपदेशः।'[७०]

मानवाधिकारेषु परिगणितानि विधानानि नूनमेव निखिलस्य जगतो महान्ति उपकारीणि। वस्तुतो न केवलमुपनिषत्सु, अपितु समग्रेऽपि संस्कृतवाङ्मये मानवकर्तव्यानां समुपदेशाः प्राप्यन्ते।

मानवाधिकाराणां तुलनात्मकाध्ययनार्थं स्वतन्त्रः शोधप्रबन्धोऽपेक्षितः। संस्कृतवाङ्मयस्य कासुचित् पङ्क्तिष्वेव पूर्वनिरूपिता सर्वे मानवाधिकारा गर्भीकृता भविष्यन्ति लघुकायेऽस्मिन् शोधपत्रे मानवाधिकारसम्बद्धाः केचनांशा अत्र स्थालीपुलाकन्यायेन समुद्धृताः। संस्कृतभाषयाऽयं निबन्धो लिखितोऽतः भाष्यं न कृतम्। प्राय उदधृताः पङ्क्तयः सुस्पष्टाः। अतो व्याख्याया आवश्यकताऽपि नानुभूता। मानवाधिकारा भौतिके जीवने मांनवसौविध्यमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते किन्तु भारतीयमध्यात्ममनासक्तिपूर्वकं लोकयात्रायै प्रेरयति। मानवाधिकारा दृष्टफल–सम्बद्धाः किन्तूपनिषदोऽदृष्टफलं प्रतिपादयन्त्यो दृश्यन्ते। भारतीयं दर्शनं जिजीविषायै कर्म कर्तुं प्रेरयति किन्तु मुमुक्षत्वं तस्य प्रमुखं लक्ष्यम्। **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'** –इति वेदान्तोद्घोषणा।

एभिरुदाहरणैः सुस्पष्टमेतद् यद् वेदान्तदर्शनतो मानवाधिकाराणां को भेदो वरीवर्ति। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' इति न्यायात् ज्ञानमात्रेण न कोऽपि लाभः। तादृशे जीवनयापने मानवाधिकाराः स्वयमेव सुरक्षिता भविष्यन्तीति।

भारतीयायां परम्परायां कर्तव्यभावनया मानवाधिकारसंरक्षणं स्वयमेव सम्पद्यमानं वरीवर्ति। भारतीया कर्तव्यावबोधिका धर्मस्यावधारणा या सिद्धान्तरूपेण धर्मग्रन्थेषु प्रतिपादिता तस्याः प्रायोगिकं रूपं रामायणादिषु प्रदर्शितमस्ति। अतो रामायणादिपारायणस्य विधानमध्यात्मभावनाप्यायितैर्भारतीयैर्व्यधायि। धर्मस्य (कर्तव्यस्य) आधारविषये मनुर्वक्ति –

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

---

६९. यजुर्वेदे– २७.२३

७०. तैत्तिरीयोपनिषदि–शिक्षावल्ली

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।।'[७१]

तथा च तत्रैव मानवकर्तव्यघटका एवं वर्णिता :–

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।'[७२]

काव्यशास्त्रिणो धर्मविरुद्धवर्णनमसमीचीनं मन्वते। यथाह राजशेखरः–

'वेदार्थस्य निबन्धेन श्लाध्यन्ते कवयो यथा।

स्मृतीनामितिहासस्य पुराणस्य तथा तथा।।'[७३]

भामहो वेदविरोधिवर्णनं काव्यदोषं मनुते –

'आगमो धर्मशास्त्राणि लोकसीमा च तत्कृता।

तद्विरोधि तदाचारव्यतिक्रमणतो यथा।।'[७४]

मनोर्वाल्मीकेश्चावधारणायां समानत्वं दृश्यते, महर्षिर्वाल्मीकिः लोके साम्प्रतं नायकं तपःस्वाध्यायनिरतं वाग्विदां वरं नारदं पृच्छति तत्र 'सत्यं वद धर्मं चरे'–त्यादिरूपेणोपनिषत्सु 'धृतिः क्षमे' त्यादिरूपेण मनुस्मृतौ योदात्तमानवमूल्यावधारणा तस्या एव पुनराख्यानं च करोति– 'कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्, धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रत' इत्यादिरूपेण। कालिदासोऽपि 'त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणामि'[७५] त्यादिना श्रीहर्षादयोऽपि 'अधीतिबोधाचरणप्रचारणै'[७६] इत्यादिरूपेण मानवकर्तव्यमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते। एतेन सिद्धयति यत् सिद्धान्तरूपेण धर्मग्रन्थेषु प्रतिपादितानि मानवमूल्यानि प्रायोगिकरूपेण जनसामान्यानां कृते सहृदयहृदयाह्लादकानि कृत्वा कवयो वर्णयन्ति। एवं भारतीयाः कवयः मानवमूल्यरक्षणार्थं स्वराष्ट्रभावनानुरूपं वर्णनं कृत्वा राष्ट्रे मानवकर्त्तव्यरक्षणे यतमाना दरीदृश्यन्ते।

***

---

७१. मनुस्मृतौ २.१२

७२. तदेव– ६.१२

७३. काव्यमीमांसायाम्, सप्रभोऽध्यायः

७४. काव्यालङ्कारे–४.४८

७५. रघुवंशे–१.७

७६. नैषधीयचरिते– १.४

डॉ० विभा शुक्ला
कानपुर

संस्कृत–वाङ्मय में मानवाधिकार

किसी देश की गरिमा उसकी भौतिक उपलब्धियों से नहीं आँकी जाती, वास्तविक सम्पदा तो वहाँ के चरित्रवान् एवं आदर्शवादी नागरिक ही होते हैं। ये ही वास्तव में बहुमूल्य मणि–माणिक्य हैं। सच्ची समृद्धि इसी रत्नराशि की बहुलता पर निर्भर है। सम्पन्नता धन पर आधारित नहीं हैं, शक्ति की माप आयुधों से नहीं की जाती है। किसी राष्ट्र का गौरव उसके लौह नागरिक ही होते हैं। किसी समय भारत विश्व का मुकुटमणि था। इसमें उसके अर्थ–साधन कारण नहीं थे, उसकी संस्कृति और जीवनयापन की रीति–नीति ही वह कारण थी, जिससे भारत अपने आप में स्वर्ग–समान संसार को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में अद्भुत योगदान देता रहा। उत्कृष्ट व्यक्ति ही अपने देश, समाज एवं युग को धन्य बनाया करते हैं।

ऊँ विश्वान देव सवितर्दुरितानि परा सुव।

यद् भद्रं तन्न आ सुव।।[1]

इस संसार में असीम और ससीम अथवा अनन्त और सान्त का द्वंद्व है, जिसका अनन्त रूप परमात्मा है तथा सान्त रूप जीवात्मा अथवा मनुष्य है। अनन्त होने के कारण परमात्मा अमृत है तथा सीमाबद्ध होने के कारण जीवात्मा या मनुष्य जन्म–जरा–मरण के बन्धन में जकड़ा हुआ 'मृत' है। 'कठ' और 'ईश' उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य के अन्तस् की स्वार्थी प्रवृत्तियाँ जब समाप्त हो जाती हैं तब वह अमृत बनकर ब्रह्मपद को प्राप्त करता है। वाञ्छाओं और कामनाओं की समाप्ति विद्या और ज्ञान से होती है।[2] वैदिक राजनीतिक आदर्शवाद की सबसे बड़ी विशेषता है व्रतों और नियमों के अनुसार राजकर्म की व्यवस्थापना। राजकीय शक्ति अनियन्त्रित दण्ड–प्रवाह में आनन्द न लेने लगे, अपितु श्रेयों के अनुकूल बने, यह उस समय का विचार था और आज भी समीचीन है। अथर्ववेद में कहा गया है–

प्रजापतिर्विराजीत विराडिन्द्रोऽ भवत् वशी।[3]

---

१. यजुर्वेद – ३०.३
२. कठ और ईशोपनिषद्– २.३.१४
३. अथर्ववेद– ११.१६

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षीत।[४]

राष्ट्र की रक्षा के लिए तपस्या, ब्रह्मचर्य और साधना की आवश्यकता है। आज सर्वत्र राजनीतिक स्वतन्त्रता की धूम मची है। यूरोपीय पुररुत्थान के बाद यह सन्देश मुख्यतः सुनाई पड़ा। आज विश्व में सर्वत्र नैतिक खोखलापन और हाहाकार है। स्वतन्त्रता, भोगवाद, स्वार्थवाद और शोषकवाद में बदल गई है। मानव सभ्यता के भयङ्कर सङ्क्रमण–काल में नैतिक स्वराज्य के मन्त्र का क्रियान्वयन आवश्यक है। आज लोग स्वच्छन्दता की खोज में पागल होकर उस निर्मल नैतिक स्वराज्य के मन्त्र को भूल चुके हैं। जिसमें आत्माभिमुखी परमार्थ–साधक नियमों के अनुसार जीवन–यापन करना ही परम कर्त्तव्य माना गया था। सच्ची नैतिकता से युक्त कर्म–योग तभी व्यक्त होता है जब व्यापक आत्म–कल्याण तथा जन–कल्याण को सामने रखकर सत्कर्म का पालन लेता है।

आधुनिक युग में मनुष्य के अधिकार, कर्त्तव्य तथा स्वराज्य का सन्देश, दयानन्द, तिलक, गाँधी और अरविन्द ने भारत को दिया। ब्रह्मबल और क्षत्रबल का समन्वित क्रियात्मक उदाहरण राम, भीष्म, कृष्ण आदि के चरित्र में प्राप्त होता है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में इस विचार का समर्थन किया है। समाज में सम्यक् राजनीति के लिए ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति दोनों आवश्यक हैं।

आज के प्रतियोगिता वादी सङ्घर्षशील समाज में शान्ति और सुव्यवस्था के लिए नैतिक नियमों को जानना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। केवल राज्यविशेष के संविधान पर पूरा बल देने से मानवता की भावना शिथिल हो जाती है। मनुष्य की नैतिक एकता हमारा उद्देश्य है। यदि कोई अधिनायकवादी या नस्लवादी राज्य मानव–गरिमा या सम्मान का अपहरण करता है तो उसके नियम अवैधानिक घोषित किये जा सकते हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के वातावरण को दूषित न होने देना उसका कर्त्तव्य है। मनुष्य में निहित लोभ, मोह, ईर्ष्या, छल, कपट जैसी भावनाओं की रोकथाम समाज की सर्वोपरि सेवा है।

मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति मानवता है। अतः मानवता का धर्म से गहरा सम्बन्ध है। एक आदर्श समाज में धर्म प्रत्येक मनुष्य के कर्त्तव्यों और अधिकारों का सिद्धान्त है जो समस्त नैतिक कार्यों का दर्पण है। आज का युग पूर्णतः यान्त्रिक हो गया है। वैज्ञानिक उन्नति ने समय की दूरी पर विजय प्राप्त कर ली है। मनुष्य ने वैज्ञानिक उपलब्धियों के सामने घुटने टेक दिये हैं। वैज्ञानिक उपकरणों ने जितनी ही स्थान की दूरी कम की है मानव और मानव की दूरी को उतना ही बढ़ा दिया है। साम्प्रदायिक दंगे, धार्मिक विद्वेष, जातीय सङ्कीर्णताएँ, प्रान्तीय विषमताएं, अहङ्कार सभी विश्व युद्ध के विष को सम्पूर्ण विश्व में फैलाने

लगे हैं।

भारतीय संस्कृति मनुष्य के सन्तुलित जीवन को श्रेष्ठ जीवन मानती है। मानव–स्वभाव के अनेक पहलू हैं जिन्हें एक जीवन–सिद्धान्त में सङ्गठित किया जा सकता है। मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास पुरुषार्थ के माध्यम से होता है, पुरुषार्थ के द्वारा वह विभिन्न कर्त्तव्यों का मनोनिवेशपूर्वक पालन करता है। पुरुषार्थ से मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के साथ ही समाज का भी उत्कर्ष होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये है। इन्हीं के बल पर व्यक्ति अपने कार्य करता है। एक आदर्श समाज के लिये धर्म, अर्थ और काम का अनुसरण इसी आधार पर होना चाहिए। जिससे व्यक्ति के कर्त्तव्य और अधिकार, धर्म के परिवेश में विकसित हो सकें।

भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन में धनार्जन करने की प्रवृत्ति को पुरुषार्थ के अन्तर्गत रखकर मानव–मन की सहज आकाङ्क्षाओं और वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उन्होंने मानव–जीवन को समग्रतापूर्वक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उसे आश्रमों के अन्तर्गत विभाजित किया था। उन्होंने अत्यन्त मनोनिवेशपूर्वक मानव की कार्य–पद्धतियों का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके जीवन के मूल कर्त्तव्यों का विभाजन किया था।

भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन में परिश्रम, कर्त्तव्य–परायणता, बौद्धिक धार्मिकता और आध्यात्मिकता का योग था। इसीलिए उन्होंने समष्टि रूप में जीवन की व्याख्या की। उनके अनुसार जीवन का लक्ष्य केवल भोग और जीना ही नहीं है, बल्कि योगमय आदर्शात्मक आध्यत्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की ओर प्रवृत्त होना भी है। इस दृष्टि से आश्रम–व्यवस्था का दर्शन प्राचीन व्यवस्थाकारों के अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है जिसमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक, कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय है।

मानवाधिकारों का एक प्रमुख पहलू शिक्षा है जिसके द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। इस विकास–क्रम में सामाजिक और राष्ट्रीय मूल्य उसके व्यक्तित्व में समवेत होते हैं। शिक्षा द्वारा आर्थिक उत्पादन में दो प्रकार से सहायता मिलती है। एक तो श्रमिकों का प्रत्यक्ष रूप से प्रशिक्षण होता है तथा इससे उनके व्यक्तित्व का समग्र विकास होता है, जिससे उनकी कार्य–कुशलता में वृद्धि होती है।

आधुनिक युग में आर्थिक विकास के लिए अनुसन्धानों की आवश्यकता पड़ती है। शिक्षा व्यक्ति में व्यापक दृष्टिकोण उत्पन्न करती है जिससे मनुष्य अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहता है।

सभी प्रकार की शासन–व्यवस्थायें अपनी नींव मजबूत करने के लिए शिक्षा का आश्रय लेती हैं। भारत में जिस शिक्षा का स्वरूप अंग्रेजों ने निश्चित किया था उसका मुख्य ध्येय राज–काज संभालने वाले योग्य कर्मचारियों को तैयार करना था। परन्तु महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा का जादू प्रत्यक्ष रूप से दिखाया था। आज उन्हीं के शिक्षा–दर्शन के अनुसार हम अपनी शिक्षा व अधिकारों के प्रति सचेत हैं।

सुदीर्घ काल तक भारत में शिक्षा से तात्पर्य वैदिक शिक्षा से ही था तथा यज्ञ में सम्मिलित होना बिना किसी लिङ्ग–भेद के शिक्षा ग्रहण करने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। वैदिक युगीन स्त्री–शिक्षा उच्चतम शिखर पर थी। वह पुरुषों के समक्ष भेदभाव रहित शिक्षा सुदीर्ध काल शिक्षा प्राप्त करती थी। वह बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी थी।

मनु ने भी कहा है कि बालिकाओं के लिए उपनयन–संस्कार अनिवार्य है। आठवीं शती तक के स्मृतिकारों ने स्वीकार किया है कि पूर्वकाल में बालिकाओं का उपनयन संस्कार होता था।[५] प्राचीन समय में परिवार ही एकमात्र शिक्षण संस्था थी। स्मृतिकार यम ने कहा है कि बालिकाओं को निकट सम्बन्धी ही शिक्षा प्रदान करें।[६]

वैदिक–काल में नारी का स्थान नर के समान ही श्रेष्ठ था। उसे पुरुष के समान ही धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। ऋग्वेद और अथर्ववेद नारी के अधिकार एवं कर्त्तव्य की व्याख्या करते हुए कहते है कि –'पत्नी के साथ बैठकर स्रुवा (चम्मच) लेकर यज्ञ करे।[७] अन्य मन्त्रों में भी बताया गया है कि स्त्री प्रतिदिन घी और सामग्री लेकर प्रातः सायं यज्ञ करे।[८] सामूहिक यज्ञों में स्त्रियाँ जाती थीं।

पत्नी के अभाव में उचित विधि–विधानों द्वारा यज्ञ करना सम्भव नहीं रहता था, इसलिए ब्राह्मणकालीन समाज में पत्नीहीन व्यक्ति को यज्ञ का अधिकारी नहीं माना जाता था। अथर्ववेद में भी स्पष्टतः स्त्रियों को यज्ञ की अधिकारिणी कहा गया है। वैदिक समाज में कन्याओं का उपनयन संस्कार होने के पश्चात् वह वैदिक शिक्षा की अधिकारिणी होती थी तथा यज्ञ सम्पन्न करने का अधिकार उन्हें प्राप्त था। इनमें विश्ववारा का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। वह प्रातःकाल स्वयं ही यज्ञ प्रारम्भ कर

---

४. अथर्ववेद– ११.१७

५. पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते – मनुस्मृति–२.६६

६. पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः।

७. ऋग्वेद – १.८३.३

८. तत्रैव– ७.१.६

देती थी।[९]

Some sacrifices like Rudrayaga and Sitayaga continued to be performed by women alone and when the husband was out of the service of the sacrificial fire continued to be entrusted to the life.

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि २०० ई०पू० तक नारियों को वेदाध्ययन और यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त था।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक ओर जहाँ सामान्य धर्म अथवा नीति का पालन समाज के सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक समझा गया है। समाज में सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति के कर्त्तव्य पृथक्–पृथक् हैं। यह कर्त्तव्य–विभाजन गुण और स्वभाव के आधार पर अधिकार–भेद पर अवलम्बित हैं। सामाजिक अधिकारों और कर्त्तव्यों के साथ–साथ विविध अधिकारों और कर्त्तव्यों का भी विधान प्राचीन काल में था।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि नैतिक जगत् में भारत की जो देन है वह विस्तृत और बहुमूल्य है। भारतीय–समाज में संस्कारों का प्रचलन वैदिक–युग से ही रहा है। इसका वर्णन सूत्र–साहित्य एवं स्मृतियों में विस्तृत रूप से मिलता है। इन संस्कारों में विवाह एक प्रमुख संस्कार है जिससे संस्कृत होकर द्विजाति वेद, लोक, प्रजा, धर्म इन चार भावों की कृत्कृत्यता सम्पादन करने में समर्थ होता है। बिना विवाह के न तो वेद–मूलक यज्ञ का अधिकारी है, न उसकी लोकप्रतिष्ठा है, न प्रजा, 'सन्तान' समृद्धि होती है और न धर्म–संग्रह है। इस प्रथा का उपक्रम स्वयं प्रजापति से हुआ है। विवाह के उद्देश्य धर्म, प्रजा (सन्तान) बताये गये हैं। विवाह स्त्री और पुरुष को एक विशेष नियम एवं विधि के अन्तर्गत यौन–सम्बन्धों के लिए मान्यता प्रदान करती है। तत्पश्चात् उनके विभिन्न अधिकारों को आधार प्रदान करती है। वेल्टरमार्क के अनुसार, 'विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ जुड़ने वाला वह सम्बन्ध है जो ऐसी प्रथा अथवा कानून द्वारा स्वीकार किया जाता है जिसमें दोनों पक्षों और उनसे उत्पन्न होने वाली सन्तानों के अधिकार और कर्त्तव्य समाविष्ट होते हैं।[१०] हिन्दू विवाह की दो विशेषताएँ मुख्य हैं– १. प्रथाओं का महत्त्व, २. पति–पत्नी के अधिकार और कर्त्तव्य । विवाह के साथ सामाजिक स्वीकृति प्रायः वैधानिक और धार्मिक कृत्य के रूप में होती है। इसमें दो विषय–लिंगी मानव को पारस्पकि यौन–सम्बन्ध तथा इससे सम्बन्धित अन्य सामाजिक सम्बन्ध को स्थापित करने का अधिकार प्रदान करती है।[११]

---

९. ऋग्वेद–५.२८.१

१०. वेस्टरमार्क, द हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरेज, १ पृ. २६

११. मजूमदार एण्ड मदन, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु एन्थ्रोपॉलाजी, पृ. ४१६

विवाह–संस्कार के माध्यम से मनुष्य अपने समस्त अपेक्षित कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। ऋग्वेद (८/३६) के अनुसार विवाह का उद्‌देश्य गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके देवताओं की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करना और सन्तानोत्पत्ति करना है। धर्म का पालन पुत्र की प्राप्ति एवं रति–सुख विवाह का प्रधान उद्‌देश्य है।[१२] विवाह द्वारा ही स्त्री धारामयी होकर कैवल्य की अधिकारिणी बनती है।[१३] इसके द्वारा स्त्री–पुरुष की अनियन्त्रित काम–वृत्ति नियन्त्रित होकर दोनों को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक प्रगति प्रदान करती है।

मनु, यम आदि स्मृतिकारों के अनुसार उत्कृष्ट, अभिरूप और योग्य वर मिल जाए तो कन्या की अवस्था विवाह–योग्य न होने पर भी, उसका विवाह कर देना चाहिए। आगम–कालीन समाज में शिल्प एंव कला का ज्ञान वर की प्रमुख योग्यता मानी जाती थी। इसका कारण था तत्कालीन समाज में जीविकोपार्जन करना पुरुष–वर्ण का कर्त्तव्य था तथा उसे वही व्यक्ति कर सकता था जिसे शिल्पादि का ज्ञान होता था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृत–वाङ्मय में मनुष्य के अधिकार एवं कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

***

---

१२. मनु. ६.२८

१३. कर्ममीमासा–दर्शन, धर्मपादसूत्र, ५६



साधारण संस्करण रु. ६००.००